बेनीपुरी-ग्रंथावली

दूसरा खंड

नाटक :: एकांकी :: रूपक

प्राप्ति-स्थान

बेनीपुरी-प्रकाशन

पटना, ६

मूल्य

प्रति खंड १२॥)

पूरी ग्रंथावली का १००) अग्रिम

मुद्रक

संजीवन प्रेस

दीघा घाट

पटना

प्रथम संस्करण

फरवरी १९५५

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

अनन्य सेवक, संस्थापक और सभापति

निवेदन

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी—यह नाम हिन्दी-ससार के कोने-कोने मे एक विशेष प्रकार की साहित्य-साधना और भाषा-शैली के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है।

लगभग एक दर्जन मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्र-पत्रिकाओ के जन्मदान, सम्पादन और सचालन के अतिरिक्त, राजनीति के सघर्षमय जीवन में रहते हुए और आठ वर्षों तक जेल की चहारदीवारियो में बद रखे जाने पर भी, बेनीपुरीजी ने हिन्दी-साहित्य को जितने अनमोल रत्न दिये है, उनकी सख्या और विशिष्टता पर ध्यान देने से महान आश्चर्य होता है!

लगभग सत्तर पुस्तकें उनके नाम की छाप लेकर आज भी प्रचलित है, यद्यपि उन्होंने कितनी ही पुस्तकें भिन्न-भिन्न उपनामो से भी लिखी है और कुछ प्रकाशित रचनायें समय से पीछे भी पड गई है, जिनकी चर्चा भी फिजूल है।

बच्चो के लिए छोटी-छोटी मनोरजक पुस्तको से लेकर साहित्य और राजनीति को उन्होंने कितने ही ऐसे ग्रथ दिये है, जो अपनी मौलिकता और प्रमाणिकता के लिए सुधि-समाज से शतश प्रशसायें प्राप्त कर चुकी है। विषयो की विभिन्नता की दृष्टि से देखिए, तो और भी आश्चर्य होता है—नाटक, एकाकी, उपन्यास, कहानी, जीवनी, सस्मरण, भ्रमण, निबन्ध, विश्लेषण, जिस विषय पर बेनीपुरीजी की लेखनी चली, उसने कमाल दिखलाया। अपने अनूठे शब्दचित्रो के लिए तो बेनीपुरीजी को समूचे हिन्दी-ससार से सर्वश्रेष्ठता का प्रमाणपत्र मिल ही चुका है।

किन्तु बेनीपुरी-साहित्य के प्रेमियो के लिए दुख की बात यह रही कि उनकी पुस्तके भिन्न-भिन्न प्रकाशको द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानो से प्रकाशित हुई और वे इस तरह बिखरी-बिखरी पडी है कि उनका सकलन तो मुश्किल रहा ही है, उनके परिमाण और गुण का मूल्यांकन भी सम्यक रूप से नही हो पाया है।

इसी अभाव की पूर्ति के लिए आज से चार साल पहले हमने वेनीपुरी-प्रकाशन का जन्म दिया, किन्तु कई कारणवश इस सम्बन्ध में वैसी प्रगति नहीं हो सकी, जैसी हम चाहते थे। कुछ फुटकल पुस्तकों के प्रकाशन तक हम सीमित रहे; यद्यपि हिन्दी-संसार से हमें प्रोत्साहन यथेष्ट मिला।

किन्तु, अब परिस्थिति ऐसी आ गई है कि हम इस ओर ठोस कदम बढ़ा सके और जिस महान आयोजन का श्रीगणेश हम करने जा रहे हैं, निस्सन्देह, हिन्दी में यह एक अभिनव प्रयास है।

हम वेनीपुरीजी की सारी रचनाओं को ग्रंथावली के रूप में प्रकाशित करने जा रहे हैं। यह ग्रंथावली दस खंडों में अलग-अलग जिल्दों में इस प्रकार प्रस्तुत की जायगी—

पहला खंड

शब्दचित्र : कहानियाँ : उपन्यास

१. माटी की मूरतें
२. पतितों के देश में
३. लाल तारा
४. चिता के फूल
५. कैदी की पत्नी
६. गेहूँ और गुलाब

दूसरा खंड

नाटक : एकांकी : रूपक

१. अम्बपाली
२. सीता की माँ
३. संघमित्रा
४. अमर ज्योति
५. तथागत
६. सिंहल-विजय
७. शकुन्तला
८. राम-राज्य
९. नेत्रदान
१०. गाँव के देवता
११. नया समाज
१२. विजेता

तीसरा खंड

संस्मरण : निबंध : भाषण

१. जंजीरें और दीवारें
२. मुझे याद है !
३. मेरी डायरी
४. नई नारी
५. सुनिये !
६. मशाल
७ वन्दे वाणी विनायकौ
८ कुछ मैं, कुछ वे

चौथा खंड

बाल-साहित्य : पहली जिल्द

१. अमर कथायें मनु से गांधी तक (दो भाग)
२. अमर कथायें : लाओजे से लेनिन तक (दो भाग)
३. हम इनकी संतान हैं (दो भाग)
४. पृथ्वी पर विजय (दो भाग)
५ प्रकृति पर विजय (दो भाग)
६. संसार की मनोरम कहानियां (दो भाग)
७ इनके चरण चिह्नों पर

पाँचवाँ खंड

बाल-साहित्य : दूसरी जिल्द

१. बगुला भगत
२. सियार पाँड़े
३ बिलाई मौसी
४. हिरामन तोता
५. बेटे हों तो ऐसे
६. बेटियां हों तो ऐसी
७. शिवाजी
८. गुरु गोविन्द सिंह
९. अमृत की वर्षा
१०. बच्चों के बापू
११. जीव-जन्तु
१२. अनोखा संसार
१३. झोपड़ी से महल
१४. सतरंगा धनुष

छठा खंड

राजनीति : जीवनियां

१. कार्ल मार्क्स
२. रोजा लुक्जेम्बुर्ग
३. रूस की क्रांति
४. लाल चीन
५. जयप्रकाश : जीवनी
६. जयप्रकाश की विचार-धारा

सातवाँ खंड

साहित्य : टीकायें

१. विद्यापति की पदावली
२. रवीन्द्र-भारती
३. इकबाल
४. बिहारी-सतसई
५. ट्रुलिप्स
६. जोश

आठवाँ खंड

यात्रा : भ्रमण

१. पैरों में पंख बांध कर
२. पेरिस नहीं भूलती
३. उड़ते चलो, उड़ते चलो
४. मेरे तीर्थ

नवाँ खंड

दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं में लिखे अग्रलेख और टिप्पणियाँ !

दसवाँ खंड

ग्रंथावली के प्रकाशन के मध्य की रचनायें

प्रति खड में डिमाई अठपेजी के ५०० से ७०० पृष्ठ होगे। वढिया कागज पर मोनो की सुन्दर छपाई। हर खड सुप्रसिद्ध कलाकारो द्वारा सचित्र। रेक्सिन की पक्की जिल्द, मनोहर तिरंगा आवरण। ये दसो खड किसी के भी अध्ययन-कक्ष के लिए श्रृंगार सिद्ध होगे।

प्रति खड का मूल्य १२॥) होगा और पूरे सेट का १२५)। किन्तु, जो लोग अग्रिम स्थायी ग्राहक वन जायेंगे, उन्हें १००) मे ही यह अनमोल प्रकाशन उपलब्ध हो सकेगा।

हिन्दी में अभी तक इस प्रकार का प्रकाशन नही हो सका है। जिस तरह वेनीपुरीजी की लेखनी ने हिन्दी-साहित्य में नई लकीर खीची है, हिन्दी-प्रकाशन में भी एक नया आदर्श उपस्थित करने का प्रयास हम करने जा रहे हैं। वहुत वडी सख्या मे इस तरह का प्रकाशन किया नही जा सकता; इसलिए हमने इन खडो को परिमित सख्या में ही प्रकाशित करने का निर्णय किया है। अत: साहित्य-प्रेमियो को चाहिए कि शीघ्र स्थायी ग्राहको में नाम लिखा कर अपनी प्रतियाँ सुरक्षित करा ले। इससे हमारा उत्साह भी वढेगा और हम इस महान आयोजन को शीघ्र ही पूरा कर सकेंगे।

पहले खंड के प्रकाशन के पूर्व तथा वाद में हमें हिन्दी संसार से जैसा सहयोग मिला है; उससे हमारी यह आशा पुष्ट हुई है कि हम इस योजना को शीघ्र ही पूर्ण रूप से कार्यान्वित कर सकेंगे। यह सहयोग देने वाले सज्जनो के हम हार्दिक कृतज्ञ है और उनके नाम अन्यत्र हम सादर प्रकाशित कर रहे है।

वसंत-पंचमी, माघ
२०११ वि०

—प्रकाशक

पुनश्च

लीजिये, बेनीपुरी-ग्रन्थावली का यह दूसरा खंड। इसमें बेनीपुरी जी के नाटक, एकांकी और स्केच संगृहीत हैं। इस खंड में कुल मिला कर बारह पुस्तकें हैं, यद्यपि पहली सूचना में सात पुस्तकें देने का ही निर्देश था।

अपने शब्दचित्रों की तरह बेनीपुरीजी अपने नाटकों के लिए भी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। स्वतंत्र भारत ने जो प्रथम 'राष्ट्रीय नाटक महोत्सव' दिल्ली में आयोजित किया, उसमें 'अम्बपाली' को अभिनीत होने का सौभाग्य मिला। नाटक के क्षेत्र में बेनीपुरीजी की सफलता का इससे बढ़ कर और क्या प्रमाण चाहिये ?

इस खंड के प्रकाशित होने में कुछ देर हुई, इसके लिए हम अपने उन उदार स्थायी ग्राहकों से क्षमा चाहते हैं, जिनकी कृपा के बल से ही ग्रंथावली का प्रकाशन सम्भव हो सका है।

प्रथम खंड के प्रकाशन के बाद जिन सज्जनों ने स्थायी ग्राहक बन जाने की कृपा की, तथा इस कार्य में जिन्होंने सहायता पहुँचाई, उनकी नामावली इस खंड के अन्त में हम सादर प्रकाशित कर रहे हैं।

इस खंड के साथ ही हम बेनीपुरी-प्रकाशन की एक शाखा मुजफ्फरपुर में खोल रहे हैं। आशा है, उत्तर बिहार के साहित्य-प्रेमी सज्जनों की सेवा हम इस शाखा-द्वारा अच्छी तरह कर सकेंगे।

बसंत-पंचमी, माघ
२०११ वि०

देवेन्द्र कुमार बेनीपुरी
व्यवस्थापक

बेनीपुरी :: परिचय

जन्म-तिथि :: अज्ञात, सम्भवतः पौपसंवत् १९५८; जनवरी १९०२ ई०

जन्म-स्थान :: बेनीपुर; थाना कटरा; जिला मुजफ्फरपुर; बिहार।

परिवार :: पिता, श्री फूलवन्त सिंह; पितामह, श्री यदुनन्दन सिंह। साधारण किसान। बचपन में ही माता-पिता का स्वर्गवास।

शिक्षा :: अक्षरारम्भ, बेनीपुर। प्राथमिक शिक्षा; बंगीपचरा, ननिहाल में। फिर भिन्न-भिन्न स्कूलो में अध्ययन करते हुए जब मैट्रिक में ही पहुँचे थे, असहयोग-आन्दोलन के कारण १९२० में नियमित शिक्षा का परित्याग।

साहित्य-प्रेम :: तुलसीकृत रामचरित मानस के पठन-पाठन से साहित्य की ओर रुचि। कविता की ओर प्रारम्भिक प्रवृत्ति। प्राचीन काव्यो का स्वतः अध्ययन। १५ वर्ष की उम्र में ही हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विशारद। इसके पहले से ही पत्र-पत्रिकाओ में कवितायें।

पत्र-कारिता :: १९२१—'तरुण भारत' (साप्ताहिक) के सहकारी सम्पादक।

१९२२—'किसान मित्र' (साप्ताहिक) के सहकारी सम्पादक।

१९२४—'गोलमाल' (साप्ताहिक) के सहकारी सम्पादक।

१९२६—'बालक' (मासिक) के सम्पादक।

१९२९—'युवक' (मासिक) के सम्पादक और संचालक।

१९३०—'क़ैदी' (हस्तलिखित) का सम्पादन, हजारीबाग जेल में।

बिहार सोशलिस्ट पार्टी (१९३१) के संस्थापकों में। अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की पहली कार्य-समिति के सदस्य। सोशलिस्ट पार्टी (बिहार) के पार्लियामेन्टरी बोर्ड के अध्यक्ष १९५०।

बिहार प्रान्तीय किसान सभा के सभापति। भारतीय किसान सभा के उप-सभापति। ज़मीन्दारी उन्मूलन का नारा सबसे पहले दिया।

बिहार-राष्ट्रभाषा के संचालक-मंडल के सदस्य।

वर्त्तमान : : 'नई धारा' (मासिक) के सम्पादक।
पता : : बेनीपुरी प्रकाशन; पटना ६।
घर का पता : : ग्राम बेनीपुर, पो० मरथुआ, जिला मुजफ्फरपुर (बिहार)

अनुक्रमणिका

विहार सोशलिस्ट पार्टी (१९३१) वे
में। अखिल भारतीय कांग्रेस सोशलिस्
पहली कार्य-समिति के सदस्य। सो
(विहार) के पार्लियामेन्टरी वोर्ड के अ

विहार प्रान्तीय किसान सभा
भारतीय किसान सभा के उप-सभाप
उन्मूलन का नारा सबसे पहले ि

विहार-राष्ट्रभाषा के संचालक

वर्त्तमान : : 'नई धारा' (मासिक) के सम्पा
पता : : वेनीपुरी प्रकाशन, पटना ६
घर का पता : : ग्राम वेनीपुर, पो० भरथुआ,
(विहार)

अम्बपाली

[नाटक]

भारतीय नटराज

भाई पृथ्वीराज कपूर

और

उनकी अन्यतम

कलाकृति

पृथ्वी थियेटर्स

को

सप्रेम

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

मेरी अम्बपाली

अपनी यह पहली नाट्य-कृति हिन्दी-पाठको के निकट रखते हुए मुझे सकोच नही हो रहा है—क्योकि पुस्तकाकार प्रकाशन के पूर्व ही इसे इतनी प्रशसा और प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी है कि स्वय आश्चर्यचकित हूँ।

अम्बपाली बौद्धयुग की एक अतिप्रसिद्ध नारी है। उसको लेकर भारतीय भाषाओ मे कितनी ही रचनाये हुई है—काव्य, कहानी, नाटक, उपन्यास के रूप मे। किन्तु मैने इस रचना-द्वारा अपना नाम सात सवारो मे लिखाने की कोशिश नही की है।

क्योकि, यह मेरी आदत मे शामिल नही है। अपने पैरो का वज़न और वकत मुझे मालूम है, लेकिन, किसी के पदचिह्न-मात्र पर चलना मै कलाकार की मौत मानता हूँ।

बचपन मे ही मेरा झुकाव नाटक-रचना की ओर हुआ था। हाई स्कूल के चौथे या तीसरे वर्ग मे ही मैने एक नाटक लिखा था, लगोटिया यारो को सुनाया था, उन्हे पसन्द आया, उसके खेलने का आयोजन भी हुआ और एक मारवाडी दोस्त ने उसे छपवाने के लिए चार रुपये का चदा भी उगाहा था।

लेकिन, बाद मे मै कवि बन गया, तब लेखक हुआ, फिर पत्रकार बनकर रह गया। किन्तु हजारीबाग सेट्रल जेल के निश्चिन्त एकान्त मे जब एक दिन बादल घिर आये कि अचानक मेरा नाटककार जग उठा'

अपनी अम्बपाली की सुन्दरता और पूर्णता पर मुझे पूर्ण सन्तोष है, अम्बपाली और वैशाली की आत्मा के चित्रण में, अपने जानते, मैंने कोई त्रुटि नहीं आने दी है। हाँ प्रथम नाट्य-रचना होने के कारण इसमें टेक्निक की त्रुटियाँ हो सकती हैं—जिनके लिए क्षमा माँगने की जरूरत भी मैं महसूस नहीं करता, क्योंकि मेरे सहकर्मियों ने क्षमाप्रार्थना को भी एक बाजारू माल बना रखा है।

आशीर्वाद दीजिये, कुछ ऐसी ही नाट्य-कृतियाँ मैं आपके सामने उपस्थित करने में समर्थ हो सकूँ।

बेनीपुर
उमड़ते सावन की
एक बरसती अध-रतिया
१९४७

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

पुनश्च

मेरी यह 'अम्बपाली' कितनी सौभाग्यशालिनी निकली! सात वर्षों में इसके कई संस्करण निकल चुके। इस नये संस्करण में एक छोटा-सा परिवर्द्धन, कुल पाँच पंक्तियों का, किया गया है। इसकी आवश्यकता थी। अजातशत्रु से मिलने पर, जब बात बहुत बढ़ रही थी, अम्बपाली ने उसे एक छोटी-सी तस्वीर दिखाई। वह तस्वीर किसकी थी? उस समय का साहित्य कहता है, अम्बपाली के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अजातशत्रु का पिता बिम्बसार भी उसकी रंगशाला में चुपचोरी प्रणय की भीख लेने गया था! पिता की इस तस्वीर को देखकर भी क्या अजातशत्रु वहाँ टिक सकता था?

और, अपने लिए पात्र के रूप मे अम्बपाली का चुनाव भी मेरे लिए स्वाभाविक ही था। जहाँ अम्बपाली का जन्म हुआ था, उसी भूमि ने मुझे भी उत्पन्न किया है और एक पुरातत्त्वज्ञ ने तो यहाँ तक कह डाला है कि वृज्जियो के आठ कुलो मे शायद मेरा वंश है, जिनकी सघशक्ति ने वैशाली को महानता और अमरता प्रदान की थी।

किन्तु, क्या मेरी यह अम्बपाली पच्चीस सौ साल पहले रची गई विधाता की अम्बपाली का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकती है ?

विधाता की किसी कृति को जब कलाकार अपनी कलाकृति के लिए चुनता है, तब उसके कलात्मक रूप देने की प्रक्रिया मे एक अजीब बात हो जाती है। विधाता की कृति धीरे-धीरे विलीन होने लगती है और समाप्त करते-न-करते कलाकार आश्चर्य से देखता है, एक दूसरी ही नवीन आकृति उसके सामने आ खड़ी है!

और, यह कौन कहे कि सुन्दर कृति किसकी—विधाता की या कलाकार की ? वह, जो पचास या सौ साल जीकर धूल में मिल गई, विधाता की वह शकुन्तला अच्छी, या दो हजार साल के बाद भी जो जीवित है, कालीदास की वह शकुन्तला अच्छी!

पुरातत्त्वज्ञ मेरी इस अम्बपाली को इतिहास के पन्नो मे अंकित अम्बपाली से मिलावे, घटनाओ के तारतम्य में कुछ त्रुटियाँ पावे और मुझे गालियाँ भी दे ले; किन्तु मै कहूँ, मुझे तो मेरी अम्बपाली ही सच्ची अम्बपाली प्रतीत हुई है। सच्ची और अच्छी भी—क्योकि सत्य ही सुन्दर और सुन्दर ही सत्य है न!

अब भी वे दिन भूले नही है, जब हजारीबाग सेन्ट्रल जेल के वार्ड न० १ के सामने, सघन पत्तियो वाली एक आम्र-विटपी के तने से उँगठ कर मै अपनी अम्बपाली की रचना किया करता था—सामने फूलो से लदे मोतिये और गुलाब के झाड थे, ऊपर आस्मान पर बादलो की घुडदौड़ होती थी और इधर मेरी लेखनी कागज पर घुडदौड करती थी। दिन भर मै जो कुछ रचता, शाम को मित्रो को सोल्लास सुनाता। उस पाषाणपुरी में मेरी इस कुसुम-तनया की अलौकिक चरितावली उनके शुष्क हृदयो को हरा-भरा और रगीन बना देती और वे मुझपर और मेरी इस कृति पर प्रशसा की पुष्प-वृष्टि करने लगते! बेचारे विधाता को ऐतिहासिक अम्बपाली की सृष्टि करने में ऐसा सुन्दर वातावरण और ऐसा निराला प्रोत्साहन कहाँ प्राप्त हुआ होगा ?

पात्र-पात्रियाँ

पात्रियाँ

अम्बपाली

वैशाली की राजनर्तकी

मधूलिका

अम्बपाली की सहेली

सुमना

अम्बपाली की मौसी

पुष्पगंधा

वैशाली की भूतपूर्व राजनर्तकी

चयनिका

अम्बपाली की परिचारिका

पात्र

अरुणध्वज

अम्बपाली का ग्रामीण प्रेमी

भगवान बुद्ध

ससार प्रसिद्ध धर्म प्रचारक

आनन्द

बुद्ध के प्रधान शिष्य

चेतक

वैशाली के महामात्य

अजातशत्रु

मगध के सम्राट

सुनीध

मगध-सम्राट का सखा-मत्री

वस्सकार

मगध का प्रधान मत्री

अश्वसेन

वैशाली का नागरिक

वसुवधु

वैशाली का नागरिक

पात्र-पात्रियाँ

पात्रियाँ

अम्बपाली
वैशाली की राजनर्तकी

मधूलिका
अम्बपाली की सहेली

सुमना
अम्बपाली की मौसी

पुष्पगंधा
वैशाली की भूतपूर्व राजनर्तकी

चयनिका
अम्बपाली की परिचारिका

पात्र

अरुणध्वज
अम्बपाली का ग्रामीण प्रेमी

भगवान बुद्ध
संसार प्रसिद्ध धर्म प्रचारक

आनन्द
बुद्ध के प्रधान शिष्य

चेतक
वैशाली के महामात्य

अजातशत्रु
मगध के सम्राट

सुनीध
मगध-सम्राट का सखा-मंत्री

वस्सकार
मगध का प्रधान मंत्री

अश्वसेन
वैशाली का नागरिक

वसुवधु
वैशाली का नागरिक

अम्बपाली

पहला अंक

१
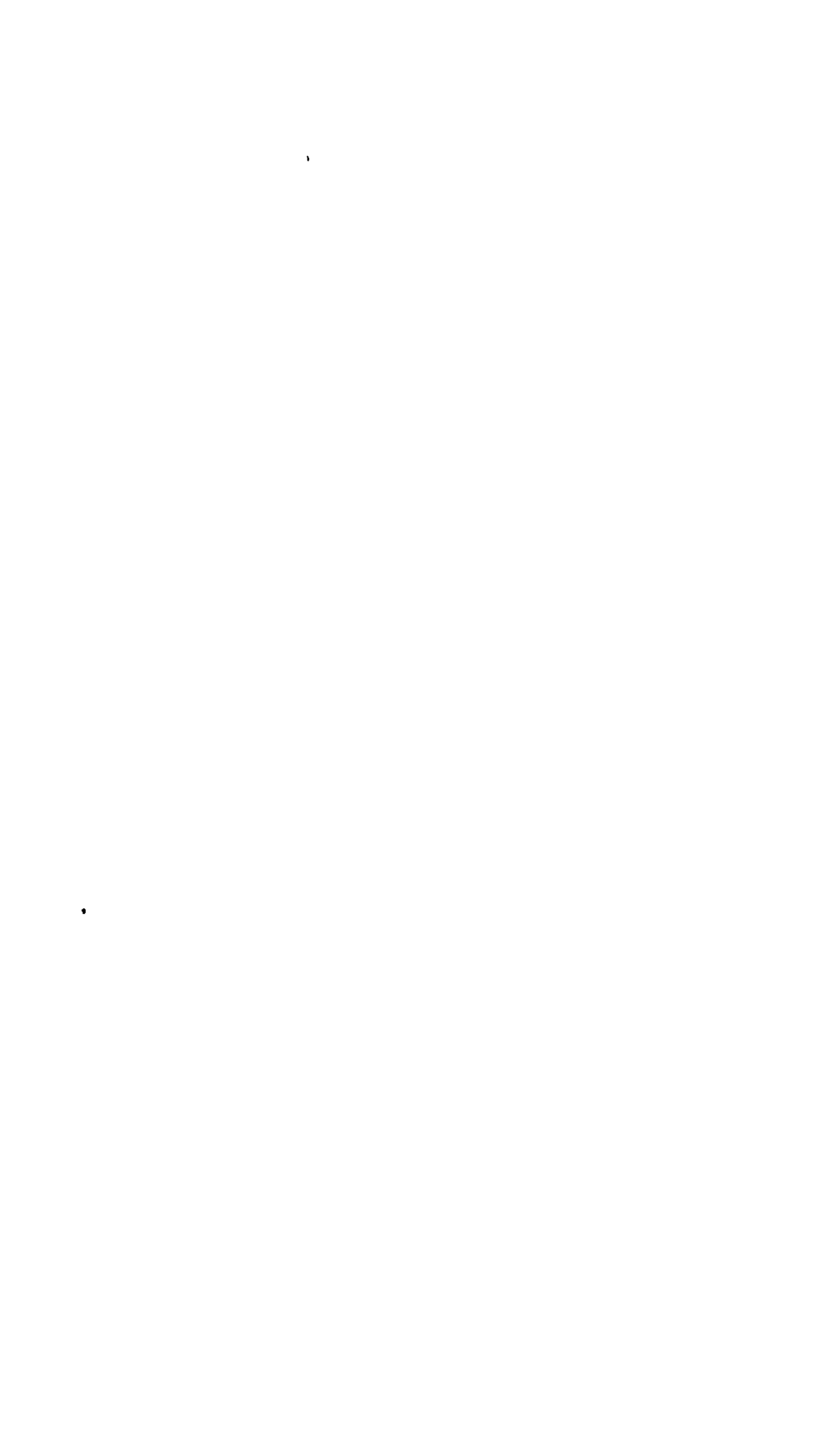
[एक विस्तृत सघन अमराई—आम की डाल-डाल मजरियो से लदी, झुकी, भौंरे जिनपर गुजार कर रहे, वसती हवा जिनसे खेलवाड कर रही—आम के पेडो के बीच की जमीन मे सरसो की फूली हुई क्यारियाँ—वृक्षो से लिपटी लताओ से जहाँ-तहाँ बन गई कुजे—सूरज की किरणो से अभी सोना नही गया है—मजरियो, पत्तो, फूलो पर की ओस की बूँदे उसके स्पर्श से चमचम कर रही—चिडियो की चहचह मे दूर से सुनाई पडनेवाली कोयल की कुहू—

अमराई का मध्य—एक फैला हुआ आम का वृक्ष—उसकी एक मोटी डाल से एक झूला लटक रहा—जहाँ-तहाँ कमाचियो के बने पिजडे झूल रहे—

एक किशोरी झूलेवाले वृक्ष की ओर आती दिखाई पडती है—कमर मे प्राचीन ढग का हरा परिधान, जो मुश्किल से घुटनो के नीचे पहुँचता है—कमर के ऊपर के हिस्से मे सिर्फ स्तनो को ढकनेवाली पतली कचुकी, हरे रग की ही—गले मे फूलो की माला, जो कमर तक लटक रही—

बालों के जूड़े में सरसों के फूल खोंसे—सुन्दर सुडौल गोरी बाँहों में सिर्फ फूलों के ही कंगन—हाथ में आम की मंजरियों का गुच्छा—

किशोरी उस पेड़ के नजदीक पहुँचती है—झुकी डालों की मंजरियों को चूमती है—उसे देखते ही पिंजड़ों से पंछी चहचहा उठते हैं—उन पिंजरबद्ध पंछियों के निकट जाकर उन्हें दुलराती है—मुँह से सीटी देती हुई एक श्यामा के पिंजड़े को लेती झूले के नजदीक आती है—धीरे-धीरे झूलती हुई, श्यामा की ओर देखती, वह गाती है]

मेरी श्यामा ने वंशी फूँकी,

कोइलिया क्यों कूकी ?

कुहरे की झीनी चदरिया में सोई

धरती थी ऊँघ रही सुधि खोई

किसने अचानक उसे गुदगुदाया

चारों तरफ छा गई जैसे माया—

सरसों की क्यारियाँ फूलीं

आमों में मंजरियाँ झूलीं,

भौंरों की भामिनियाँ भूलीं

पुरवाई मस्ती में यों सनसनाई—

कि भूली हुई बात फिर याद आई, कलेजे में हूकी,

कोइलिया कूकी,

मेरी श्यामा ने वंशी फूँकी ।

[जब किशोरी गा रही, उसी रंगरूप वेशभूषा की दूसरी किशोरी बगल से आती है—पहली किशोरी गाने की तन्मयता में उसे नहीं देखती—वह धीरे-धीरे, दबे पाँव आम के पेड़ के नजदीक आती और उसकी डाल पर चढ़ जाती है—ज्योंही गाना खत्म होता है, वह कोयल की बोली का अनुकरण कर कुहू-कुहू बोल उठती है—संगीतमग्ना किशोरी चकित होकर पेड़ की ओर देखती है—फिर झूले से उठकर आगे बढ़ती है—सहसा डाल की ओर देखकर हँस पड़ती है।]

पहली किशोरी—ओहो मधु ! उतर आओ ! वही मै कह रही थी, यह कोयल तो हो नही सकती । उतर, उतरती है या

दूसरी किशोरी—या ! क्या ? गा गा—'मेरी श्यामा ने वशी' · वाह री तेरी श्यामा !

पहली किशोरी—उतरती है, या ढेले फेकूँ ?

दूसरी किशोरी—ढेले उनपर फेक, जिनकी 'भूली हुई बात फिर याद आई, कलेजे मे हूकी !' वही ढेले बर्दाश्त करेगे तेरे, मै क्यो ?

पहली किशोरी—नही उतरती ?

दूसरी किशोरी—नही उतरती !

[पहली किशोरी गुस्से मे इधर-उधर ढेले ढूँढती है—फिर हाथ की मजरियो को ही फेंकने लगती है—निशाना चूकता जाता है—ऊपर की किशोरी ठहाके लगाती जाती है—अन्त मे जब वह डाल पर चढने का उपक्रम करती है, दूसरी किशोरी डाल से दोल मारकर जमीन पर आ जाती और झूले पर जाकर झूलती हुई गाती है—'कोइलिया क्यो कूकी मेरी श्यामा ने।' तबतक पहली किशोरी भी उतर आती और झूले के नजदीक पहुँचती है—]

पहली किशोरी—क्यो री, तू मुझे चिढाती क्यो है ?

दूसरी किशोरी—(बिना जवाब दिये वह गाती जाती है)—'कोइलिया क्यो कूकी, मेरी श्यामा ने वशी फूंकी '

पहली किशोरी—तू नही चुप होती !

दूसरी किशोरी—(गाती जाती है) 'क्यो कूकी, मेरी श्यामा ने ..'

पहली किशोरी—(चिढकर उसे झकझोरती हुई) श्यामा की सास !

दूसरी किशोरी—(नाक-भौं चढाती हुई) कोयल की सौत !

[दोनो, एक दूसरे को, आँखे गडा-गडाकर देखती है—देखते-ही-देखते दोनो ठठाकर हँस पडती और एक दूसरी से लिपट जाती है—लिपट जाती, एक दूसरी को चूमती—फिर दोनो झूले पर बैठ, पैर से धीरे-धीरे पेग देती, परस्पर आहिस्ता-आहिस्ता बाते करती है—

इनमे पहली किशोरी है अम्बपाली—दूसरी उसकी सखी मधूलिका और यह है आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की बात—आज जहाँ मुजफ्फरपुर का जिला है, वहाँ, उत्तर-बिहार मे तब वृज्जियो का प्रजातन्त्र था, जो सघराज्य कहलाता था—ये दोनो वृज्जि-कुमारियाँ है—]

मधूलिका—अम्बे, आज भोर-भोर तूने कुछ देखा है क्या? या रात मे कोई सपना देखा था?

अम्बपाली—तेरा मतलब?

मधूलिका—मतलब है, तेरे इस गाने से।

अम्बपाली—क्या बिना सपने देखे आदमी कुछ गा नही सकता? और, सच पूछ, तो ऐसी कोई भी रात होती है जिसमे आदमी सपने न देखे या ऐसी कोई भोर आती है जिसमे आदमी कोई रूप न देख पाये?

मधूलिका—लेकिन सपने-सपने मे फर्क होता है और फर्क होता है रूप रूप मे, अम्बे! एक सपना होता है जिसमे आदमी डरकर आँखे खोल देता है और एक सपना ऐसा होता है, जिसमे जग जाने के बाद भी आदमी आँखे मूँद लेता है कि एक बार फिर उसकी कड़ियाँ जोड़ सके! समझी?

अम्बपाली—हूँ।

मधूलिका—यो ही एक रूप होता है जिसको देखकर आँखे मुड जाती या मुँद जाती है और दूसरा रूप होता है, जिसपर नजर पडते ही पलके और बरौनियाँ काम करना छोड देती है, नजरो मे टकटकी बँध जाती है और दिमाग चिल्लाता है, आह, ये आँखे इतनी छोटी क्यो हुई? बडी होती, इन्ही मे उसे रख लेता! समझी?

अम्बपाली—हूँ।

मधूलिका—हूँ। हूँ क्या?

अम्बपाली—यही कि रूप-रूप मे फर्क होता है और फर्क होता है सपने-सपने मे। यही न? लेकिन, एक बात कहूँ मधु, मुझे याद नही कि कभी बुरे सपने भी देखे होऊँ, और मेरी आँखो ने जिसे देखा, सुन्दर ही पाया!

मधूलिका—(आश्चर्यमयी मुद्रा से) अच्छा?

अम्बपाली—हाँ, हाँ, सच कहती हूँ सखि! न जाने क्या बात है या तो कुरूप चीजे मेरी आँखो के सामने आती ही नही, या मेरी नजरे उनका प्रतिबिम्ब ग्रहण नही करती .

मधूलिका—(बात काटकर किंचित मुस्कान से) या तेरी नजर पडते ही कुरूप भी रूपवान हो उठते है?

अम्बपाली—दिल्लगी की बात नही है, मधु! मैंने आजतक दुनिया सिर्फ सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य देखा है—निर्जीव प्रकृति से लेकर

भगवान जागो तक! और सपने? उनकी बात मत पूछ। मधु, आदमी जागना क्यो चाहता है? सोये रहो सपने देखते रहो, क्या इससे भी कोई दूसरी अधिक सुन्दर चीज हो सकती है? जागरण! (उपेक्षा के शब्दो मे)—जागरण आदमी का वरदान है या अभिशाप है!

मधूलिका—आज तुझे यह क्या हो गया है! तू किस सपने के लोक मे है?

अम्बपाली—सपने का लोक! आह, मै हमेशा उसी मे रह पाती, मेरी मधु! जब बच्ची थी, सपने मे देखती—परियो का देश, मणियो का द्वीप, उडनखटोले की सैर! और आजकल? ज्योही आँखे लगी कि मै पहुँच गई उस सुनहली घाटी मे जहाँ इन्द्रधनुष का मेला लगा रहता है, जहा जवानी तितलियो के रूप मे उडती रहती है, या उस देवलोक मे जहाँ सुनहले रङ्गवाले देवकुमार नीलम के पखो-वाली अप्सराओ के अगल-बगल, आगे-पीछे मँडराते फिरते है, या कम-से-कम उस स्वदेश की राजसभा मे, जहाँ कलँगीवाले राजकुमारो की भरमार है—जहाँ नृत्य है, सगीत है, और है (अचानक सिहर उठती है) मधु, मधु, तू क्या ऐसे सपने नही देखती?

मधूलिका—मै देखती या नही देखती, बात मत बहला। बता, तूने रात भी क्या कुछ ऐसा ही सपना देखा है?

अम्बपाली—रात जो देखा, उसकी मत पूछ! उफ्, बिल्कुल अद्-भुत, अपूर्व! उसकी याद मे ही शर्म आती है, सखि!

मधूलिका—शर्म! सपने मे शर्म की कौन-सी बात है री!

अम्बपाली—नही, मधु, जिद न कर। सचमुच उसकी याद से ही मै शर्म मे गडने लगती हूँ।

मधूलिका—(व्यग्य के शब्दो मे) समझी, समझी, तभी तो भोर-भोर यह गीत! आखिर अचानक आकर उसने तुझे गुदगुदा ही दिया 'किसने अचानक गुदगुदाया ' (गाने का व्यग्य करती है)

अम्बपाली—लेकिन, तेरा यह निशाना ठीक नही बैठा, मधु! यह वह बात नही, जिसकी तू कल्पना भी कर सके।

मधूलिका—मेरी कल्पना की रानी! मै, और वहाँ तक पहुँच सकूँ? खैर, बता, तूने क्या देखा?

अम्बपाली—तेरी जिद; अच्छा सुन (वह चकित नेत्रो से इधर-उधर देखती है कि कोई दूसरा तो नही है और फिर धीमे स्वर में कहने लगती है) रात देखा, कही अजीव देश मे पहुँच गई हूँ, जहाँ चारो ओर फूल-ही-फूल है। जिन्हे हम गूलर-पाकर-पीपल कहते है, उनमे भी फूल लगे है—चम्पा के, गुलाव के, पारिजात के। जमीन पर घास-फूस की जगह फूलो की पँखडियाँ विछी है और धूल की जगह पीत पराग विखरा है। हवा मे अनहद सगीत–वातावरण मे अजीव रगामेजी। सामने एक तालाव देखा, जिसमे कमल के सहस्र-सहस्र फूल खिल रहे—लाल, श्वेत, पीत, नील। और, दर्पणोपम निर्मल नील जल! मुझे गर्मी महसूस हो रही थी। क्यो न तालाव मे नहा लूँ? इधर उधर देखा, कोई नही। मैंने झट कचुकी उतार दी, वाह्य परिधान खोलकर रख दिया। दौडकर किनारे पहुँची। जल मे कूदने के लिए झाँका, तो अपना सम्पूर्ण प्रतिविम्व देखा! देखा! (सिहरती हुई) अपना ही प्रतिविम्व! लेकिन, उसे देखते ही मधु, नसो मे खून के एक अजीव ज्वार का अनुभव हुआ और आधी वेहोशी मे ही अपने को पानी मे फेक दिया!

मधूलिका—(विस्मय मे) अजीव सपना!

अम्बपाली—उसका अनोखापन तो अव आता है, रे। पानी मे धँसकर मै तैरने लगी और वढी एक नील कमल की ओर। किन्तु यह क्या? यह तो कलँगीवाला राजकुमार है और मुझे अपनी ओर आते देख वह मुस्कुरा रहा है। मै चकित हुई। दूसरे कमलो की ओर देखा—वैसे ही कलँगी वाले राजकुमार, हजार-हजार! और, सव-के-सव मेरी ओर देख कर सिर्फ मुस्करा नही रहे, वल्कि ठठा-ठठाकर हँस रहे। मै अर्द्धनग्न—उफ् क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, कैसे वाहर होऊँ? इससे तो डूव मरना अच्छा। डूव मरूँ—मरूँ—इसी उम्र मे! तो? तो? डुवकी मारकर शर्म छिपानी चाही—एक डुवकी, दूसरी डुवकी, तीसरी डुवकी मे मालूम हुआ, साँस घुट रही है। अच्छा हुआ, नीद टूट गई। जगी तो पाया, पसीने-पसीने थी।

मधूलिका—निस्सन्देह विचित्र सपना देखा है, तूने। लेकिन, समझती है, इसका मानी क्या है?

अम्बपाली—क्या समझूँ? एक दिन का सपना हो तो, कुछ समझा जाय। जिसकी जिन्दगी ही सपने की है, वह किस-किस का मानी लगाये।

मधूलिका—लेकिन इस गाने का तो खास महत्त्व है। वसन्त के प्रथम दिन का यह गाना साधारण गानों मे नहीं है।

अम्बपाली—तो क्या माने है इसका?

मधूलिका—वही, जो उस दिन ज्योतिषीजी ने तेरे हाथ की रेखाएँ देखकर कहा था—"तेरे चरणो पर हजार-हजार राजकुमारो के मुकुट लोटेंगे।"

अम्बपाली—चुप, चुप! मैं तो उसकी कल्पना से ही सिहर उठती हूँ, मधु! "हजार-हजार राजकुमार!" उफ्, वह भी कोई जिन्दगी होगी। मेरा तो अकेला

मधूलिका—'मेरा तो अकेला अरुणध्वज!' क्यो यही न कहना चाहती थी? (रहस्यपूर्ण ढग से मुस्कुराती है)

[एक कुज की ओर से कुछ शब्द, किसी के आने की पद-चाप-सी सुनाई पडती है—दोनो सखियाँ चौककर उस ओर देखती है—पाती है, एक नौजवान चला आ रहा है—यह अरुणध्वज है—अग-अग गठा हुआ, सुपुष्ट, सुविकसित—कटि से घुटने तक का पीत वस्त्र—पीठ पर तूणीर, कंधे से धनुष लटक रहा, हाथ मे एक बाण—सिर पर घुँघराले लम्बे वाल जिनपर पीले पाटम्बर की पट्टी जिनमे कुछ फूल कलँगी की तरह झूल रहे—यौवन की साक्षात् प्रतिमा सा दिखाई पडता है—

उसे देखते ही अम्बपाली सिटपिट—मधुलिका उछल पडती है, जैसे उसे मुँहमाँगा वरदान मिला हो—"अरुण, खूब आये, भले आये, अच्छे आये—" कहती दौडकर आगे बढती है और उसे झूले के नजदीक ले आती है—अरुण चकित-विस्मित उसका मुँह देखता है—]

मधूलिका—(अरुण से) अच्छा, अब तुम दोनो इसपर वैठो (झूले की ओर इशारा करती है) मैं जरा झुलाऊँगी। (अम्बपाली से) वह कौन-सा गाना है, अम्बे, हाँ हाँ (सुर मे) "मेरी श्याम ने वसी फूँकी। कोइलिया क्यो कूकी!" (अपने चेहरे की ओर आश्चर्य से घूरते हुए अरुण से) तुम वैठते क्यो नही जी?

अरुणध्वज—यह क्या शरारत सूझी है तुझे, मधू!

मधूलिका—हाँ, मेरी शरारत ही तो! यह (अम्बपाली की ओर मुखातिव होती) यहाँ अकेली, वसत के इस प्रथम प्रभात मे "भूली हुई वात फिर याद आई, कलेजे मे हूक [illegible]' गाना [illegible] आप चुपके-चुपके, हौले-हौले, भूलते-भटकते इस कुज मे [illegible] भला मैं कौन होती हूँ जो बीच मे [illegible] वैठी! जरूर मेरी शरारत है यह! [illegible]

(अम्बपाली से) देवीजी, नमस्ते! उभयमूर्त्ति इस अपराधिनी को क्षमा प्रदान कीजिए, मैं चली!

[बड़ी विनम्रता से दोनो को झुक-झुककर अभिवादन करती मधूलिका चलने का उपक्रम करती है—जब वह दो-तीन कदम आगे बढ़ती है, अम्बपाली उसका हाथ पकड़ लेती है—]

अम्बपाली—शैतानी मत कर, ठहर!

मधूलिका—पहले शरारत, अब शैतानी! राजा से सात गज बढ़कर रानी! (बड़ी विद्रूपता से उँगली अपने मुँह पर ले जाती है!)

अरुणध्वज—अच्छा, भाई, तुम दोनो आपस मे पीछे सुलझा लेना। मैं एक जरूरी बात कहने आया हूँ।

मधूलिका—किसी जरूरी बात से तो आप आये ही हैं। बिना जरूरत के आप यहाँ क्यो आते भला? कहाँ हमारा यह आनन्द-ग्राम, कहाँ आपकी मधुगोष्ठी; बीच मे वेगवती की धारा। तो भी आप रोज-रोज, बिला नागा, दोनो जून, जो यहाँ पैर थकाते, तकलीफ उठाते, पहुँच जाया करते है, सो क्या बिना किसी जरूरी बात के ही। (जीभ काटती हुई) राम! राम!

अरुणध्वज—अरी, तू दिन-दिन वाचाल होती जाती है! खैर, बोलो, तुमलोग चलती हो या नही?

मधूलिका—हाँ, हाँ, बोल अम्बे, तू जाती है या नही? जा जा! (अम्बा को खोदती है)

अम्बपाली—मैं पीटूँगी तुझे मधु। (अरुण से) चलें? कहाँ?

मधूलिका—(सुर में) "कुंजकुटीरे, यमुनातीरे!" (अलग हटकर खिलखिला पड़ती है)

अरुणध्वज—(बनावटी गुस्से में) फिर वही नटखटपन! (अम्बपाली से) वैशाली चलना है।

अम्बपाली—वैशाली? वैशाली में क्या है?

अरुणध्वज—फाल्गुनी उत्सव! हम वृज्जियो का प्यारा राष्ट्रीय त्योहार! किस वृज्जिकिशोरी और वृज्जिकुमार के मानस में इस उत्सव के नाम से ही भावनाएँ तरंग-पर-तरंग नही लेने लगती! और इस साल तो उसका विशेष महत्व है। वैशाली की राजनर्तकी देवी पुष्पगंधा अब अवकाश ग्रहण करने जा रही है, उनकी जगह इस साल नई राजनर्तकी का चुनाव . .

[मधूलिका चुनाव का नाम सुनते ही इन दोनो के नजदीक आती और आश्चर्य-भरे स्वर मे कहती है—]

सुमना—जब तू छोटी बच्ची थी तेरी माँ मर रही थी और तू में-में कर रही थी—में-में-में!

अम्बपाली—तो क्यों नही गला घोंट दिया? तुम घोंट ही नही सकती, मेरी अच्छी मौसी!

सुमना—तब न घोंटा, अब बिना घोंटे न छोड़ूँगी। जब देखती हूँ, गुनगुना रही है, थिरक रही है, या फूल गूँथ रही है! तू घर-गिरस्ती की कोई बात तो सीखती ही नही। जहाँ जायगी, आप जलेगी, मुझे गालियाँ सुनायगी।

अम्बपाली—मैं तुम्हे छोड़कर कही नही जाती, मौसी! और किसकी मजाल जो तुम्हे गालियाँ दे? (चेहरे पर अभिमान का स्पष्ट आभास)

सुमना—(तमक कर) हट, सब लडकियाँ ऐसी ही कहती है (मुँह बनाकर) "मैं—तुम्हे—छोड़कर—कही—नही जाती!" लेकिन जब नये घर मे जाती है, फिर

[इसी समय सजी-धजी मधूलिका लपकती हुई पहुँचती है और सुमना की बात बीच ही मे काटती हुई बोलती है—]

मधूलिका—नही, नही मौसी! अम्बा सब लडकियो-जैसी नही है। यह किसी के घर जायगी? ऊहूँ! इसके चरणो पर तो हजार-हजार राजकुमार अपने मुकुट चढायेंगे! हाँ!

सुमना—हाँ, हाँ, एक उम्र मे सब लडकियाँ राजकुमारो का ही सपना देखती है—हजार-हजार राजकुमार! लाख-लाख देवकुमार! लेकिन जब एक दिन हाड-मास का एक साधारण मानव-पुतला हौले हाथ पकडता और अपनी गिरस्ती की चक्की मे गाढे जोतता है, तो उनके सारे सपने हवा हो जाते है!

अम्बपाली—मैं नही जुतूँगी, नही जुतूँगी, नही जुतूँगी!

सुमना—यह भी कह, मैं जिन्दगी-भर गाऊँगी, नाचूँगी, माला गूँथूँगी। कह ले, कह ल, जितने दिन कह ले। कह ले, मुझे जला ले। बस, एक वसन्त और आने की देर है!

मधूलिका—लेकिन, मौसी, क्या इस उम्र मे आप ये सब नही करती थी?

सुमना—करती थी क्यो नही रे! (शात होती) मै नाचने, गाने या फूल गूँथने से थोडे मना करती हूँ? लेकिन, तुम लोगो को कुछ और भी तो सीखना चाहिए न? जिस घर मे जाओ, बोझ होके नही जाओ। नारी जीवन की सार्थकता सिर्फ नाचने, गाने या फूल चुनने

२

[वेगवती नदी की पतली धारा के किनारे बसा आनन्दग्राम—बाँस के वने और फूस के छाये छोटे-छोटे घर—हर घर के आगे बाँस से ही बनाये चौकोर बाड़े, जिनके प्रवेशद्वार पर बाँस क ही तोरण—बाड़ो और तोरणो पर लिपटी हरी-हरी लताये फूलो से लदी—कही-कही इन बाडो मे छोटे-छोटे बछडे बँधे—हरिन के छौने इस बाडे से उस बाडे मे चौकडी भरते—जहाँ-तहाँ बच्चो के खेल और कलरव—कुछ युवतियाँ घड़े लिये वेगवती की ओर जाती—कई जगह बूढ़ियाँ चरखे कातती दिखाई पड़ती—

आनन्दग्राम के ठीक नदी-किनारे, एक घर वैसा ही बना, वैसा ही छाया, वैसे ही बाडे, वैसे ही तोरण—

इस घर का आँगन—लिपा-पुता, स्वच्छ, निर्मल—आँगन क एक कोने मे एक चबूतरा, जिसपर कुछ फूल और तुलसी के पौद—बीच आँगन मे, धूप में बैठी, एक बुढिया चरखा कात रही—सामने बरामदे पर एक किशोरी फूलो की माला गूँथ रही और गुनगुना रही—

इस किशोरी को पहचाना आपने? यह अम्बपाली है—और बुढिया उसकी पालिका सुमना—सुमना चरखा कातती-कातती कई बार उसकी ओर नजर उठाकर देखती है, फिर जैसे चिढकर बोल उठती है—]

सुमना—बस, फूल, फूल, फूल! दिन फूल, रात फूल, सुबह फूल, शाम फूल!

अम्बपाली—(सिर नीचा किये माला गूँथती-गूँथती) दिन फूल, रात फूल, सुबह फूल, शाम फूल!

सुमना—उलटे मेरा मुँह चिढाती है। चिढा ले। बस, कुछ दिन और! फिर, जब किसी का घर बसायगी, तो आटे-दाल का भाव मालूम होगा।

अम्बपाली—जब किसी का घर बसायगी, तब आटे-दाल का भाव (अचानक सिर ऊँचाकर) अच्छा, आटे-दाल का आजकल क्या भाव है मौसी?

सुमना—चुप नहीं होगी, शोख लडकी! यह जानती तो उसी दिन तेरा गला .. (चरखे से एक हाथ छुडा अपने गले पर ले जाती और इस तरह इशारा करती है मानो गला घोटना चाहती हो)

अम्बपाली—किस दिन मौसी?

जो तूने सन्तान-सुख दिया है। मैं तुझे कोई अभिशाप देना नही चाहती। लेकिन अभिमान! अभिमान का फल

[उसका गला भर आता है—उसकी आँखो मे आँसू झलक आते है—उत्तेजना मे वह चरखा बन्द कर देती और उसे सम्हालने लगती है—]

मधूलिका—मौसी, मौसी, तू गुस्से मे आ गई? (अम्बपाली से) अम्बे, यह तेरी हरकत अच्छी नही। देख, देख मौसी की आँखे—

[मधूलिका, चरखा सम्हालती हुई सुमना के निकट, झुक जाती और उसका हाथ पकडती है—अम्बपाली फूल छोडकर झटपट उठती और सुमना के निकट दौडती है— कुछ फूल आँगन मे बिखर जाते है—अम्बपाली सुमना के गले मे लिपट जाती है—सुमना एकाध बार गला छुडाने की कोशिश करती है—किन्तु ज्योही सुमना अम्बपाली के भर्राये चेहरे को देखती है, उसका गुस्सा काफूर हो जाता है, वह कह उठती है—]

सुमना—भोली लडकी! अरे, यह क्या? (ठुड्डी पकडती) तू उदास क्यो हो रही? यो ही जरा कह दिया। आह, तू माँ का दिल जान पाती!

[इतना कह वह उसका माथा चूमने लगती है—उधर बाहर घर्र-घर्र और टप-टप की आवाज होती—और तुरत ही अरुण-ध्वज आँगन मे हँसता हुआ घुसता है— सुमना को अभिवादन कर वह दोनो सखियो की ओर मुखातिब होकर कहता है—]

अरुणध्वज—वाह! तुम लोग अभी तैयार नही हुई?

सुमना—क्या है? कहाँ के लिए, अरुण?

मधूलिका—मौसी, उस दिन कहा था न तुम्हे? हम वैशाली जाना चाहते है। आज ही जाना है। (अम्बपाली से) क्या तूने मौसी से नही कहा था अम्बे?

सुमना—ओहो, तभी आज भोर से ही मालाएँ गूँथी जा रही है। (अम्बपाली की ठुड्डी पकडती हुई) मेरी पगली, तूने मुझसे कहा क्यो नही?

अम्बपाली—मै नही जाती!

सुमना—नही जाती? क्यो नही जायगी रे! जा जा, जरा जी बहला आ। तेरी उम्र की थी, हम भी जाया करती थी। फाल्गुनी उत्सव? यह तो हम वृज्जियो का महामेला है। जा, परि-

मे नही है वल्कि अर्द्धांगिनी वनने मे है। अगर अर्द्धांगिनी वनने, गिरस्ती की आधी जिम्मेवारी उठाने की योग्यता तुममे नही हुई, तो अवश्य ही तुम्हे पुरुष विना दासी वनाये नही छोडेगा। तुम पुरुषो को नही पहचानती, प्यारी वेटियो।

मधूलिका—(चौक कर) अरे!

सुमना—अरे क्या? (वडी गम्भीर मुद्रा मे) पुरुष वह नही है, जिसे तुम अलग से देखती हो—वह वॉका-वॉका छैला, घुँघराले वाल, आँखो मे रस, होठ के ऊपर मसे भीगी, चौडी छाती फुलाये, उलटे पुट्ठोवाली भुजाएँ हिलाता, मस्ती मे झूमता जाता हुआ, कामदेव का सखा। नही, यह पुरुष नही है। यह तो उसके ऊपर का ढॉचा है। पुरुष उसके भीतर है, जो हर कमजोर को अपना शिकार समझता है, हर खूवसूरती को अपनी खुराक—हॉ, सौन्दर्य उसका भोजन है, निर्वल उसका आखेट। वह झपट्टा मारकर चढ वैठता है, घायल कर देता है, फिर भर-पेट खा लेता और चल देता है—दूसरे शिकार और दूसरी खुराक की तलाश मे।

मधूलिका—(भयातुर होकर) मौसी, मौसी! यह तुम क्या कह रही हो?

सुमना—मै सच कह रही हूँ वेटी! लेकिन इससे घवराना मत। यह पेटू और शिकारपसद जानवर मजे मे वश किया जा सकता है। हर पेटू जानवर की तरह यह पूरा आलसी है और यह आसानी मे पालतू वनाया जा सकता है। वडे-वडे अगडधत्त वीर पुरुषो को, नारी ने, भालू की तरह, उसके नथने मे रस्सी डालकर, नचाया है। वह खूँखार जानवर तार्थेई-तार्थेई करके नाचा है और दुनिया आश्चर्य से यह तमाशा देखती रही है!

मधूलिका—उफ्, मै दासी वनने की कल्पना से ही कॉप जाती हूँ मौसी! मुझे पुरुषो को वश मे करने की यह कला सिखला देना, मेरी अच्छी मौसी! (अम्वपाली से) क्यो अम्वे, तू नही सीखेगी?

अम्वपाली—तू सीख, मै उसकी जरूरत नही महसूस करती। मै सिर्फ गाऊँगी, नाचूँगी, माला गूँथूँगी और कोई मुझे दासी वना नही सकता। (उसके चेहरे पर अभिमान की लाली दौड जाती है)।

सुमना—देखती है, मधु, इसका अभिमान? (अम्वपाली से) लेकिन यह अभिमान नही है, अम्वे, आत्मवचना है! मैने तुझे पाला है, पोसा है, गोद खेलाया है, चलना सिखाया है। मुझ निपूती

(कहते-कहते उसका चेहरा सहसा गम्भीर हो उठता है, उसकी आँखें सजल-सी लगती हैं, थोड़ी देर के भावावेश के बाद—) अच्छा, तेरी माँ अब कैसी है, अरुण!

अरुणध्वज—अच्छी ही है, हाँ, जब-तब तबीयत कुछ सुस्त हो जाया करती है।

सुमना—तो तू वधू क्यों नहीं लाता? बेचारी की सेवा वह करती। अब तो तू सयाना हुआ, रे!

अरुणध्वज—वधू क्या यों ही मारी-मारी फिरती है मौसी?

सुमना—अरे, इसी फाल्गुनी उत्सव में देखना। कितने जोड़े लगते हैं वहाँ! मेरी लगन भी वहीं लगी थी। हाँ, हाँ, तू अब व्याह कर ले। एक-दो साल में तो अम्बा के लिए भी वर चाहिए ही।

[प्रसाधन-शृंगार से सज्जित अम्बपाली को लिये-दिये मधूलिका आँगन में आती है—उसका रूप देखकर अरुण की टकटकी बँध जाती है—सुमना उसे देखते ही खिल पड़ती है, बोलती है—]

अरुण बेटा, मेरी अम्बा-ऐसी सुन्दरी समूचे वृज्जिसंघ में नहीं मिल सकती? तू वैशाली के इस फाल्गुनी उत्सव में देख लेना।

मधूलिका—(धीरे से) तब तो यह जरूर ही राजनर्तकी चुनी जायगी।

सुमना—यह तू क्या बोली, मधु!

अम्बपाली—(जो मधूलिका की बात सुन चुकी है, खीझ से) मैं वैशाली नहीं जाती।

मधूलिका—वाह, नहीं जाती! चलना ही पड़ेगा, हाँ—

[मधूलिका अम्बपाली की बाँह पकड़कर उसे घसीटती, घर के बाहर, तोरण के पास ले आती है—पीछे-पीछे सुमना और अरुण है—तोरण के सामने अरुण का रथ खड़ा है—वह आगे बढ़कर घोड़े की रास सम्हालता है—अम्बपाली को आगे ठेलकर मधूलिका भी रथ पर जा चढ़ती है—अरुण भी रथ पर आ रहता है—तीनों सुमना को अभिवादन करते हैं—]

सुमना—देखना, अरुण! मेरी अम्बा भोली है, कहीं भीड़ में खो न जाय। (घोड़े सर्राटे से आगे बढ़ते हैं—सुमना टकटकी लगाये रथ को देखती रहती है—उसके मुँह से निकल पड़ता है—) भोली बच्ची!

मान बदल ले, प्रसाधन कर ले। (अरुण से) और अरुण, देखना, मेरी अम्बा बिलकुल बालिका है। जरा होशियारी से मेले में रखना!

अम्बपाली—(झल्लाकर) मेरी तबीयत अच्छी नहीं; मैं नहीं जाऊँगी।

सुमना—बस, फिर जिद। देखता है न तू अरुण, जरा मुझे गुस्सा आया और यह मान कर बैठी। कैसी तुनकमिजाज! (मधूलिका से) मधु, क्या देखती है, जा, जल्द इसका परिधान ठीक कर दे। ओहो! (मधूलिका को सिर से पैर तक निहारती हुई) मैंने ध्यान ही नहीं दिया था, तू इसी से सज-सजाकर आई है।

[मधूलिका अम्बपाली को घसीटकर घर में ले जाती है—अरुणध्वज सुमना के नजदीक बैठ जाता है—सुमना फिर चरखा कातती हुई उससे बातें करती है—]

सुमना—तू कितने साल का हुआ रे, अरुण!

अरुणध्वज—माँ कहती थी, इक्कीसवाँ जा रहा है।

सुमना—मेरी अम्बा का भी यह सोलहवाँ है।

अरुणध्वज— (बड़ी सादगी से) कवियों ने इसे ही न षोडशी कहा है, मौसी!

सुमना—हाँ, हाँ, यही षोडशी!—जब जवानी बचपन की खिड़की से बाहर की दुनिया को झाँकती है। अजीब उम्र है यह, अरुण!—जब संसार की सब चीजें चंचल, नृत्यशील, रंगीन और संगीतमय दिखाई पड़ती हैं। जब लड़कियाँ समझ नहीं पाती वे क्या हैं? प्रदर्शन जब उनका एकमात्र मनोरथ होता है और प्रसाधन एकमात्र व्यवसाय।

अरुणध्वज—लेकिन अम्बा को तो तुम्हीं ने अभी-अभी प्रसाधन के लिए प्रेरित किया है।

सुमना—किया है, क्यों? समझे? हर मादा जानवर की तरह नारी भी अपने को नर से हीन अनुभव करती है। इस हीनता को छिपाने के लिए ही वह प्रसाधन की ओर प्रवृत्त होती है। हम नारियों की साज-सिंगार की प्रवृत्ति हमारी हीनता की सूचक है, अरुण! यह हीनता तब दूर होती है, जब नारी में मातृत्व आता है—वह बिलकुल बदल जाती है, महामहिमान्वित हो जाती है। मातृत्व नारीत्व का चरम उत्कर्ष है।

३

[आदिकवि वाल्मीकि द्वारा प्रशंसित, अपनी विशालता और भव्यता से स्वर्ग की गरिमा को भी पराजित करनेवाली विशाला वैशाली नगरी—उसमें वृज्जियों का वह भव्य दिव्य 'संथागार' जिसमें उनके संघ के ७,७०७ राजा एकत्र होकर समय-समय पर परामर्श और निर्णय करते—

संथागार के विशाल प्रासाद के ऊपर के तोरण पर एक विशाल सिंह की मूर्ति जो एक पैर उठाये, मानों झपट्टा मारना चाह रहा—उसके दोनों ओर दो गज-मूर्तियाँ जिनके सूँड़ उठकर ठीक सिंह-मूर्ति के ऊपर, आपस में जा मिलते हैं—सूँड़ के इन मिलने की जगह से एक लम्बा स्तम्भ जिसपर वृज्जियों की राष्ट्रीय पताका लहरा रही—

लाल रंग की वह पताका जिसपर उजली सिंह-मूर्ति अंकित—

संथागार पर पंक्ति से, तोरण से चार एक तरफ, चार दूसरी तरफ, कुल आठ गुम्बद—इन गुम्बदों के रंग क्रमशः नील, पीत, हरित, मंजिष्ठ, लोहित, श्वेत, अवदात और व्यावृत्त, जो वृज्जियों के आठ कुलों के सूचक हैं—

संथागार के नौबतखाने से तरह-तरह के बाजे बजकर दिग्दिगन्त को मुखरित कर रहे हैं—

और, संथागार के सामने के विस्तृत मैदान में, पहले जहाँ वैशाली का बाजार लगा करता, आज फाल्गुनी उत्सव की तैयारियाँ हैं—

वृत्ताकार बनी है यह उत्सव-भूमि—वृत्त के बीच में ऊँची रंग-भूमि है, जहाँ युवक-युवतियों के नृत्य-गान हो रहे—रंगभूमि को केन्द्र मानकर समूचा वृत्त आठ भागों में विभक्त किया गया है—जहाँ की दूकानें, परिधान, रथ आदि उपर्युक्त आठ रंगों के हैं—

फूलों और सोमरस की दूकानों पर सबसे अधिक भीड़—

प्रसाधन-शृंगार से आभूषित युवक-युवतियों का अद्भुत जम-घट—युवकों के शानदार कटिपट और लम्बे बालों को सँवारनेवाले जरीदार पट्टियाँ—युवतियों के रंगीन परिधान और कंचुकियों पर झलमल गोटे-बूटे—फूलों के आभूषणों और मालाओं से बेतरह लदे—

रंगभूमि से नृत्य-संगीत की धारा प्रवाहित हो उठी सबको जैसे डुबो देना चाहती हो—सबके पैरों में नृत्य की गति, सबके स्वर में संगीत के सुर—एक मोहक-मादक उत्तेजना से वायुमंडल व्याप्त—

[illegible]—]

अम्बपाली—अरुण, अब ज़रा कहीं विश्राम करें। मैं थक गई।

अरुणध्वज—थक गई। वाह, अभी देखा क्या जो थक गई। अभी तो मेला देखने को बहुत पड़ा है।

अम्बपाली—मैं अब नहीं देखना चाहती।

अरुणध्वज—क्यों?

अम्बपाली—ये लोग अच्छे नहीं दिखाई देते। सब यों घूरते हैं, जैसे आँखों से निगल जायेंगे।

मधूलिका—(चौंकती-सी) आँखों से निगल जायेंगे?

अम्बपाली—हाँ, हाँ, आँखों से निगल जायेंगे! मैं तो इन्हे देखने से काँप उठती हूँ, मधु! ये आते है या (अरुण से) नही-नही, अरुण, चलो। मै बाज आई इन देखने से।

मधूलिका—(व्यंग्य से) या दिखाने से! मेरी रानी, अभी तू देखने-दिखाने से यो कॉपती है और जब हजार-हजार राजकुमार

अम्बपाली—फिर वही शैतानी? (भौहे चढाकर अरुण से) अरुण, चलते हो? चलो।

अरुणध्वज—चलूँ? कहाँ? ससार मे कोई ऐसी जगह बता दे, जहाँ आँखे न हो।

अम्बपाली—लेकिन आँख-आँख मे फर्क है।

मधूलिका—और, मैने उस दिन कहा था, सपने-सपने मे फर्क है और फर्क है रूप-रूप मे, तब तू नही मानती थी। भला, मुझे कोई क्यो नही देखता, घूरता, या तेरे शब्दो मे, निगलता।

अम्बपाली—(झुंझलाकर) मै क्या जानूँ?

मधूलिका—जानेगी, जानेगी। और जब जान जायगी, मुझसे भर मुँह बाते भी नही करेगी।

अम्बपाली—(अरुण से रुखाई के शब्दो मे) तुम मुझे ले चलते हो या नही, अरुण?

अरुणध्वज—अच्छा चल, सोमरस की दूकान पर (हाथ से बताते हुए) थोडा पी ले, थकावट दूर हो जायगी।

अम्बपाली—नाचेगी नहीं रे! मैं नाच रही हूँ रे। मैं नाच रही हूँ रे मधु, छोड़ रे मधु (झटके से हाथ छुड़ा लेती है और गति से हाथ-पैर चलाने लगती है) मैं नाच रही रे मधु नाच रे! अरुण नाच रे (वह दौड़कर अरुण का हाथ पकड़ लेती है) नाच रे नाच

[अरुण उसके हाथों में हाथ दिये उसे रंगभूमि में ले जाता है—मधूलिका भी पीछे-पीछे जाती है—अनेक युवक-युवतियों का नृत्य हो रहा है—अम्बपाली और अरुण भी नाचने लगते हैं—अरुण थक जाता है, लेकिन अम्बपाली अकेली नाचती ही रह जाती है। लोगों का ध्यान धीरे-धीरे उसके अपूर्व नृत्य की ओर जाता है—सब अपना-अपना नृत्य बन्द कर उसीका नृत्य देखने लगते हैं—चारों ओर से हर्षध्वनि और पुष्पवर्षा हो रही है—

पुष्पगन्धा भी अपनी मडली के साथ वहाँ पहुँच जाती है—वह और चारों राजकुमार उसका नृत्य देख मुग्ध हो जाते हैं—राजकुमारों का स्वीकृति-सूचक रुख देख पुष्पगधा आगे बढ़ती और उसके गले में राजनर्तकी की जयमाल डाल देती है—चारों राजकुमार चिल्ला उठते हैं—'राजनर्तकी की जय'! 'राजनर्तकी की जय'!! उनकी जय की ध्वनि-प्रतिध्वनि उपस्थित जनता की ओर से होती है, इस जयकार से चकित हो, मानो कुछ होश में आ, अम्बपाली मधूलिका के पास दौड़ जाती है, जो वहाँ खड़ी एकटक उसे देख रही थी—]

अम्बपाली—मधु, मधु राजनर्तकी राजनर्तकी!

पुष्पगधा—(उसके निकट पहुँचकर) हाँ, राजनर्तकी! कल तक की राजनर्तकी मैं, आज से राजनर्तकी तुम!

अम्बपाली—राजनर्तकी! मैं मैं (आश्चर्य से आँखें विस्फारित करती) राजनर्तकी? मैं राजनर्तकी? मैं

पुष्पगधा—हाँ, हाँ, तुम राजनर्तकी, तुम!

अम्बपाली—(अचानक विक्षिप्त-सी होकर) मधु, मैं राजनर्तकी. . अरुण, मैं राजनर्तकी! राजनर्तकी ह-ह-ह-ह मैं राजनर्तकी . हा-हा-हा-हा मैं राजनर्तकी हो-हो-हो-हो (जोरों से अट्टहास करने लगती है)

मधूलिका—(व्याकुल होकर) अम्बे, क्या बक रही है, अम्बे?

अम्बपाली—बक रही? मैं—बक—रही? (फिर उत्तेजित होकर) नहीं, नहीं, मधु, मैं राजनर्तकी मैं राजनर्तकी रे . हा-हा-हा-हा ही-ही-ही-ही मैं राजनर्तकी मधु, मधु . मैं राज-

दूसरा राजकुमार—लेकिन वृज्जिसघ नगर और ग्राम का कोई भेद नही करता। यहाँ सबकी समता है। अपने गुण से हर नागरिक राजा हो सकता है, अपने रूप से हर सुन्दरी राजनर्तकी के गौरव को प्राप्त कर सकती है। (चौथे से, जो सबमे वयस्क है) क्यो, आप नही कुछ बोल रहे ?

चौथा राजकुमार—इसमे सन्देह नही कि हमने जितनी सुन्दरियाँ देखी है, उनमे यह सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु मेरा ख्याल है, अपनी उत्तराधिकारिणी पसद करने की सबसे ज्यादा जिम्मेवारी देवी पुष्पगधा पर है। इसलिए, हम लोग इसपर ज्यादा विवाद न कर अन्तिम निर्णय इन्ही पर छोड दे।

पुष्पगंधा—यह आपकी कृपा है, लेकिन इससे हममे से किसी की जिम्मेवारी कम नही होती। हाँ, अच्छी बात हो, हम थोडा और घूमकर देख ले।

[इन पाँचो का दल आगे बढता है—उधर सोमरस पीकर मस्त बनी अम्बपाली अरुणध्वज और मधूलिका के साथ निकलती है—वह खूब हँस रही है— पहले की शरमीली लडकी नही है—प्रगल्भतापूर्वक हँसती जा रही है—]

अरुणध्वज—तुझे क्या हो गया है अम्बे ! कही इतना भी हँसा जाता ?

अम्बपाली—(उसकी आवाज लटपटा रही है, बीच-बीच मे रुक जाती है) कही इतना भी हँसा जाता है ! ह-ह-ह-ह !! क्यो मधु, कही—इतना भी—हँसा—जाता है !! हा-हा-हा-हा- !!!

मधूलिका—(डाँटती-सी) यह क्या अम्बे ?

अम्बपाली—ह-ह-ह-ह ! ही-ही-ही-ही !! यह क्या अम्बे ? यह क्या ?? अरे, यह क्या रे मधु ! मधु !! हा-हा-हा-हा ! हो-हो-हो-हो !

मधूलिका—(नाराजी और हुकूमत के स्वर मे) तू चुप नही होती !

अम्बपाली—(घूरकर देखती) चुप नही होती ! चुप नही हा-हा-हा . हो हो हो हो मधु ! मधु !! अरी, मै उडी जा रही हूँ, रे मधु मधु, पकड रे ! रे ये मेरे पख (हाथो को हवा मे डैनो-से फटकारने लगती है)

मधूलिका—(उसके हाथो को पकड लेती है, अरुण से नाराजी मे कहती है) अरुण, तुमने यह अच्छा नही किया.

अरुणध्वज—तू घबरा नही, मधु, मै इसे तुरत अच्छा कर देता हूँ। नशा थोडी हरारत खोजता है। (अम्बपाली से) नाचेगी नही रे !

४

[वैशाली का राजकीय वसन्तोद्यान—आम, लीची महुए के पेड क्रमश पंक्तियो मे लगे—आम की पीली, लीची की हरी और महुए की अर्ध-विकसित श्वेत मंजरियो की सुगन्ध से प्रकृति मह-मह कर रही—क्यारी-क्यारी मे रंग-बिरंगे फूल—बीच मे एक बँगला, पुष्पो से घिरा, लताओ से लदा—

सुबह की सुनहली धूप मे सब चीजे जगमग हो रही—

बँगले के कमरे के मुँह पर जो कामदार पर्दा झूल रहा है, वह हटता है—भीतर से अम्बपाली निकलती है—आँखो मे खुमार—चेहरे पर नीद की छाया—चकित नेत्रो से इधर-उधर देखती है—बरामदे पर आकर पुकारती है—]

अम्बपाली—कोई है।

[एक परिचारिका दौडकर आती है—उसके सामने झुककर अभिवादन करती और बोलती है—]

परिचारिका—भद्रे, जो आज्ञा!

अम्बपाली—(आश्चर्यमयी मुद्रा मे) आज्ञा? मै कहाँ हूँ? उफ्, यह कैसा सपना?

परिचारिका—नही आर्ये, यह सपना नही, प्रत्यक्ष सत्य है। यह वैशाली का राजकीय वसन्तोद्यान है और मै हूँ आपकी परिचारिका।

अम्बपाली—परिचारिका? (झिझककर) मुझे किसी की परिचर्या की जरूरत नही। क्या मै बूढी हूँ, रोगी हूँ?

परिचारिका—(किंचित् मुस्कान से) जरूरत पडेगी, पडेगी आर्ये!

अम्बपाली—(उत्तेजना मे) नही, नही! (उसासे लेती हुई) आह, मधु कहाँ, अरुण कहाँ? (परिचारिका से) बता, बताती क्यो नही?

[बँगले के बरामदे के दूसरे छोर से पुष्पगन्धा आती दिखाई पडती है—उसकी आहट सुन परिचारिका उस ओर देखती है और ससम्भ्रम हट जाती है—अम्बपाली पुष्पगधा को घूर-घूरकर देखती है—वह निकट पहुँचती है—परिचारिका अन्तत वहाँ से हट जाती है—]

पुष्पगंधा—क्यो? तबीयत अच्छी है न?

अम्बपाली—आप कौन है?

पुष्पगंधा—भूल गई?

अम्बपाली—भूल गई! (गौर से देखती है)

पुष्पगधा—कही देखा नही?

नर्तकी . हजार-हजार राजकुमारो के मुकुट. . हो-हो-हो-हो. . मेरे चरणो पर रे, मेरे चरणो पर (मधूलिका की आँखो को देख-कर) मधु, तू घूर क्यो रही है रे मै राजनर्तकी।

अरुणध्वज—तू होश मे नही है अम्बे! ओहो, मधु, मैने क्या किया? (वह विह्वल-सा दिखाई देता है)

पुष्पगंधा—कुछ बुरा नही किया आर्य! तुम सौभाग्यशाली हो, तुमने सघ को राजनर्तकी दी। तुम कौन हो, कहाँ के हो? कौन वह सौभाग्यशाली वंश है? कौन वह सौभाग्यशाली ग्राम है?

अरुणध्वज—(विह्वलता मे ही) मधु, मधु, यह क्या हो रहा है? ओहो, अम्बे, अम्बपाली, यह क्या? (थोडा शात हो पुष्पगन्धा से) भद्रे, हम आनन्दग्राम मे आये हैं . ओहो, यह क्या?

अम्बपाली—(प्रमत्त बनी बके जा रही है) मै राजनर्तकी .. अरुण अरुण मै राजनर्तकी! . ह-ह-ह-ह . मधु . तू हँसती क्यो नही रे? मै राजनर्तकी .हजार-हजार हजार-हजार राजकुमारो के मुकुट मुकुट मुकुट हजार-हजार राजकुमारो के मुकुट मेरे चरणो पर लोटेगे रे चरणो पर हा-हा-हा-हा. मेरे चरणो पर हो-हो-हो-हो तू हँसती क्यो नही है, मधु? . तुम हँसते क्यो नही हो अरुण? हँसो हँसो हँसो हा-हा-हा-हा . हो-हो . हो-हो—

(अरुण के चेहरे का रग उड जाता है—वह काँप उठता है—फिर मूर्ति-सा खडा देखता रहता है—मधूलिका कभी अम्बपाली और कभी अरुण का चेहरा देखती किंकर्तव्य-विमूढ बन रही है—इधर लोग पुष्पवर्षा और आनन्द-ध्वनि किये जा रहे है—उसी समय एक रथ आकर नजदीक मे खडा होता है—पुष्पगन्धा अम्बपाली का हाथ पकड़ कर रथ पर चढा लेती है—खिल-खिल हँसती अम्बपाली अरुण और मधूलिका की ओर मुखातिब हो बोलती है—)

—मधु . . . मै राजनर्तकी अरुण, मै राजनर्तकी . . राजनर्तकी. . राजनर्तकी हा-हा-हा-हा हजार-हजार राज .

['नई राजनर्तकी की जय', 'अम्बपाली की जय', पुष्पगन्धा कहती है—सब उसके जयनाद मे साथ देते है—इसी तुमुल जयनाद में रथ चल पडता है—अरुणध्वज पत्थर की मूर्ति-सा खडा है—मधूलिका थोडी दूर 'अम्बे!' 'अम्बे!' चिल्लाती दौडती है—फिर गिर पडती है—]

बूँद पाने के लिए कोसल और मगध की महारानियाँ तरसती रहती हैं, वह सरोवर अब तेरे अगराग से आठो दिन रगीन और सुवासित बनेगा। वृज्जिसघ के जिन राजकुमारो के गर्वोन्नत सिर हिमालय के शृग की तरह उन्नत और प्रदीप्त है जिन्हे कोई पदाक्रान्त कर नही सकता, झुका नही सकता उन्ही सिरो के हजार-हजार मुकुट तेरे चरणो पर अवनत होगे, लोटेगे। तुझे इस गौरव के अनुरूप ही अपने को ढालना होगा, अम्बे!

अम्बपाली—क्षमा कीजिये, आर्ये! मै राजनर्तकी नही बनना चाहती।

पुष्पगधा—कोई चाह कर राजनर्तकी नही बन पाती, अम्बे! हमारा यह सघ जम्बूद्वीप भर मे इसीलिए प्रसिद्ध है कि यहाँ की नारी और नर अपने व्यक्तित्व को सघ पर समर्पित कर देते है। सघ जिसको जो जिम्मेवारी देता है, वह उसे निभाता है। सघ की आज्ञा पर हमारे सैनिक समरक्षेत्र मे अपनी गर्दन हँसते-हँसते कटा डालते है, हमारे नाविक अपनी पूरी जिन्दगी बजडो पर ही बिता-कर, नागरिक जीवन के सुख-ऐश्वर्य से दूर रहकर हमारे सघ को नाना तरह के धनरत्न से विभूषित करते है, तो फिर तुम-हम उसी सघ की आज्ञा पर अपनी जिन्दगी को सघ के मनोरजन मे उत्सर्ग कर दे, तो इसमे अनौचित्य क्या है, आश्चर्य क्या है?

अम्बपाली—क्या यह सघ की जबरदस्ती नही?

पुष्पगंधा—जिस दिन हम जिम्मेवारी को जबरदस्ती सम-झने लगेंगे, उसी दिन सघ का पूरा शीराजा बिखर जायगा, अम्ब-पाली! वृज्जिसघ हम सबको स्वतत्रता की सुरक्षा प्रदान करता है। वृज्जिसघ स्वाधीन नर-नारियो का सघ है, उसमे जबरदस्ती कहाँ? हाँ, उनके द्वारा दी गई सुरक्षा और स्वाधीनता की भरपाई अगर हम अपनी जिम्मेवारी अच्छी तरह निभाकर करते है, तो, इसमे जब-रदस्ती कहाँ है, अम्बे! याद रख, हम जिससे पाते है, उसे कुछ देना भी होता है!

अम्बपाली—लेकिन, यह अजीब देन है। सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी और राजनर्तकी? उफ्! (उसासे लेती है)

पुष्पगंधा—सर्वश्रेष्ठ पशु ही देवताओ को बलि दिये जाते है, अम्बे! मूर्ख कहेगे, यह कैसा अविचार? लेकिन, उन्होने जिन्दगी का रहस्य नही समझा। जिन्दगी की सार्थकता मनमाना जीना या लम्बी आयु पाना नही है। जिन्दगी की सार्थकता है किसी बडे काम के लिए

अम्बपाली—(सोचती हुई) सपने मे शायद कभी देखा है? आप कौन है?

पुष्पगंधा—(मुस्कुराती) मुझे लोग पुष्पगधा कहते है, यह नाम कभी सुना है?

अम्बपाली—नाम तो यह सुना है—वृज्जिसघ की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, वैशाली की राजनर्तकी।

पुष्पगंधा—ठीक, कल तक मैं वृज्जिसघ की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी, वैशाली की राजनर्तकी थी। लेकिन आज मैं वह नही रही।

अम्बपाली—आज क्यो नही रही?

पुष्पगंधा—यह भी भूल गई? रात का सपना याद कर—तू जो रात राजनर्तकी चुनी गई, वैशाली की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी मानी गई।

अम्बपाली—(कातरता से) भद्रे, मैं सपनो से परीशान हूँ। मेरी मधु कहाँ? मेरा अरुण कहाँ? अरुण (चिल्लाती है)

पुष्पगंधा—(उसकी आवाज मे गम्भीरता आ जाती है) यो लोग नही चिल्लाते अम्वे! तू जहाँ खडी है, उस स्थान की मर्यादा देख। वृज्जिसघ की कुमारियाँ मर्यादा का उल्लघन नही करती। जिस दिन हमारी कुमारियाँ मर्यादा छोड देगी, सघ की नीव हिल जायगी। नारियाँ राष्ट्र की इमारत की नीव की ईंट होती है, नीव की चद ईंटे हटा दो, वडी-से-वडी इमारत भहरा पडेगी।

अम्बपाली—मर्यादा? मर्यादा मुझसे टूटी है क्या भद्रे? क्षमा करे। मुझे मेरी मधु से, मेरे अरुण से मिलाइए। आह, मेरी मौसी! मैं कहाँ से वैशाली आई, मैं सचमुच मेले मे खो गई! (उसकी आँखो में आँसू छलछला आते है)

पुष्पगंधा—(जरा-सी मुस्कुराती हुई) तू खो गई, और सघ ने नर्तकी पाई। कोई खोता है, तभी कोई पाता है, अम्वे!

अम्बपाली—(गिडगिडाती हुई) आर्ये, अव सपने मे न रखिये—मुझे मेरे साथियो से मिलाइए, या आनन्दग्राम भिजवाइए।

पुष्पगंधा—आनन्दग्राम रथ गया है, तेरी मौसी आती ही होगी। मधु और अरुण सघ के अतिथि-भवन मे है। तू जरा प्रसाधन कर ले, इसी रूप मे मिलेगी उनसे? अव तू अपने पद-गौरव को समझ।

अम्बपाली—पद-गौरव?

पुष्पगंधा—यो भूलने, विभोर होने से काम नही चलता, अम्वे! अव तू राजनर्तकी है। कल सघ ने तुझे राजनर्तकी के रूप में अभिषिक्त जो किया। जिस अभिषेक-मगल-पुष्करिणी के जल की कुछ

बूँद पाने के लिए गंडक और सागर की महानदियाँ तरसती रहती हैं, वह सरोवर अब तेरे अंगराग से आज दिन रंगीन और सुवासित बनेगा। वृज्जिसंघ के जिन राजकुमारों के गर्वोन्नत सिर हिमालय के शृंग की तरह उन्नत और प्रदीप्त हैं, जिन्हें कोई पदाक्रान्त कर नहीं सकता, झुका नहीं सकता, उन्हीं सिरों के हजार-हजार मुकुट तेरे चरणों पर अवनत होंगे, लोटेंगे। तुझे इस गौरव के अनुरूप ही अपने को ढालना होगा, अम्बे!

अम्बपाली—क्षमा कीजिये, आर्ये! मैं राजनर्तकी नहीं बनना चाहती।

पुष्पगंधा—कोई चाह कर राजनर्तकी नहीं बन पाती, अम्बे! हमारा यह संघ जम्बूद्वीप भर में इसीलिए प्रसिद्ध है कि यहाँ की नारी और नर अपने व्यक्तित्व को संघ पर समर्पित कर देते हैं। संघ जिसको जो जिम्मेवारी देता है, वह उसे निभाता है। संघ की आज्ञा पर हमारे सैनिक समरक्षेत्र में अपनी गर्दन हँसते-हँसते कटा डालते हैं, हमारे नाविक अपनी पूरी जिन्दगी बजडों पर ही बिता-कर, नागरिक जीवन के सुख-ऐश्वर्य से दूर रहकर हमारे संघ को नाना तरह के धनरत्न से विभूषित करते हैं, तो फिर तुम-हम उसी संघ की आज्ञा पर अपनी जिन्दगी को संघ के मनोरंजन में उत्सर्ग कर दें, तो इसमें अनौचित्य क्या है, आश्चर्य क्या है?

अम्बपाली—क्या यह संघ की जबरदस्ती नहीं?

पुष्पगंधा—जिस दिन हम जिम्मेवारी को जबरदस्ती सम-झने लगेंगे, उसी दिन संघ का पूरा शीराजा बिखर जायगा, अम्ब-पाली! वृज्जिसंघ हम सबको स्वतंत्रता की सुरक्षा प्रदान करता है। वृज्जिसंघ स्वाधीन नर-नारियों का संघ है, उसमें जबरदस्ती कहाँ? हाँ, उनके द्वारा दी गई सुरक्षा और स्वाधीनता की भरपाई अगर हम अपनी जिम्मेवारी अच्छी तरह निभाकर करते हैं, तो, इसमें जब-रदस्ती कहाँ है, अम्बे! याद रख, हम जिससे पाते हैं, उसे कुछ देना भी होता है!

अम्बपाली—लेकिन, यह अजीब देन है। सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी और राजनर्तकी? उफ्! (उसाँसें लेती है)

पुष्पगंधा—सर्वश्रेष्ठ पशु ही देवताओं को बलि दिये जाते हैं, अम्बे! मूर्ख कहेंगे, यह कैसा अविचार? लेकिन, उन्होंने जिन्दगी का रहस्य नहीं समझा। जिन्दगी की सार्थकता मनमाना जीना या लम्बी आयु पाना नहीं है। जिन्दगी की सार्थकता है किसी बड़े काम के लिए

उत्सर्ग कर दिया जाना—फिर वह उत्सर्ग की हुई जिन्दगी एक दिन की हो या सौ वरस की, वह खाँडे की धार पर उतरे या चदन की चिता पर चढे! (कहते-कहते उसका मुँह तमतमा जाता है; उसके चुप होते ही अजीव सन्नाटा छा जाता है!)

अम्बपाली—(भयभीत-सी) देवि!

पुष्पगंधा—(जैसे उसकी आवाज सुनी ही न हो) और एक वात! तूने सौन्दर्य का महत्व ही नही जाना!

अम्बपाली—मै यह सव झझट क्या जानूँ, देवि!

पुष्पगंधा—झझट नही है, तत्व है तत्त्व। दुनिया मे तीन चीजो की आकाँक्षा सव को होती है—धन की, ज्ञान की, सौन्दर्य की। इनमे सौन्दर्य की महिमा सवसे वडी है। एक गरीव आदमी परिश्रम और सचयवृत्ति से धनी वन जा सकता है, एक मूर्ख अध्ययन और अभ्यास से ज्ञान प्राप्त कर सकता। है। लेकिन, लाख सिर पटक-कर भी कोई कुरूप सुन्दर नही वन सकता। सौन्दर्य सिर्फ विधाता के हाथो से गढा जाता है—यह सोलह आने दैवी देन है। यह दैवी देन तुच्छ मानवीय कामनाओ की पूर्त्ति मे न व्यय होकर उच्च आदर्श की पूर्त्ति मे लगे, इससे वढकर इसका क्या सदुपयोग हो सकता है, अम्वे?

अम्वपाली—तो आप राजनर्तकी की जिन्दगी को उच्च आदर्श की पूर्त्ति मानती है?

पुष्पगंधा—कोई काम स्वय ही उच्च या नीच नही होता अम्वे! एक हत्या हत्यारेपन की सूचना देती है, दूसरी हत्या हत्याकारी को देवता वना डालती है। जरा सोच तो, अपनी सभी व्यक्तिगत रुचियो, इच्छाओ, आकाँक्षाओ को ठुकराकर, लात मार कर अपने-आपको सघ के प्रत्येक सदस्य के मनोरजन के लिए अर्पित कर देना—अपने व्यक्ति को समष्टि मे विलीन कर देना—इससे वढकर आदर्श की उच्चता एक सुन्दरी नारी के लिए क्या हो सकती है? सुन्दरी नारी—जिसका कदम-कदम डगमगाता है! वृज्जिसघ की कुमारियाँ ही इतनी वडी साधना का साधन कर सकती है, अम्वे!

अम्वपाली—(रुखाई से) साधना का साधन या आत्मा का हनन?

पुष्पगंधा—शुरू में ऐसा ही भ्रम होता है। किन्तु तथ्य यह है कि ज्यो ही हमने अपने को उनके लिए अर्पित कर दिया, हम उनके मनोरजन की चीज नही रह जाती, वल्कि वे ही अपने को हमारे

मनोरंजन के साधन बना डालते हैं—हमें अपना सिर उनके निकट झुकाने की जरूरत नहीं होती, उन्हीं के हजार-हजार राजमुकुट हमारे चरणो की धूल चाटने लगते है! हम नारियो की भी एक महिमा है, यह क्यो भूल जाती है, भोली लडकी!

अम्बपाली—(दीर्घ उच्छ्वास के साथ, धीमे स्वर मे) आह, मेरा अरुण!

पुष्पगधा—अरुण! अरुण भी तो वृज्जिसघ का एक सदस्य है। कौन उसे तेरे पास आने से रोक सकता है? जा, तू जल्द प्रसाधन तो कर ले। नयनिके! (पुकारती है)

[पुकार सुनकर परिचारिका शीघ्र उपस्थित होती है—उदास, अनमनी अम्बपाली उसके साथ बँगले के भीतर जाती है—पुष्पगधा सामने के उद्यान मे घूमती है—रह-रहकर काँप उठती है—अन्तत उसकी आँखो से आँसू झरने लगते है—क्यो? किसके लिए?]

५

[वेगवती नदी की पतली धारा सध्या की किरणो मे रगीन हो रही है—आनन्दग्राम की नारियाँ घडे लिये आती और जल ले जाती है—उनका आना-जाना लगा है—

धारा के उतार की ओर चरवाहे अपनी गायो और दूसरे जानवरो को लाते, पानी पिलाते और गाते-बजाते गाँव की ओर चल पडते है—

कुछ बच्चे धारा के चढाव की ओर तटभूमि की शीतल बलुई जमीन पर, बालू से घरौंदे का खेल कर रहे है—वे खेलते, उछलते, किलकारियाँ भरते, भागदौड मचाते—

ऊपर, असाढ के धूसर आसमान पर, पूरब क्षितिज की ओर, बादल का एक टुकडा दिखाई पडता है जिसकी ओर नारियो का ध्यान बार-बार जाता है—

सुमना घडा लिये आती दीखती है—उदास, उतरा हुआ, अनमना है उसका चेहरा—घडा धारा के किनारे रख वह बहुत देर तक बच्चो का यह घरौदा-खेल देखती है—रह-रह कर दीर्घ उच्छ्वास आप-से-आप निकल पडते है!—

आखिर घडे मे पानी लेकर जाना ही चाहती है कि मधूलिका कलसी लिये आती दिखाई पडती है—वह रुक जाती है—मधूलिका उसे देख लपककर पहुँचती और पूछती है—]

मधूलिका—मौसी, सुना, तुम फिर वैशाली गई थी।

सुमना—हाँ, गई थी। अम्बपाली ने रथ भेजा था।

जब औरत के दिल पर सदमा देखो, रोओ। जब मर्द के दिल पर ठेस लगे, होशियार हो जाओ।

मधूलिका—सही कहती हो, मौसी! मैं तो उसे देखते ही भय-भीत हो जाती हूँ। उस दिन वैशाली में जब लोग अम्बा को रथ पर ले चले, मैं दौड़ी, वह खड़ा रहा। दूसरे दिन वे हमें अम्बा के पास चलने को बुलाने आये, मैं गई, वह खिसका भी नहीं। जब हम वैशाली से लौट रहे थे, मैं रोती थी, वह चुप था। लेकिन, अब वही मैं हूँ, जो अपने को बहलाना चाहती हूँ, कभी-कभी इसमें सफल भी होती हूँ। लेकिन अरुण! मालूम होता है, जैसे अम्बा की याद दिन-दिन उसके दिल के गहरे-से-गहरे स्तर में पहुँचती जाती है। अम्बा को भूलने के बदले वह दिन-दिन अपने को भूलता जाता है। मुझे डर होता है, कहीं वह पागल . (एकबारगी वह सिर से पैर तक काँप जाती है)

सुमना—तेरा डर निराधार नहीं है, मधु! सब-कुछ हो सकता है। उसपर ज्यादा ध्यान रखने की जरूरत है। मैं तो बूढी हो गई, उसकी माँ भी बूढी है—हम तो अपने ही को नहीं सम्हाल पाती। यह काम तेरा है कि तू अरुण की रक्षा करे। फिर जवानी ही जवानी की काट है, बेटी!

[मालूम होता है, जैसे वंशी की ध्वनि निकट से निकटतर होती जाती है—बातचीत में गर्क होने पर भी दोनों इसको महसूस करती हैं—पहले मधु उस ओर नजर करती है, फिर सुमना—दूर पर, नदी के कछार पकड़े, वंशी बजाता, आता हुआ अरुणध्वज दिखाई पड़ता है—]

मधूलिका—मौसी, वह, वहीं है न?

सुमना—हाँ, वही तो है।

मधूलिका—आज इधर कहाँ भटक पड़ा? मालूम होता है, शायद उसे खबर हो गई कि तुम वैशाली से लौट आई हो? (सजल नेत्र और कातर वचन में) देख तो, मौसी, इन तीन महीनों में ही वह क्या से क्या हो गया है? कहाँ गई वह चौड़ी छाती, वे उलटे पुट्ठों-वाली मस्तानी बाहें। आह! ये बेसँवारे बाल—ये लटपटे कटिपट। धनुष-बाण की जगह यह करुणा की बेटी बाँसुरी! मौसी, मौसी, मेरी तो छाती फटी जाती है! (उसकी आँखों से अश्रुधारा चलने लगती है)

सुमना—मधु! ऐसे मौकों पर छाती को कठोर बनाना पड़ता है, बेटी! चल, हम नदी के ऊपर चलें, कछार पर ही उससे मिलें।

[दोनो तट के ऊपर कछार पर आती है—सूरज डूबने जा रहा है—वह छोटा-सा बादल का टुकडा आधे आसमान को ढक चुका है—अरुण सिर नीचा किये पगडडी पकडे वशी बजाता आ रहा है—उसकी दशा देख सुमना की अखो मे सावन-भादो उमड आते है—मधूलिका भर्राई आवाज मे पुकारती है—]

मधूलिका—अरुण !

अरुणध्वज—(सिर उठाकर दोनो को घूरता है, फिर बोलता है) कौन ? मौसी ? प्रणाम, मौसी !

सुमना—अरुण, मै वैशाली गई थी, अम्बा तेरी याद करती थी।

अरुणध्वज—(प्रश्नवाची स्वर मे) याद ! करती थी ? अम्बा मुझे याद करती थी ? क्यो मौसी ?

सुमना—हॉ, हॉ, याद करती थी। बहुत याद करती थी। एक दिन जाओ न ? मधूलिका को भी लेते जाना !

अरुणध्वज—(करुणामय हँसी के साथ) मधूलिका को भी लेते जाना ! खूब ! चल रे मधु, चल। वैशाली चल। चल रे, तुझे भी राजनर्तकी बना आऊँ। तू भी राजनर्तकी बनना, हजार-हजार राजकुमारो के मुकुटो को ठुकराना ! ! हॉ, हॉ, चल। कब चलती है, रे ?

मधूलिका—(आँचल से ऑसू पोछती) मौसी !

सुमना—अरुण, यो होश मत खो !

अरुणध्वज—(गम्भीर होकर) होश ! मै खोऊँगा ? नही मौसी, मै होश नही खो सकता। मै होश खोऊँगा तो अम्बा की याद कौन करेगा ? नही-नही मै होश नही खो सकता। अच्छा, बता—अम्बा कैसी है ?

सुमना—बडे मजे मे, तेरी बहुत याद करती थी !

अरुणध्वज—(फिर पूर्व-सा विद्रूप स्वर मे) 'तेरी बहुत याद करती थी !' 'बडे मजे मे !' (वह अकस्मात् ठठाकर हँस पडता है) मौसी, बडे मजे मे कैसे याद की जाती है, मौसी ! मेरी अच्छी मौसी जरा मुझे बता दो। बता दो। (मधूलिका की ओर मुखातिब होकर) तू जानती है, मधु ? तो क्यो नही बताती ? हॉ-हॉ, तुम लोग 'बडे मजे मे' याद करना जानती हो। वहॉ अम्बा 'मजे मे' याद करती है, यहॉ तू (मधूलिका की आँखो मे अश्रुप्रवाह देखकर उसकी भावभगी तुरत बदल जाती है) अरे, यह क्या ? तू रो रही है !

रो रही है' तो तू मजे से याद करना नहीं जानती। हाँ, हाँ, यह कल सिर्फ अम्बा

सुमना—(बीच ही में बात काटकर) यह तू क्या हुआ जा रहा है, बेटा?

अरुणध्वज—उस दिन माँ कह रही थी तू क्या हुआ जा रहा है बेटा? आज मौसी कह रही है तू क्या हुआ जा रहा है बेटा? क्या मैं सचमुच कुछ हुआ जा रहा हूँ मौसी! नहीं, नहीं, मर्द कुछ नहीं हो सकता। सिर्फ लड़कियाँ सब कुछ हो सकती हैं? अम्बा राजनर्तकी हुई, मधु राजनर्तकी होगी—(सिर खुजलाकर जैसे याद करता) वह, क्या नाम है उसका, उसका हाँ, रेणुका! रेणुका राजनर्तकी होगी, और वह (फिर सिर खुजलाता) मधु, जरा गाँव की सब लड़कियों के नाम बताती जा, भाई! तुम सब एक दिन राजनर्तकी हो जाओगी!! (मधूलिका फूट-फूटकर रोने लगती है—) अरे, तू तो हिचकियाँ लेने लगी! चुप रे चुप! हँस रे हँस! देखा नहीं, अम्बा उस दिन किस तरह हँस पड़ी थी—जोर-जोर से, ठठा-ठठाकर, ह-ह-ह-ह- ही-ही-ही-ही हो-हो-हो-हो! तू भी हँस! नहीं हँसती, ह? (मधूलिका की ठुड्डी पकड़कर) समझा रे, समझा! तुझे सोम-रस चाहिए। चल-चल, उस दूकान पर चल। तुझे भी थोड़ा सोम-रस पिला दूँ—सोमरस, सुधा, सुरा! फिर तू भी हँसेगी-हँसेगी और कहेगी—'अरुण! मैं राजनर्तकी मैं राजनर्तकी अरुण, मैं...'

[तब तक चारों ओर छाये बादल में अचानक बिजली कौंध जाती है—फिर जोरों से बादल गरज पड़ता है—अरुण आसमान की ओर देखता और'मौसी, प्रणाम' कहकर जिस रास्ते आया था, उसी से द्रुतपद भागता है—सुमना और मधूलिका विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देखती रह जाती है—]

दूसरा अंक

१

[वैशाली का शरद उपवन—बीच मे एक तालाब, जिसमे कुमुद के शत-शत फूल खिले हुए—फूलो को ठेलते हुए चकवो के अनगिनत जोडे किलोल कर रहे—उनके कलरव और पख की फटफट से समूचा तालाब मुखरित हो रहा—तालाब के परले कछार पर फूले कास की झुरमुटे सिर हिला रही—शेष तीन किनारो पर हर-सिंगार के अनेक झाड, जिनके फूल टप-टप करते थाले मे झड रहे—

तालाब से थोडा हटकर राजनर्तकी का शरद-प्रासाद—बिल्कुल सुफेद, दूध का धोया-सा—उसका प्रतिबिम्ब तालाब मे भी दिखाई पडता है—

प्रासाद की छत पर, खुले आसमान के नीचे, उजला दपादप फर्श बिछा—चारो ओर कुमुद के बदनवार लटके—बन्दनवार के बीच-बीच चाँदी के पिजडे टँगे, जिनमे खजन खिलवाड कर रहे—फर्श के बीच मे कुछ ऊँचा मच, जिसका कारचोबी का काम चमचम कर रहा—मच पर सोमरस से भरी चाँदी की सुराहियाँ और चुन्नी की प्यालियाँ रखी है—

बिल्कुल साफ आसमान पर शरद की पूर्णिमा का चन्द्रमा पूरब क्षितिज मे सिर उठाकर अपनी हँसी बिखेर रहा है—असख्य तारे

चमचम कर रहे हैं—चारों ओर स्वच्छ, धवल स्निग्ध चन्द्रिका छाई हुई है—पेडों की फुनगियों पर हल्का-हल्का सफेद कुहासा छाया हुआ है—
छत पर परिचारिका के साथ अम्बपाली आती है—

यह पाँच वर्ष पहले की अम्बपाली नहीं रह गई है—तब वह किशोरी थी, अब युवती है—उसके अग-अग भर चुके है—जवानी छलकी पडती है—चेहरे पर ओज है पैरों मे गम्भीरता—सिर कहता है, आसमान मेरा पैर कहते है जमीन मेरी—

बूटे-बोटे से चमचमाता बना श्वेत रेशमी परिधान है उसका, जिसकी किनारी मे मुक्ताओं की झालरें झलमल कर रही—उजली बारीक कचुकी के ऊपर लटकती मोती की माला की सुफेदी को कचुकी मे टँके दो बडे हीरों की दीप्ति और भी शुभ्र बना रही—शरीर के शेष नग्न भाग जैसे चाँदनी की सुफेदी मे घुले जा रहे हो—

वह चाद को एकटक निहारती है—फिर सारे आसमान का जैसा निरीक्षण कर जाती है—उसके बाद खजन के एक पिजडे के निकट जाती और उसे हिला देती है—खजन पख फडफडाने लगते हैं वह मुस्कुराती है—पिजडे से हटकर वह फर्श के मसनद पर जाती और मसनद से उठग कर बैठती है—परिचारिका से कहती है—]

अम्बपाली—चयनिके, थोडा सोमरस पिला।

[सुराही से ढालकर चयनिका प्याली मे उसे सोमरस देती है—कई प्यालियाँ घट-घट पी जाती है—फिर कहती है—'अभी रहने दे' और चाँद की ओर देखती लेट जाती है—थोडी देर तक उसे देखते रहने के बाद चयनिका से पूछती है—)

चयनिके, आदमी चाँदनी क्यों पसन्द करता है, तू जानती है?

चयनिका—शायद इसलिए कि चाँदनी बडी शीतल होती है भद्रे!

अम्बपाली—शीतल होने के कारण?

चयनिका—तो भला?

अम्बपाली—दुर पगली, कहीं आदमी शीतलता पसद करता है? आदमी ऊष्णता पसद करता है, गरमी पसद करता है। इसी गरमी के पाने के लिए वह सोमरस पीता है, इसी गरमी की तलाश मे प्रिया या प्रियतम के वक्षस्थल की खोज मे व्याकुल रहता है। गरमी जिन्दगी है! और शीतलता? शीतलता, ठढक तो मौत है, रे! आदमी शीतल हुआ, ठढा पडा और मरा! कहीं मौत भी पसन्द की जाती है? (मुस्कुरा पडती है)

चयनिका—तो चाँदनी क्यों पसद की जाती है आर्ये ?

अम्बपाली—अब मुझी से सवाल कर बैठी ? पहले तू तो बता ले ?

चयनिका—शायद इसलिए कि चाँद बहुत सुन्दर है और 'सुन्दरे कि न सुन्दरम्' !

अम्बपाली—खूब ! 'सुन्दरे कि न सुन्दरम्' ! लेकिन चाँद की सुन्दरता का भडा उसी दिन फूट गया, जब एक नारी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो, देवताओं के राजा समेत, वह जमीन पर उतरा और इनाम मे अपने शरीर का यह काला धब्बा पाया। तू ने अहल्या का नाम सुना है, चुन्नी ?

चयनिका—वही न, जिनकी गिनती पचकन्याओं मे होती है ?

अम्बपाली—हाँ, वही। उन्होंने अपने सौन्दर्य की महिमा से देवों को, देवराज को, जमीन पर उतरने को लाचार किया, हम नारियों की गरिमा बढा दी, इसीलिए अभिशप्त होने पर भी पचकन्याओं मे उनकी पहली गिनती है, वह प्रात. स्मरणीया है। (हाथ जोड़कर मन-ही-मन प्रणाम करती है) चुन्नी, कुछ और तो अटकल लगा ?

चयनिका—मेरी समझ मे कुछ नही आता, आर्ये !

अम्बपाली—नही आता ? तो सुन। आदमी चाँदनी इसलिए पसद करता है कि इसमे एक कुहेलिका है, प्रहेलिका है। सत्य के सीधे-सादे वास्तविक रूप से आदमी घबराता है। हमेशा देखोगी, विज्ञान की अपेक्षा आदमी कविता अधिक पसद करता है।

चयनिका—कविता तो मुझे भी बहुत पसद आती है भद्रे !

अम्बपाली—सभी को पसद है। आदमी निखालिस चीज कभी नही पसद करता। वह निखालिस न सत्य पसद करता है, न असत्य, न ज्ञान पसद करता है, न अज्ञान। वह दोनों का सम्मिश्रण खोजता है। आदमी अधकार नही पसद करता, क्योंकि वह उससे डरता है। यों ही सूरज की रोशनी भी उसे पसद नही, क्योंकि वह सब चीजों को उसके सामने नगा-सा करके रख देती है। चाँदनी वह इसलिए पसद करता है कि उसमे न तो अधकारवाला डर है, न रोशनीवाला नँगापन ! आदमी स्वभावत रहस्यवादी होता है, चयनिके !

चयनिका—(साश्चर्य) रहस्यवादी ?

अम्बपाली—हाँ, रहस्यवादी ! हम-तुम परिधान ही क्यों पहनते है ? तू जानती है ?—स्वर्ग मे सभी नगे रहते है ! हाँ, सभी देवकुमार, देव, देव-पत्नियाँ, अप्सराएँ। वे परिधान की आवश्यकता ही नही महसूस करते—बिल्कुल नग्न रहते हैं, एक दूसरे से खुले-

फिरते है। न आवरण, न बधन ! लेकिन आदमी को अपनी वासना के नग्न प्रदर्शन मे लज्जा हुई उसने परिधान बनाये वासना को रहस्यमय रूप दिया। एक रहस्य ने हजारो रहस्यो की सृष्टि हुई। अब हालत यह है कि वह बिना रहस्य के जी नही सकता !

[इसी समय दूसरी परिचारिका नीचे से आती है कहती है—]

दूसरी परिचारिका—राजकुमार वसुवधु चार-पाँच राजकुमारो के साथ पधारे है, आये !

अम्बपाली—(अभिमान से ओतप्रोत, भौहे चढाकर) कह दे, अभी ठहरे। और सुन, जब तक सब राजकुमार न आ जायँ, उन्हे नीचे ही बैठाती जाना। जा—

[दूसरी परिचारिका जाती है—]

अम्बपाली—सुनती है, चुन्नी। नारी की जिन्दगी दो ही तरह की हो सकती है(पश्चिम की ओर, डूबने के पहले, लाल बल-से रहे मगल तारा की ओर दिखाती) या तो उस मगल तारा की तरह, जो सध्या की लाली मे अकेला उगता, कुछ देर अपनी झलक अकेला दिखलाता और फिर चुपचाप सदा के लिए अकेला डूबने जा रहा है। (पूरब की ओर मुस्कुराते-से चाँद को दिखाती) या इस चाँद की तरह, जो हजार-हजार तारो से घिरा रहकर अपनी हास्य-ज्योत्स्ना से जगत को पुलकित-प्रफुल्लित किये रहता है। नारी के लिए बीच का रास्ता नही है, चयनिके ! (थोडी देर रुककर) तू इन तारो को पहचानती है चुन्नी ?

चयनिका—जमीन से ही कहाँ फुर्सत मिलती है जो ऊपर देखूँ, भद्रे !

अम्बपाली— (मुस्कुराकर) शोख लडकी ! (उसके गाल पर एक दुलार-भरे प्रेम की हल्की चपत लगाती) अच्छा देख। (आसमान के तारो की ओर उँगली से बताती हुई) यह है आकाशगगा—इसी मे नग्न देव-सुन्दरियाँ और अप्सराएँ उभ-चुभ नहाकर अनन्तयौवना बनी रहती है, इसीके किनारे गुरुपत्नी तारा युवा शिष्य सोम के लिए व्याकुल फिरा करती थी और इसी मे से एक घडा जल लेकर वह रोहणी पहली असाढ को धरती पर उडेल देती है, जिससे सूखे पेड हरे हो जाते है, मरी दूब जी उठती है और बीज मे बेहोश सोया अकुर अचानक जग पडता और जमीन फोडकर बाहर निकल आता है ! वह है कृत्तिका (कचपचिया)—कैसी ? हीरे की कणिकाओ के चमचमाते गुच्छे जैसी। और, वह है तुला। (डडी-तराजू)

जो रात-भर इस पृथ्वी पर होनेवाले पाप-पुण्य को तोलती रहती और उसका लेखा-जोखा उस सुदूर ध्रुव को देती जाती है, जो इस चचल संसार—जगत्या जगत्—में एकमात्र स्थिर वस्तु है?

चयनिका—और, वह क्या है आर्ये, सप्तर्षि न? (उँगली से बताती)

अम्बपाली—हाँ, ध्रुव को केन्द्र बना, साल-भर में एक अर्धवृत्त बना लेने वाले सप्तर्षि वही हैं। उनमे वह है वशिष्ठ।

चयनिका—जिनकी बगल में वह अरुंधती है? है न? उस दिन अपनी एक सखी की शादी में मैं गई थी, शादी के बाद उसे लोगो ने अरुंधती दिखाई थी। ऐसा क्यो होता है, आर्ये?

[अम्बपाली इस प्रश्न से चौंक उठती है—उसे तुरत याद हो आती है, बचपन की बातें—जब वह सोचती थी, वह भी वधू बनेगी, मडप पर भाँवरे देगी, अरुंधती देखेगी—किसके साथ?—उसके सामने अरुण की तस्वीर खड़ी हो जाती है—वह एकटक उस काल्पनिक तस्वीर को देखती रह जाती है—उसकी साँस तेज होने लगती है—उसकी आँखे डबडबा आती हैं—वह काँप उठती है—भर्राई आवाज मे कहती है—]

अम्बपाली—थोड़ा सोमरस ला, चुन्नी!

[चयनिका सोमरस देती जाती है, वह प्याली पर प्याली खाली करती जाती है—लगातार उसे यों पीते देखकर चयनिका भयभीत हो जाती है—उसके हाथ काँपने लगते हैं—सोमरस की कुछ बूँदें मच पर छलक जाती हैं—अम्बपाली इसे देखती है और कहती है—]

अरे, तेरे हाथ क्यों काँप रहे हैं रे! दे, दे। देती जा, देती जा। बड़ी अच्छी चीज है यह चयनिके! सब कुछ भुला देती है, सब कुछ। सब कुछ भुला देती है, आनन्दलोक मे पहुँचा देती है। दे, ढाल—(दो तीन प्याली और पीती है—फिर प्याली रखकर कहती है)—चुन्नी, तू जानती है, आनन्दलोक किसे कहते हैं?

चयनिका—मैं क्या जानूँ, भद्रे!

अम्बपाली—आनन्दलोक और कुछ नहीं, वह विस्मृति का लोक है! विस्मृति का लोक—जहाँ सब कुछ भूल जाया जाय। न दुनिया की याद रहे, न दीन की, न यह लोक याद रहे, न परलोक। आनन्द एक भावावेश है, चयनिके! जहाँ भावावेश टूटा, अपनी याद आई, दुनिया की याद आई, फिर आनन्द का पंछी भी फुर्र से उड़ा। आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द, परमानन्द—जो नाम दे दो सबका मूलसूत्र एक ही है—भावावेश, विस्मृति, बेहोशी, बेखुदी।

[नीचे से फिर परिचारिका आती है और अभिवादन कर कहती है]

दूसरी परिचारिका—नीचे राजकुमारों का ठट्ठ जुटा है, भद्रे! वे कहते हैं, आज शरद-पूनो है, विलम्ब क्या उचित है?

अम्बपाली—(चयनिका से) हाँ, हाँ, आज शरद-पूनो है रे। मैं यह भी भूली जा रही थी। आज ही कृष्ण ने लीला रचाई थी न? बीच में कृष्ण, चारों ओर गोपियाँ। नीचे जमुना कलकल कर रही, ऊपर चाँद हँस रहा। आज अम्बपाली भी रास रचायगी, इस पूनो के चाँद के नीचे रस की यमुना बहायगी। वहाँ था एक पुरुष, हजार नारियाँ। आज होगी एक नारी—और, हजार-हजार—हाँ, हजार-हजार राजकुमार! (दूसरी परिचारिका से) जा—उन्हे भेज।

[परिचारिका नीचे जाती है—राजकुमारों का ठट्ट आने लगता है—चयनिका सुराही से सोमरस ढालती है—अम्बपाली अपने हाथों से उन्हे सोमरस देती जाती है—उनके सोमरस पीने के बाद अम्बपाली खड़ी होती है, अँगड़ाई लेती है, एक बार चाँद को देखती है, फिर गाने और नाचने लगती है—]

कह गई यह चाँदनी—
सो रही मैं आज उन्मन
बह रही थी पवन सनसन
अधर गुनगुन
चरण रुनझुन
स्वप्न की तस्वीर-सी उतरी परी उन्मादिनी।
कौन थी, क्या चाँदनी?

कह गई यह चाँदनी—
तोड़ यह भव-बंध सारा
तोड़ विधि की निठुर कारा
उड़ चली चल
दूर नभ-तल
स्वर्ग-गंगा के किनारे आज एक कुटिया बनाये
रास उसके धवल आँगन में मुदित मन हम रचाये
छूम-छन-नन
मधुर शिंजन
गगन गनगन हो उठे, डोले धरित्रि प्रमादिनी
—बोलती थी चाँदनी!

[बीच-बीच मे अम्बपाली किसी राजकुमार का हाथ पकडकर नाचने लगती है—वह निहाल हो उठता है, दूसरे की भवो पर बल पड जाते है—उनकी भावभगी देख नाचती ही नाचती वह सोमरस की प्याली पर प्याली उन्हे देने लगती है—सब मस्त होकर नाचने लगते है—इस शरद मे भी सबके चेहरे पर पसीने की बूँदे है—अम्बपाली का चेहरा तारा-मडित शरद-चन्द्रमा लग रहा है—]

२

[वैशाली मे दूसरी बार भगवान बुद्धदेव पधारे है और अम्ब-पाली की आम्रवाटिका मे ठहरे है—

इस खबर से ही सारी वैशाली मे हलचल मच जाती है और वहाँ के नागरिक और नागरिकाएँ अपने-अपने रथ सजाकर उस आम्र-वाटिका की ओर चल पडते है—

अम्बपाली को खबर होती है, वह भी अपने सजे-सजाये रथ पर चढकर चल पडती है— उसका वह गगाजमनी रथ, जिसमे दो पुष्ट श्वेत अश्व जुते—रथ के ऊपर वृज्जिसघ की राजनर्तकी की मीनकेतन-पताका लहरा रही, जिसमे नीली जमीन पर सोने के तार से बनी मछली की आकृति—

आम्रवाटिका के द्वार पर रथ से उतर, अम्बपाली अपनी परि-चारिका चयनिका को बुद्धदेव के पास आज्ञा लाने को भेजती है—

आम्रवाटिका के मध्य मे भगवान बुद्ध शिष्यो के साथ विराज-मान है—बीच मे एक ऊँचा आसन है, जिसपर वह बैठे है—सिर, भवे, दाढी, मूँछ सबके बाल मुडे हुए—छोटे-छोटे पीले कपडो के टुकडो से सीकर बनाया गया उनका लबादा मगध के छोटे-छोटे धनखेतो की तरह लगता है—वह बिल्कुल ध्यानमग्न है—उनकी बगल मे उनके प्रधान शिष्य आनन्द है और आसन के नीचे उनका शिष्य समूह—सबकी वेशभूषा बुद्ध की ही तरह की—

चयनिका को आते देख एक शिष्य बढता और उसके हाथ का एक पुर्जा आनन्द को लाकर देता है—पुर्जा पढकर, ध्यानस्थ बुद्ध जब आँखे खोलते है, तब आनन्द उनसे कहते है—]

आनन्द—भगवान, अम्बपाली आपके दर्शन चाहती है।

भगवान बुद्ध—(गम्भीर भाव से) अम्बपाली?

आनन्द—हाँ, भगवान, वैशाली की राजनर्तकी।

भगवान बुद्ध—धर्म का मार्ग सबके लिए खुला है, आनन्द!

(चयनिका यह सुनती है और सिर झुकाकर चल देती है—उसके कुछ दूर निकल जाने के बाद) लेकिन एक बात है आनन्द! अम्ब-पाली के बारे मे मैने जो कुछ सुन रखा है मै चाहता हूँ, उसके आने के पहले हमारे सभी शिष्य आँखे मूँद ले।

आनन्द—(विस्मित होकर) आँखे मूँद ले?

भगवान बुद्ध—तुम्हे आश्चर्य हो रहा है, आनन्द!

आनन्द—भगवान, आश्चर्य होने की बात ही है। हम भिक्षु है, कोई आवे, कोई जाय, हमपर उसका असर क्या हो? क्यो हो? भिक्षुओ के बारे मे ऐसा सोचना क्या उनपर अविश्वास या उनका अपमान नही है? (आनन्द का चेहरा लाल हो उठता है)

भगवान बुद्ध—यहाँ अपमान और अविश्वास की कोई बात नही है आनन्द! हम तो धर्म के मध्यम मार्ग के अनुयायी है। आज भी मेरे कानो मे निरंजना के तीर का वह स्वर्गिक गान नही भूलता—"वीणा के तार को इतना मत ऐंठो कि वह टूट जाय, न इतना ढीला रखो कि शब्द ही न निकले!"

आनन्द—लेकिन सम्यक् समाधि के बाद हममे इतनी साधना तो होनी ही चाहिए कि हमारा मन झकोरो मे भी मणिदीप-सा निर्धूम और एकरस बना रहे।

भगवान बुद्ध—तुमने ठीक कहा, आनन्द! लेकिन एक बात हमे नही भूलनी है। हम बच्चो की तरह दीपशिखा को चमकता खिलौना समझकर उसके पकड़ने से कही अपना हाथ न जला ले।

आनन्द—इसे स्पष्ट किया जाय, भगवान।

भगवान बुद्ध—सुनो, सौन्दर्य अगर सच्चा सौन्दर्य है, तो उसमे एक जादू होता है। जादू और कुछ नही, सम्मोहन है। जो सतत चेतन, हमेशा चौकस मन नही है उसपर सम्मोहन का असर होकर रहेगा, और कितने ऐसे सौभाग्यशाली है, जिन्होने मन पर स्थायी लगाम दे रखी है? इसलिए ऐसे मौको से बचकर ही रहना श्रेयस्कर है। अँधेरी रात मे कभी साँप की आँखे तुमने देखी है? दीप-शीखा-सी जलती वे सुन्दर, मादक आँखे। उन आँखो से आँखे लड़ाना कोई बुद्धिमानी नही है, आनन्द!

आनन्द—लेकिन, इस तरह तथ्य से कब तक आँखे मूँदी जा सकती है भगवान?

भगवान बुद्ध—तो, तुम तार को ऐंठते जानेवाली बात का समर्थन कर रहे हो। इसी ऐंठन मे कितनी ऐसी वीणाएँ टूट गई, जिनकी

झकार से संसार मे न जाने कितने अधिक सुख का गुजार हो पाता। प्राचीन काल मे हमारे कुछ ऋषियो ने यही गलती की थी। तपस्या के झोके मे पहले तो तपते-तपते शरीर गला लिया, फिर उसके प्रतिक्रिया-स्वरूप एक रम्भा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर सारी साधना की अजलि चढा दी। मध्यम मार्ग पकडो, आनन्द, मध्यम मार्ग!

आनन्द—भगवान की आज्ञा सिर-आँखो पर। भिक्षुओ, आप आखे मूँद ले।

[सभी भिक्षु आँखे मूँदते है—आनन्द भी आँखे मूँद लेत है—भगवान बुद्ध आनन्द को भी आँखे मूँदते देखकर कहते है—]

भगवान बुद्ध—तुम्हे इसकी जरूरत नही है, आनन्द! आनन्द तो बुद्ध की छाया है, जिसका बुद्ध पर असर नही हो सकता, उसका आनन्द पर भी असर नही होगा!

[आनन्द आँखे खोल देते है—दोनो दूर पर आती हुई अम्बपाली को देखते है—भगवान बुद्ध कहते है—]

भगवान बुद्ध—देखते हो, आनन्द, यह रूप?

आनन्द—सचमुच, भगवान, ऐसा रूप मैंने कही नही देखा था।

भगवान बुद्ध—यह अलौकिक रूप है! मुझे यह देखकर, आनन्द, बुद्धत्व प्राप्तिवाले दिन के दृश्य याद आ रहे है, जब मार की प्रेरणा से ऐसी ही अनेक परियाँ मेरा तप भग करने को मेरे निकट पधारी थी।

आनन्द—भगवान पर उनका क्या असर होता भला? यह मार का सरासर अविचार था।

[तबतक अम्बपाली निकट आ जाती है—आसन के नीचे आकर, सिर झुका, भगवान का अभिवादन करती है—भगवान बुद्ध हाथ उठाकर उसे आशीर्वाद देते है—अम्बपाली घुटनो पर झुकी हाथ जोडकर कहती है—]

अम्बपाली—भगवान, मै कृतार्थ हो गई। सारी वैशाली मे भगवान को मेरी ही आम्र-वाटिका पसद आई! आज मेरे सौभाग्य का क्या कहना?

आनन्द—आर्ये, तथागत के धर्ममार्ग मे किसी प्रकार का भेद-भाव नही है। उनके लिए सभी प्राणी समान है। रहा सौभाग्य! सो कोई किसी को देता नही, वह उसकी अपनी चीज होता है—

[भगवान बुद्ध सिर्फ मुस्कुराते रहते है—]

अम्बपाली—भिक्षुवर, अम्बपाली सौभाग्य पाती नही, लेती भी है। एक सौभाग्य अनायास मिला, तो दूसरा वह स्वय लेने आई है।

आनन्द—(कुछ सावधान-सा होकर) आपका मतलब?

अम्बपाली—मैं भगवान को अपने घर भोजन करने को आमन्त्रित करने आई हूँ।

आनन्द—भिक्षु के लिए भोजन के आमन्त्रण की आवश्यकता नहीं होती, आर्ये! वह अनिमन्त्रित ही जाता और जहाँ जो प्राप्त होता है, वही वह भोजन कर लेता है। यही नियम है।

अम्बपाली—(साधिकार) नियम है, होगा। किन्तु अम्बपाली को विश्वास है, वह भगवान से जो वरदान माँगेगी, उसमे उसे 'नाही' नही मिल सकती।

[आनन्द भगवान की ओर देखते है—भगवान मौन रह जाते है—लेकिन उस मौन से स्वीकृति स्पष्ट झलक रही है—अम्बपाली का मस्तक कृतज्ञता से झुक जाता है—हाथ बढाकर बुद्ध का चरण छूती है—चलने के लिए खडी होती हुई वह आनन्द से कहती है—]

अम्बपाली—भिक्षुवर, अम्बपाली अपनी जिन्दगी मे पहली बार, भगवान के लिए अपने हाथो रसोई बनाने जा रही है। क्या वह आशा कर सकती है, भगवान के साथ आप भी पधारेगे?

आनन्द—छाया शरीर को कैसे छोड सकती है, आर्ये!

[इधर बगीचे के फाटक पर कोलाहल बढता जाता है—अम्बपाली भगवान का अभिवादन कर चलती है—चलते समय अम्बपाली का ध्यान भिक्षुओ की मुँदी आँखो की ओर जाता है—वह आश्चर्य चकित हो भगवान की ओर देखती है—बुद्ध मुस्कुरा रहे है—उसी समय फाटक की ओर से तुमुल जयनाद सुनाई पडता है, जो वृज्जि-सघ के महामात्य के आगमन का सूचक है—अम्बपाली फिर अभिवादन कर वहाँ से चल देती है—

वैशाली का एक नागरिक आता और आनन्द के हाथो मे वृज्जि-सघ के महामात्य का, आगमन के लिए आज्ञा चाहनेवाला, पुर्जा रख देता है—भगवान बुद्ध का रुख देख स्वय आनन्द उनकी अगवानी के लिए जाते है—

महामात्य चेतक के नेतृत्व मे वैशाली के नागरिको और नागरिकाओ का झुड आ रहा है—उन्हे देखकर भगवान बुद्ध भिक्षुओ को सम्बोधित करते है—]

भगवान बुद्ध—भिक्षुओ, आपमे से जिन भिक्षुओ ने कभी देवताओ की परिषद् नही देखी है, वे वृज्जियो की इस परिषद् को

ध्यान से देखे, उनका निरीक्षण करे और इसीसे देवताओ की परिषद् का अनुमान करे!

[उन्हे निकट आया देख भगवान बुद्ध उनके सम्मान मे अपने आसन से खडे हो जाते हैं—महामात्य चेतक और सभी नागरिक तथा नागरिकाएँ भगवान बुद्ध का अभिवादन करते हैं—फिर आनन्द सबको सम्मान के साथ यथायोग्य आसन पर विठलाते हैं—महामात्य भगवान बुद्ध से कहते हैं—]

महामात्य चेतक—भगवान, आपके शुभागमन से हमारा वृज्जिसघ कृत-कृत्य हुआ, वैशाली पवित्र हुई। भगवान ने इस वार अनिमत्रित ही पधारकर हमारे सौभाग्य को कितना बढ़ा दिया है!

भगवान बुद्ध—पहली वार मैं आपके निमंत्रण पर आया था। लेकिन एक वार यहाँ आने पर ही वैशाली मेरी अपनी नगरी हो चुकी; फिर, निमत्रण की क्या जरूरत रही महामात्य? हाँ, इस वार मैं ही आपके नागरिको को निमत्रण देने आया हूँ।

म० चेतक—भगवान का आमत्रण! हमे लज्जित न करे भगवान। हम आपके आमत्रण के नही, आज्ञा के पात्र है। आपकी जो आज्ञा होगी, हम उसे सिर-आँखो पर लेगे, भगवान!

भगवान बुद्ध—(मुस्कुराते हुए) नही-नही, आमंत्रण ही। मैं आपलोगो को विजय का आमत्रण देने आया हूँ।

म० चेतक—(आश्चर्य से) आमत्रण और विजय का? भगवान, हमारा सघ न किसी की विजय वर्दाश्त कर सकता है और न किसी की स्वतत्रता पर हाथ उठाता है। विजय तो तुच्छ राजतत्रवालो की घृणित आकाक्षा है। भगवान हमारी जाँच न करे, हमे धर्म का मार्ग वताये।

भगवान बुद्ध—(गम्भीर होकर) जिस धर्म मे विजय की आकाक्षा न हो, उसे धर्म मत समझो वृज्जियो! धर्म के मानी ही है—अपने पर विजय प्राप्त करना फिर ससार पर विजय प्राप्त करना।

म० चेतक—अपने पर विजय तो समझा, किन्तु ससार पर—?

भगवान बुद्ध—हाँ, ससार पर। वह विजय क्या हुई जो ससार पर न छाई? छोटे मन और सकुचित आकांक्षा को छोडो। अपना उद्देश्य महान करो, अपनी दृष्टि ऊँची करो। फिर विजय-अभियान को निकलो—सारा ससार तुम्हारे पैरो पर आप आ झुकेगा।

म० चेतक—यह विजय-अभियान हमारी समझ मे नही आता, भगवान!

भ० बुद्ध—समझ मे नही आता? (कुछ देर ध्यानस्थ होकर) अभी शायद वक्त नही आया है महामात्य! अभी तो विजय के मानी है हत्या, हिंसा, रक्तस्नान, अग्निकाड, क्रदन, आर्तनाद। यह विजय है, या विनाश? मै जिस विजय की कल्पना करता हूँ और जिसके अभियान के लिए सबको आमत्रित कर रहा हूँ वही यथार्थ विजय होगी, वृज्जियो! इस विजय-अभियान के सैनिको के हाथो मे फौलाद की तलवार या गैडे की खाल की ढाल के बदले एक हाथ मे ताम्रपत्र पर लिखी कुछ पोथियाँ होगी और दूसरे मे भिक्षा-पात्र होगा। उनके शरीर पर जिरह-बख्तर न होकर (अपने लबादे की ओर इशारा करके) टुकडे-टुकडे चीथडो मे बने, मिट्टी के रग मे रँगे, पीले वस्त्र होगे और उनके मुँह से दानवी जयनाद नही, विश्वकल्याणकारी श्रुति-मधुर पूत मत्र निकलकर दिगदिगन्त को मुखरित करेगे। मै कल्पना की आँखो मे देख रहा हूँ, हमारे ये सैनिक हिमाचल के दुर्दम शिखरो को रौदते, समुद्र की उत्ताल तरगो को कुचलते, उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम, चारो ओर फैल रहे है ओर ये जहाँ जाते है, उनका मुकाबला न होकर स्वागत हो रहा है और वे देश पर देश विजय करते जा रहे है! (कहते-कहते बिल्कुल ध्यान-मग्न हो जाते है और उनके चेहरे से आभा निकलने लगती है)

म० चेतक—(दीप्ति के आगे सिर झुकाते) भगवान की कल्पना सत्य होगी, क्या इसमे किसी को कोई सन्देह हो सकता है? और इस विजय मे हम वृज्जि भी अपना योग्य हिस्सा लेगे—हमारी वैशाली अपना अर्घ्य अर्पित करने मे पीछे नही रहेगी, भगवान इस-पर विश्वास रखे।

भगवान बुद्ध—वृज्जिसघ तथागत को कितना प्रिय है, क्या वह सिर्फ शब्दो मे कहा जा सकता है? तथागत के धर्मसघ के विधान का आधार तो सघराज्य से ही लिया गया है। वृज्जि इस धर्म-विजय मे योग्य हिस्सा लेगे और वैशाली? मै देख रहा हूँ, जब तथागत के धर्ममार्ग पर कोई विवाद उठ खडा होगा, उसके निबटारे का सौभाग्य वैशाली को ही प्राप्त होगा, और जब युगो के थपेडो ने इस महान नगरी के धुर्रे उडा दिये होगे, तब भी इसकी मिट्टी के दर्शन के लिए जम्बूद्वीप के कोने-कोने से लोग आवेगे!

[वैशाली की इस महिमा को भगवान बुद्ध के मुँह से सुनकर सभी वृज्जि पुलकित हो जाते—गद्गद कठ से महामात्य चेतक कहते है—]

म० चेतक—भगवान का आशीर्वाद हमारा सौभाग्य है। हम वृज्जि

भगवान के चिर-अनुगृहीत है। हम इस आशीर्वाद के योग्य पात्र सिद्ध हो, यही हमारी आकाक्षा है। (अभिवादन करते है) खैर, अब एक निवेदन है।

भगवान बुद्ध—बोलिये, महामात्य।

म० चेतक—मै सघ की ओर से भगवान को अतिथि-आवास मे चलने और सघ का आतिथ्य स्वीकार करने का निमत्रण दे रहा हूँ।

भगवान बुद्ध—सघ का निमत्रण तो हमेशा ही स्वीकृत है। किन्तु क्या सघ अपने एक नागरिका के आमत्रण का अपमान होने देगा?

म० चेतक—नागरिका? आमत्रण?

भगवान बुद्ध—अभी-अभी आर्या अम्बपाली आई थी और वह निमत्रण की स्वीकृति भी ले चुकी।

म० चेतक—वह निमत्रण ही देने आई थी?

[इसी समय पीछे आकर बैठे नागरिको मे से एक बोल उठता है—]

एक नागरिक—तभी वह हमलोगो के रथ से अपने रथ की धुरी लडाती, बेतहाशा उडी जा रही थी! (सब उसकी ओर देखते है) मैने पूछा, इतनी खुश क्यो हो आर्ये? तब वह मुस्कुराकर बोली—भगवान मेरे यहाँ जेवनार को जो आ रहे है। एक लक्ष मुद्रा लेकर यह सौभाग्य मुझे देने का मैने निवेदन किया। किन्तु उसने नाही कर दी!

म० चेतक—एक लक्ष मुद्रा!

नागरिक—हाँ, महामात्य! वह हर्षोन्माद मे कह बैठी—वैशाली की समस्त सम्पदा की कीमत पर भी यह सौभाग्य मै नही दे सकती! वह तो फूली नही समा रही थी।

म० चेतक—(जरा मुस्कुराहट मे) ओहो, अम्बा ने हमे हरा दिया।

भगवान बुद्ध—अम्बपाली साधारण नारी नही है, महामात्य। वैशाली की कीर्ति मे अम्बा की कीर्ति चार चाँद लगा देगी, ऐसा मुझे स्पष्ट भास रहा है।

[सभी नागरिक भगवान के मुँह से अम्बपाली की यह प्रशस्ति सुनकर आश्चर्यचकित रह जाते है—एक दूसरे का मुँह देखने लगते है—महामात्य चेतक भगवान बुद्ध का अभिवादन करके सभी नागरिको के साथ प्रस्थान करते है—]

३

[अम्बपाली के विलास-भवन का शृंगारकक्ष—दीवारो पर तरह-तरह की रगीन चित्रावली—ऊपर नीले रग का चँदोवा टँगा, जिसमें

जहाँ-तहाँ रत्नों के गुच्छे लटक रहे—मानो शरद-आकाश मे प्रदीप्त तारे! नीचे जो हरे रग की कालीन बिछी है उसमे काढ़े हुए लाल कमल के फूल स्वच्छ जलवाले सरोवर मे खिले कमल-पुंज-से दीख पड़ते है—

कमरे की दीवार के बीच मे उसी से सटा एक बड़े स्वर्ण-दर्पण के सामने एक छोटा गद्दीदार मच है—मच के दोनो ओर शृगार-प्रसाधन के अनेक सामान सोने-चाँदी और हाथी-दाँत के छोटे-छोटे सदूकचो मे रखे है—

मच पर बैठी अम्बपाली दर्पण मे अपने को देख रही है—तुरत स्नान करके वह आई है—बाल खुले है, जिनपर पानी की बूँदे चमक रही है—धानी रग का परिधान है उसका—कचुकी अभी पूरी कसी नही है—दर्पण मे वह अपने इस रूप-यौवन को एकटक देख रही—

थोड़ी देर दर्पण मे देखने के बाद वह उठती और कमरे मे टहलने लगती है—तस्वीरो को देखती, कभी सिहर उठती, कभी बुदबुदाती, फिर मच पर आ बैठती है—दर्पण मे उसकी रूप-आभा चमक पड़ती है—

उसकी परिचारिका चयनिका कमरे मे आती है—उसकी आहट सुन वह उसकी ओर मुड़ती और पूछती है—]

अम्बपाली—क्या है चुन्नी?

चयनिका—आपने अभी तक प्रसाधन नही किया?

अम्बपाली—न किया, न करूँगी।

चयनिका—हाँ, भगवान बुद्ध के जाने से हम सबका चित्त आज खिन्न है।

अम्बपाली—तेरा चित्त भी?

चयनिका—भला!

अम्बपाली—क्यो खिन्न है, रे?

चयनिका—क्यो न खिन्न हो, आर्ये? इन दिनो कैसा धूमधाम रहा यहाँ!

अम्बपाली—ठीक, हम सब धूमधाम चाहते है—हाँ, धूमधाम! चाहे वह धूमधाम खेल-तमाशे का हो, नृत्य-गीत का हो, या भजन-प्रवचन का।

चयनिका—यह क्या कह रही है आर्ये? कहाँ भगवान बुद्ध का दिव्य प्रवचन, कहाँ तुच्छ खेल-तमाशे, नृत्य-गीत!!

अम्बपाली—तुझे भगवान के प्रवचन अच्छे लगे?

चयनिका—तो भला!

अम्बपाली—तब तू बूढ़ी हो चली!

चयनिका—(चौंककर) मैं बूढ़ी?

अम्बपाली—हाँ, हाँ, बूढ़ी। सबसे दयनीय दृश्य वह होता है चय-निके, जब बुढ़ापा जवानी के शरीर में घुस जाता है। ऊपर जवानी के रंग, भीतर बुढ़ापे का घुन—मानो, लाल सेब के भीतर सड़ी हुई गुद्दी!

चयनिका—छी, छी, यह क्या कहती हैं सखे? मैं बूढ़ी नहीं हूँ।

अम्बपाली—बूढ़ी, जब मन में शृंगार की जगह विराग ले ले, खेल-तमाशे के बदले भजन-ध्यान अच्छा लगे, भीड़ से भागकर मन आदमी एकान्त खोजे, संघर्ष पर जब शान्ति हावी हो जाय, तब समझ लेना चाहिए, बुढ़ापा आ गया। रंग-बिरंगे पट की जगह जब सादा श्वेत वस्त्र भाये, तब जान लो, आदमी ने मरघट की ओर पैर बढ़ा दिये।

चयनिका—मरघट की ओर? मैं अभी मरना नहीं चाहती, सखे।

अम्बपाली—मरना नहीं चाहती है, तो जीना सीख। जीना भी एक कला है, चयनिके! कुछ लोग जिन्दा भी मरे हुए हैं, कुछ मरकर भी जिन्दा रहेंगे।

चयनिका—कुछ मरकर भी जिन्दा रहेंगे, जैसे भगवान बुद्ध। क्यों सखे?

अम्बपाली—और अम्बपाली भी!

चयनिका—(आश्चर्य से आँखें फाड़ती अम्बपाली की ओर देखती है)

अम्बपाली—(हँसती हुई) हाँ, हाँ, अम्बपाली भी। और जो अखाड़े में जब युद्ध होता है, वह कैसा भयानक दृश्य होता है, तूने देखा है रे?

चयनिका—(घबराई हुई) युद्ध?

अम्बपाली—हाँ, जब अम्बपाली और भगवान बुद्ध में युद्ध हुआ।

चयनिका—आपमें और भगवान में युद्ध?

अम्बपाली—तू कैसी भोली है रे, तूने देखा है नहीं? कई दिनों तक यह युद्ध चलता रहा है, कई दिनों तक दोनों ओर से अस्त्र चलते रहे हैं।

चयनिका—आप यह क्या कह रही हैं सखे? भगवान बुद्ध और अस्त्र?

अम्बपाली—अगर भगवान बुद्ध के पास अस्त्र नहीं है, तो वे विजयी कैसे होते हैं? कैसे [illegible] ने उनका [illegible]

बजता जा रहा है? और क्या बिना अस्त्र के ही अम्बपाली ने वृज्जि संघ पर विजय प्राप्त की है?

चयनिका—ये सब बाते मेरी समझ मे नही आ रही, आर्ये!

अम्बपाली—अच्छा है, या तो आदमी मे इतना ज्ञान हो कि वह सब कुछ अच्छी तरह समझ ले, नही तो अज्ञान रहने मे ही कल्याण है। ज्ञान-अज्ञान के बीच की चीज बडी खतरनाक होती है, चुन्नी!

चयनिका—अच्छा, तो इस युद्ध मे हुआ क्या?

अम्बपाली—हुआ यही कि न भगवान मुझे पराजित कर सके, न मै उन्हे पराजित कर सकी!

चयनिका—तो आप भगावन को पराजित करना चाहती थी?

अम्बपाली—जरूर। हर आदमी, जिसमे कुछ कस-बल होता है, दूसरे को पराजित करना चाहता है। जिसमे जय की भावना न हो, समझ, उसमे कुछ है ही नही।

चयनिका—देवि, आप विचित्र नारी है! (वह काँप उठती है)

अम्बपाली—भगवान ने भी यही कहा था।

चयनिका—भगवान ने?

अम्बपाली—तूने अम्बपाली को क्या समझा है रे! जिसके सामने, रूबरू देखने से उन्होने अपने शिष्यो को मना किया, उन्हे आँखे मूँदने को लाचार किया, क्या वह अम्बपाली साधारण नारी है? महान ही महान की महत्ता समझता है—अम्बपाली को भगवान ने ही पहचाना! (वह आत्मगौरव मे फूल-सी उठती है)

चयनिका—मै इन बातो को क्या समझूँ? खैर, देर हो रही है, आप प्रसाधान कर ले।

अम्बपाली—प्रसाधन नही करूँगी, यह तुझे पहले ही कह दिया है न।

चयनिका—तो प्रसाधन क्यो नही करेगी?

अम्बपाली—क्योकि इन प्रसाधनो की व्यर्थता तो कम से कम मालूम ही हो गई! जो अस्त्र विजय न दिलाये, वह भाँड मे जाय। चयनिके, इन कुछ दिनो मे प्रसाधन का एक भी साधन मैने नही छोडा, लेकिन उफ् (उसाँसे लेती है)

चयनिका—भद्रे!

अम्बपाली—(अचानक उसकी आवाज भर्रा जाती है, चहरे पर विषाद् की रेखाएँ खिच आती है) चयनिके, आह तू मेरी अन्तर्व्यथा का अनुभव कर पाती? अम्बपाली ने सोच रखा था, उसके अस्त्र

अमोघ है, वह सब पर विजय प्राप्त कर सकती है। उसने अपने को दीपशीखा समझा था, जिसपर हर पुरुष को पतग बनकर गिरना ही पडेगा। लेकिन, यह क्या हुआ? जब-जब वह उनके नजदीक गई, उसने पाया, उनके ज्योतिमडल के भीतर पहुँचते ही मानो उसकी शिखा लुप्त हो गई, वह ठडी पड गई, देखते-देखते बरफ बन गई। फिर, उस ज्योति की गरमी से, उसने महसूस किया, बरफ बनी वह पिघल रही है, पानी-पानी हो रही है। चयनिके! जो कोई भी उनके नजदीक जायगा, वह उनमे अपने को, अपने 'आपा' को खोये बिना नही रह सकता!

चयनिका—आप सच कह रही है, आर्ये!

अम्बपाली—लेकिन अम्बपाली इतने सस्ते नही हार मान सकती थी। ज्योही गरमी का असर होते देखती, वह वहाँ से भाग आती।

चयनिका—तो पराजय नही, पलायन तो हुआ!

अम्बपाली—हाँ, पलायन हुआ! अम्बपाली को इसके लिए लज्जा भी है। लेकिन यह पलायन उसने पराजय के प्रतिकार के लिए स्वीकार किया है। विजय को ध्यान मे रखकर जो मौके पर पीछे हट जाते है, उनका पलायन पलायन नही है चयनिके! अम्बपाली तबतक चैन नही लेगी, जबतक वह भगवान बुद्ध पर विजय नही प्राप्त कर लेती।

चयनिका—भगवान बुद्ध पर विजय? जिसे मार नही हरा सका।

अम्बपाली—मार नही हरा सका, न हरा सकता था। आँधी, तूफान, अजगर, शेर—और, जब इनसे भयभीत विचलित न हो, तो अप्सराएँ, परियाँ—नही-नही, इन अस्त्रो से मार बुद्ध को नही हरा सकता था। ये उतने ही व्यर्थ है, जितने अम्बपाली के पिछले प्रसाधन।

चयनिका—तब?

अम्बपाली—तब अम्बपाली को विश्वास है, वह उन अस्त्रो को खोज सकेगी, जिनमे वह भगवान बुद्ध को पराजित कर दे। मैने भगवान से कह दिया है?

चयनिका—(आश्चर्य की अधिकता मे चिल्लाती-सी) कह दिया है?

अम्बपाली—हाँ, कह दिया है! सुनकर वह मुस्कुराये, बोले—राजनर्तकी, वह दिन तथागत के लिए धन्य होगा, जब एक नारी यह समझ ले कि उसने उनपर विजय प्राप्त कर ली। (मुस्कुराती है)

[इसी समय भूतपूर्व राजनर्तकी, पुष्पगधा का प्रवेश होता है—वाल गले कधे से घुटने के नीचे तक एक सादा लबादा लटक रहा है—बुद्ध के उपदेशों का असर उनके चेहरे पर स्पष्ट है—अम्बपाली उसे देखते ही ससम्मान खड़ी हो जाती है—]

पुष्पगधा—लेकिन इसका अर्थ तूने समझा, अम्बे! मैं तेरी सारी बाते सुन रही थी।

अम्बपाली—देवि, आपका यह वेश ?

पुष्पगधा—जैसा तूने अभी कहा है, कफन की तैयारी मे यह सादा वस्त्र! खैर, भगवान की उन वाणी के मानी बता।

अम्बपाली—मानी! मानी तो साफ है, देवि!

पुष्पगधा—भोली लडकी, एक ओर भृ ग और कीट है, दूसरी ओर पतग और दीपक। भृ ग दूसरे कीडे को अपनी आवाज के सतत गुजार से भृ ग बना लेता है। लेकिन, दीपक सिर्फ जलता रहता है और पतग आप-से-आप उसपर टूटते और अपने को दीपशिखा का एक अश वना लेते हैं— मैं उन पतगो की बात नही कहती, जो जलने तो जाते हैं, लेकिन जलने से व्याकुल हो अधजले या मुर्दा होकर बाहर जा गिरते हैं।

अम्बपाली—(पिछले वाक्य के व्यग्य से तडप उठती-सी) आप इससे क्या निष्कर्ष निकालना चाहती हैं ?

पुष्पगधा—कीट से भृ ग बनना। भृ ग भी तो एक कीट है। सिर्फ रूप-परिवर्तन, शरीर-परिवर्तन! और पतग का ज्योतिशिखा बन जाना!—गुण का परिवर्तन, आत्मा का परिवर्तन! अम्बपाली भी अमर है, लेकिन भृ ग की कोटि की—उसकी विजय ज्यादा से ज्यादा उडान दे सकती है, गुजार दे सकती है। किन्तु भगवानबुद्ध अमर है, दीपशिखा की कोटि के। जो बुद्ध पर विजय प्राप्त करना चाहेगा, उसे पतग बनकर जलना होगा, ज्योति मे मिल जाना होगा, बुद्ध मे मिलकर बुद्धत्व प्राप्त करना होगा—बुद्धत्व, निर्वाण। भगवान न इस विजय के लिए तेरा आह्वान किया है, अम्बे? समझी?

अम्बपाली—मैं उनका धर्म नही ग्रहण कर सकती, आर्ये! यह तो मेरी हार होगी। अम्बपाली हार नही स्वीकार कर सकती है।

पुष्पगधा—यह तेरी उम्र का तकाजा है, अम्बे! काश, जिन्दगी की धारा इतनी सीधी, सरल होती! जबतक तू आनन्दग्राम मे थी आज की अपनी जिन्दगी की तूने कल्पना भी की थी? (रुक जाती है अम्बपाली चुप है) बोल, बोलती क्यो नही है, रे।

(आनन्दग्राम के उच्चारण-मात्र से ही अम्बपाली की आँखो मे आँसू छलछला आते है—)

ओहो, तू तो आज भी बच्चो की तरह रुआसी हो गई। यही जिन्दगी है, अम्बे! आदमी सोचता कुछ है, हो जाता कुछ और है! उस दिन तू अरुण, मधु और मौसी कहकर कितनी चिल्लाई थी; आज वही अरुण ..

अम्बपाली—(अरुण का नाम सुन व्याकुल हो, पुष्पगंधा के मुँह पर हाथ ले जाती हुई) भद्रे, उसकी चर्चा न करे—आह! (लम्बी उसाँसे लेती है)।

पुष्पगंधा—हमारी पूरी जिन्दगी ही एक लम्बी आह है, अम्बपाली!

२

[वैशाली का पार्श्वभाग—राजपथ से दूर फैला एक विस्तृत मैदान—मैदान के बीच एक मौलिश्री का सघन पेड—पेड के नीचे चबूतरा बना—चबूतरे पर पेड के तने से पीठ टेके अरुणध्वज बंशी बजा रहा रहा है—वह बहुत दुबला हो चला है, काला पड गया है—उसके रूखे बेतरतीब बाल उड रहे है—]

चबूतरे की दूसरी ओर मधूलिका बैठी तागे से कुछ बुन रही है— उसके सूखे, भर्राये चेहरे पर आँसुओ की सूखी रेखाएँ और दाग स्पष्ट है—

गरमी के दिन है, शाम का वक्त—एक युवती और दो नागरिक उस ओर से पगडडी पकडे गुजरते है—बंशी की आवाज से खिंचकर, धीरे-धीरे वे उस पेड के निकट पहुँचते है—अरुण इन लोगो की ओर से लापरवाह, अपने मे तल्लीन, बंशी बजाता जाता है—थोडी देर मे उसकी बंशी रुक जाती है—]

एक नागरिक—क्यो भई, बन्द क्यो कर दिया? थोडा और बजाओ।

(अरुण उन्हे घूर-घूर कर देखता रह जाता है—)

—थोडा और बजाओ, भाई!

दूसरा नागरिक—कैसी करुण रागिनी? मैने ऐसी बंशी आजतक नही सुनी थी।

अरुणध्वज—यह आपकी चापलूसी है या दिल्लगी?

पहला नागरिक—वैशाली के नागरिक न चाटुकार होते है, न अशिष्ट।

दूसरा नागरिक—हमे अपनी कला-मर्मज्ञता पर नाज है, युवक। सचमुच तुम अपूर्व बजाते हो!

अरुणध्वज—अपूर्व !

दूसरा नागरिक—हाँ, हाँ अपूर्व ! !

अरुणध्वज—(मुस्कुराता) ओहो, मैं अपूर्व बजाता हूँ ! बजाऊँ ?

दोनो नागरिक—जरूर, जरूर !

अरुणध्वज—लेकिन, किसके लिए बजाऊँ ?

पहला नागरिक—इसके मानी ?

अरुणध्वज—बंशी मर्द बजाता है, औरतें सुनती हैं ! अनन्त काल से यही होता आया है। कृष्ण ने बजाई, गोपियों ने सुनी। गोपियों ने और गायों ने भी। गायें तो आप हो नहीं सकते, फिर ..(वह हँस पड़ता है !)

दूसरा नागरिक—यह तो तुम्हारी अजीब बात है, भाई !

अरुणध्वज—सभी सच बातें अजीब लगती हैं, क्यों श्रीमतीजी ? (युवती से वह पूछता है, वह कुछ नहीं बोलती है)

पहला नागरिक—(युवती की ओर लक्ष्य करके) इनके कहने से बजाओगे ?

अरुणध्वज—यह कह नहीं सकती।

पहला नागरिक—क्यों ?

अरुणध्वज—(मुस्कुराता हुआ) यही हमेशा से होता आया है। औरतें सुनती हैं, कहती नहीं।

दूसरा नागरिक—कहती नहीं ?

अरुणध्वज—ऊँहूँ (सिर हिलाता है) यही तो स्त्रित्व है। कहती नहीं, लेकिन, सुनती है, और कभी बंशी की आवाज पर नाचती रही हो, अब तो सिर्फ रोती है—क्यों मधु ?

[अरुण मधूलिका की ओर देखता है—वह बुने जा रही है—यह सुनकर उसकी पपनियों पर ओस की कणिकाएँ चमक उठती हैं—]

पहला नागरिक—यह तुम्हारी कौन होती है ?

अरुणध्वज—(युवती की ओर देखते हुए) और, यह आपकी कौन होती है ?

युवती—मुझे इन काँटों में मत घसीटिए !

अरुणध्वज—(नागरिक की ओर) समझा, यह नारी बोल रही है—'मुझे काँटों में मत घसीटिए !' 'मुझे काँटों में मत घसीटिए !' (युवती से) लेकिन श्रीमतीजी, इस मधु से पूछिए, क्यों यह मेरे पीछे-पीछे अपने-आपको काँटों में घसीट रही है ? (मधूलिका से) मधु,

तू मुझे छोड़—इस श्रीमती के साथ जा। जा, भाई जा। (नागरिकों से) आप इसे लेते जाइए। यह भी वृज्जिसंघ की नागरिका है।

युवती—यह मेरा अहोभाग्य हो कि मुझे आप लोगों के आतिथ्य करने का सुअवसर मिले।

अरुणध्वज—(युवती से) फिर नारी बोली! आतिथ्य!... ...अहोभाग्य। लेकिन, आपलोग तो सिर्फ वंशी सुनना चाहते हैं अच्छा सुनिए—

दूसरा नागरिक—वैशाली के नागरिकों का द्वार अतिथियों के लिए हमेशा खुला है—आपको हमारा सादर निमंत्रण है।

अरुणध्वज—तो वंशी नहीं सुनिएगा?

दोनों नागरिक—नहीं, नहीं — ऐसी बात नहीं! सुनाइए, सुनाइए।

[अरुण वंशी बजाने लगता है—युवती और दोनों नागरिक मुग्ध होकर वंशी सुनते जाते हैं—

वंशी की कोमल काकली को दबोचती-सी रथ की घर्र-घर्र आवाज सुनाई पड़ती है—सबका ध्यान सुदूर के राजपथ पर जाता है—मीनकेतन-पताका को देख कर एक नागरिक कहता है—"ओहो, देवी अम्बपाली का रथ है"—अम्बपाली का नाम सुनते ही अरुण चौंक-कर उठ खड़ा होता और वंशी पटक उस ओर भागता है—मधूलिका उनके पीछे लगती है—युवती और दोनों नागरिक वहाँ से आश्चर्य-चकित हो चल देते हैं—

थोड़ी देर में अरुण को पकड़े मधूलिका वहाँ आती है—दोनों चबूतरे पर बैठ जाते हैं—]

मधूलिका—अब वैशाली छोड़ो, घर चलो।

[अरुण कुछ नहीं बोलता—कातर दृष्टि से मधूलिका का मुँह देखता रहता है।]

मधूलिका—मैंने क्या कहा, सुना? घर चलो, वैशाली छोड़ो।

अरुणध्वज—(भर्राई आवाज में, 'वैशाली छोड़ो' 'घर चलो'—हमारा घर कहाँ है, मधु?

मधूलिका—(आँचल से आँसू पोंछती) नहीं-नहीं, अब वैशाली छोड़ना होगा।

अरुणध्वज—'वैशाली छोड़ना होगा'' (कुछ याद करता-सा) क्यों मधु, क्या यह वैशाली है?

मधूलिका—तो क्या यह आनन्दग्राम है?

अरुणध्वज—(उसकी आँखें चमक उठती हैं) आनन्दग्राम! हमारा आनन्दग्राम! वह वेणुवनों का मर्मर, वह आम्रवाटिका मे पक्षियों का कलरव! हाँ, हाँ, चल, रे मधु, चल। आम की डाल मे झूला डालेंगे, खूब झूलेंगे—मैं झूलूँगा, तू झूलेगी, अम्बा झूलेगी। (अपने ही मुँह से अचानक निकले 'अम्बा' शब्द से विक्षिप्त-सा होकर) अम्बा! अम्बा! अम्बा किधर गई, मधु? उफ्! (झटपट खडा हो जाता और चारो ओर भौंचक देखता है)

मधूलिका—(रोती हुई) तुम होश नही करोगे?

अरुणध्वज—होश! क्या मैं होश मे नही हूँ, मधु? सच? मैं होश मे नही हूँ?

मधूलिका—मैं अब जहर खाके रहूँगी!

अरुणध्वज—(आँखें फाडता-सा) जहर खा लेगी?

मधूलिका—(रुलाई से) हाँ, जहर खा लूँगी, मर जाऊँगी, झझट खतम! मुझसे यह सब नही देखा जाता।

अरुणध्वज—(कुछ सँभलता-सा करुण भाव से) जहर खा लेगी, मर जायगी? तू मर जायगी, तो मेरा क्या होगा, मधु? मुझे कौन देखेगा? उफ्। मैं होश मे नही रहता! तू मत मर मधु! तू जहर मत खा मेरी मधु.

मधूलिका—दूसरा चारा क्या है, तुम कुछ सुनते ही नही?

अरुणध्वज—सुनता नही हूँ, यह मत कह मधु। देखा नही, अभी किस तरह रथ का घर्र-घर्र सुन लिया और सुन लिया उस नागरिक का कहना कि देवी अम्बा.

मधूलिका—और अम्बपाली का नाम सुनते ही दौड पडे पागल की तरह। उन लोगो ने क्या समझा होगा भला?

अरुणध्वज—क्या समझा होगा रे?

मधूलिका—समझा होगा कि हम लोगो का अम्बपाली से कुछ-न-कुछ सरोकार जरूर है। जरूर कोई रहस्य की बात है?

अरुणध्वज—(कातर भाव से) तो क्या अम्बपाली से हमारा कोई सरोकार नही है?

मधूलिका—(दृढता से) कभी था, अब नही है!

अरुणध्वज—(उत्तेजित होकर) नही है! सरोकार नही है! अम्बपाली से सरोकार नही है! यह तू क्या कह रही है, मधु? अम्बपाली से सरोकार नही—उफ्, अम्बे

[वह पागल-सा चिल्लाता है—मधूलिका उसके मुँह पर हाथ रख देती है—मुँह पर हाथ रखे जाते ही वह चिल्लाना तो बंद कर देता है, लेकिन उसकी आँखों से अजस्र अश्रुपात होने लगता है—मधूलिका की आँखों से भी आँसू झरने लगते हैं—दोनों एक दूसरे का चेहरा गौर से देखते हैं—दोनों सिर झुकाकर चुप हो रहते हैं—फिर मधूलिका कहती है—]

मधूलिका—यह क्या कर रहे हो, अरुण?

अरुणध्वज—यह क्या कर रहा हूँ, मधु! आह! मैं क्या कर दिया करता हूँ मधु? मधु, यह मुझे क्या हो जाता है, रे! ओह! (वह विह्वल-सा हो जाता है—जैसे उसे अपने पर पश्चात्ताप हो रहा हो)

मधूलिका—प्रेम के मानी अमर्याद नहीं है अरुण! कृष्ण और राधा को देखो। गोकुल और मथुरा में कितनी दूरी थी? एक योजन से भी कम! क्या राधा वहाँ नहीं जा सकती थी? लेकिन, वह नहीं गई! अपनी ओर से एक दूत भी नहीं भेजा! क्यों?

अरुणध्वज—क्यों?

मधूलिका—क्योंकि वह जानती थी कि कृष्ण की हैसियत बदल गई है। वह जिस स्थान पर बैठे हैं, उस स्थान के उपयुक्त एक गोपी का प्रेम नहीं। राधा ने प्रेम नहीं छोड़ा, तो मर्यादा भी नहीं छोड़ी। रोती रही, तड़पती रही, बिसूर-बिसूर कर जवानी गँवा दी, आँसुओं की बाढ़ में जिन्दगी बहा दी; लेकिन कृष्ण के पास एक पाती नहीं भेजी। हाँ, जब कृष्ण ने उद्धव को भेजा, तो उसका मन्तव्य जानकर, जो कुछ कहना था, उसीसे कहा। मर्यादा इसको कहते हैं—प्रेम की महिमा यह है। और तुम? तुम तो पागल बने बैठे हो! दौड़ कर यहाँ पहुँचे और अब यहाँ ये खुराफातें।

अरुणध्वज—(संजीदा होकर) खुराफातें—हाँ, हाँ मधु, मैं खुराफातें करता रहता हूँ—उफ्!

मधूलिका—तुम्हीं सोचो न, यह खुराफात नहीं तो क्या है? क्यों आये: अच्छा। छद्मवेश उसकी झलक देख लिया करते हो यह भी नहीं! लेकिन यों दौड़ पड़ना चिल्ला उठना—क्या अच्छा था तुम्हारे किसी के लिए शोभन है? अब अलका राजलक्ष्मी है उसकी एक मर्यादा है। उस मर्यादा की रक्षा करना क्या तुम्हारा कर्तव्य नहीं? तुम्हें कोई ऐसा काम करना क्या मुनासिब है जिससे उसके यशश्चन्द्र पर धब्बा लगे। तुम्हें तो गर्व होना चाहिए कि जिसे तुमने चाहा आज दुनिया उस पर मर रही है। जिसका सिर तुम्हारे चरणों पर

अछूता था इसके चरणो पर आज हजार-हजार राजकुमारो के मुकुट लोटते है।

अरुणध्वज—ओहो! हजार-हजार राजकुमारो के मुकुट। उस दिन अम्बा ने भी कहा था न—'अरुण, हजार-हजार . . . ।।।' (वह एकदम आँखे मूँद लेता है)

मधूलिका—फिर वही? तुम नही समझोगे—मुझे जहर खाना ही पड़ेगा।

अरुणध्वज—(आँखे खोलता, दीनता से) मधु, मधु!

मधूलिका—मधु, मधु क्या? तुम ठीक से रहो। अपने होश पर काबू करो और अपनी सारी वेदना, सारी व्याकुलता को इसी वशी की तान मे बोर दो। वेदना जब सगीत बन जाय, व्यथा जब रागिनी का स्वर धारण करे, प्रेम की सार्थकता तब सिद्ध होती है, अरुण!

अरुणध्वज—'वेदना जब सगीत बन जाय, व्यथा जब रागिणी का स्वर धारण करे प्रेम की सार्थकता तब सिद्ध होती है!' ठीक, ठीक, मै न अब चिल्लाऊँगा, न दौडूँगा, सिर्फ वशी बजाऊँगा! सिर्फ वशी बजाऊँगा! लेकिन, तब तू जहर नही खायगी न मधु! (मधूलिका की आँखो से आँसू गिरते देख) तू फिर रो रही है?

मधूलिका—हाँ, रो रही हूँ। (आँसू पोछते) मर्द जब गम मे होता है, वशी बजाता है, नारी जब गम मे होती है, आँसू बहाती है।

अरुणध्वज—नारी जब गम मे होती है, आँसू बहाती है। मधु, क्या अम्बा भी रोती होगी?

मधूलिका—उसमे जो नारी है वह जरूर रोती होगी, जार-जार आँसू बहाती होगी। किन्तु, वह बेचारी तो राजनर्तकी की मर्यादा मे बँधी है न? उसका दिल भले ही रोये, उसका हृदय भले ही हाहाकार करे, किन्तु उसे अपने चेहरे पर हँसी ही रखना है, अपने मुँह से फूल ही बरसाना है। हम-तुम तो, अपनी पीडा को रो-गाकर कम कर लेते है, लेकिन, सोचो तो उसकी हालत—भीतर रोना, बाहर हँसना!

अरुणध्वज—भीतर रोना, बाहर हँसना? सचमुच यह अजीब बात है मधु!

मधूलिका—अजीब ही नही, अलौकिक! इसे सिर्फ अम्बा-ऐसी असाधारण नारियाँ ही निभा सकती है! (करुणा भरी मुस्कान के साथ) कैसी अद्भुत घटना? एक ही गम के तीन रूप—तुम बजाओ, मै रोऊँ और अम्बा हँसे!

तीसरा अंक

१

[राजगृह—चारों ओर पर्वतश्रेणियाँ—पर्वतश्रेणियों के हरे-भरे वृक्षों के ऊपर जरासंध के बनाये विशाल प्रस्तर-प्राचीर के धूसर अंग दीख रहे हैं—इस प्राचीर पर जगह-जगह बुर्जियाँ बनी हैं, जिनपर तीर-कमान लिये सैनिक पहरे दे रहे हैं—

पर्वत-श्रेणियों के बीच बसा राजगृह का विशाल नगर—चौड़ी, सड़कें, ऊँची अट्टालिकाएँ—राजपथ के दोनों ओर तरह-तरह की दूकानें—खरीद-फरोख्त का बाजार गर्म—

नगर के बीच मगध का राजप्रासाद—भव्य, दिव्य, विस्तृत विशाल—प्रासाद की आखिरी मंजिल पर अजातशत्रु का एकान्त कक्ष—जब से वह बौद्ध हुआ है, इसी हिस्से में वह राजकाज के बाद रहता है—यहाँ से गृध्रकूट-शिखर स्पष्ट दिखाई पड़ता है जहाँ भगवान बुद्ध राजगृह आने पर ठहरते हैं—

कक्ष के सामने की छत पर वह व्याकुल होकर टहल रहा है—लगभग चालीस साल की उम्र—अंग-अंग की मांसपेशियाँ और पुट्ठे कसे हुए—चेहरे पर चेचक के दाग, जो उसके शान्त चेष्टा करने पर भी भयंकरता का आभास दे ही देते हैं—काली लटें—घुंघराले बाल गर्दन तक लटक रहे हैं—गर्दन से पैर तक पीले रंग का लबादा लटक रहा—

बार-बार उनकी नजर गृध्रकूट की ओर जाती है—फिर गृध्र-कूट से हटते ही उनकी नजर उनके हाथ में रखी, तलहथी के आकार की, हाथीदाँत पर बनी तस्वीर पर जाती है—तस्वीर देखते ही साँस जोर से चलने लगती है—और तर्जें से उठने लगते हैं—

उनका उपमन्त्री, सुनीथ, उस समय नीचे से छत पर आता है—यह अजातशत्रु का उपमन्त्री ही नहीं, उसका प्रिय सखा भी है—दोनों लँगोटिया यार, आपस में कोई दुराव नहीं—

सुनीथ कुछ देर तक अजातशत्रु की यह भावभंगिमा देखता है, फिर बोलता है—]

सुनीथ—यह क्या हो रहा है, सम्राट्! एक बार गृध्रकूट को देखना, फिर तलहथी की ओर टकटकी लगाना। किसी ज्योतिषी ने क्या फिर कोई नई भाग्यरेखा बताई है?

अजातशत्रु—(मुडकर) ओहो, सुनीथ! भले आये। नई भाग्य-रेखा नहीं, यह देखो! (तस्वीर दिखाता है)

सुनीथ—यह तो अम्बपाली है!

अजातशत्रु—तुमने कैसे पहचाना?

सुनीथ—अगर इतनी जानकारी न रखूँ, तो सम्राट् के मन्त्रित्व की जिम्मेवारी कैसे निभा सकूँगा। जिसने हमारे पुराने शत्रु लिच्छवियों और विदेहों पर जादू डाल रखा है, जिसे पाकर सारा वृज्जिसंघ अपनी वैशाली को अलका की प्रतिद्वन्द्विनी मानने लगा है, उसे मैं न पहचानूँ?

अजातशत्रु—अपूर्व सुन्दरी है यह, सुनीथ! वृज्जियों को इस पर घमंड करने का पूरा हक है।

सुनीथ—गंगा के उस पार की भूमि में ही कुछ ऐसी खूबी मालूम पडती है सम्राट्! सीता, उर्मिला, अहल्या, अम्बपाली—एक-से-एक रूप-गुणवती नारियाँ वहाँ पैदा होती आई हैं! स्वयं सम्राट् अपनी मातृश्री की याद करें—सम्राज्ञी देवी चेल्लना का वह दिव्य रूप, अलौकिक सौन्दर्य, अपूर्व तेज .

[अपनी माँ की इस चर्चा से ही अजातशत्रु व्याकुल हो जाता है—यहाँ इसकी चर्चा की आवश्यकता नहीं कि उसने अपने पिता को कैद कर लिया था और उसकी माँ, बेटे की इस क्रूरता पर तडप-तडप कर मर गई थी—]

अजातशत्रु—(बीच ही में रोक कर) बस, बस, तुम फिर भूल कर रहे हो, सुनीथ! मैंने बार-बार मना किया, माता-पिता की याद मुझे

मत दिलाओ। मेरी कोई माता नही, कोई पिता नही। मै आदमी नही, उल्का हूँ—आप-से-आप आसमान से गिरा हूँ—खुद जल रहा हूँ, दूसरो को जलाता हूँ, जलाऊँगा! (दीर्घ उच्छ्वास लेकर घूमने लगता है)

सुनीध—(उसके नजदीक जाकर) क्षमा कीजिए, सम्राट्!

अजातशत्रु—सुनीध, मै तुम्हारी योग्यता का कायल हूँ, तुम्हारे ऐसे सखा पर मुझे नाज है। लेकिन याद रखो, इस गलती का दुह-राना मै नही बर्दास्त कर सकता। समझे?

सुनीध—सम्राट्! (सिर झुकाता है)

अजातशत्रु—(शान्त होकर) अच्छा, तुमसे एक मर्म की बात कहनी है, सुनीध!

सुनीध—कहने की जरूरत नही, सम्राट। क्या मगधपति की मुखा-कृति की रेखाएँ ही पुकार-पुकार कर उनके मर्म के अन्तर्द्वन्द्व की घोषणा नही कर रही? लेकिन—

अजातशत्रु—'लेकिन' क्या?

सुनीध—धृष्टता के लिए फिर क्षमा चाहते हुए निवेदन यह है सम्राट् कि मगधराज के लिए क्या यह शोभनीय है कि उनका दिल ऐसा कच्चा महल हो जो उनके शत्रुओ की एक सुन्दरी के रूप-जादू से घरौंदा-सा भहरा पडे।

अजातशत्रु—(मुस्कुराते हुए) घरौंदा-सा भहरा पडे। तुम्हे साव-धान करने का अधिकार है, सुनीध! (अचानक गम्भीर होकर) लेकिन, तुमसे छिपाना क्या है? आजतक मै अपने को पहचान नही सका। एक अजीब उच्छृखलता मेरे मन मे घर किये हुई है जो रह-रहकर यो उभडती है कि . . (अपने दाहिने हाथ से बाँये पंजे को जोर से मरोडता है)

सुनीध—बडो मे मन की यह चचलता क्या वाछनीय है, सम्राट्?

अजातशत्रु—चचलता? इतना छोटा-सा नाम इसे मत दो, मेरे प्रिय सखा! जिसके वश होकर मैने पिता से विद्रोह किया, उन्हे बन्दी बनाया, पितृहता कहलाया, तडप-तडप माताजी मरी, हजारो नर-नारियो की निर्मम हत्या कराई, और आज भी नही कह सकता कि मुझसे कब, कहाँ, क्या हो जायगा—उसे तुम सिर्फ चचलता नही कह सकते।

सुनीध—साधारण पुरुषो मे जो चचलता होती है, महान व्यक्तियो मे वही उच्छृखलता के रूप मे प्रकट होती है। दोनो का उद्गम एक

है, दोनो एक है दोनो एक चीज है। जो गगा मगध मे आकर इतनी विशाल हो गई है, हिमालय की तलहटी मे छोटी निर्झरिणी ही तो थी?

अजातशत्रु—लेकिन मेरे मन मे जो है, उसकी सही कल्पना के लिए तुम्हे ऐसा सोचना पडेगा कि मगध की गगा अपनी पूरी विशालता के साथ हिमालय की तलहटी मे प्रखरतम वेग से गिर रही है—विशालता और प्रखरता का वह उद्दाम सम्मिश्रण ही मेरी इस उच्छृंखलता की समता कर सकती है, सुनीथ! काश, मेरा हृदय मगध की गगा की तरह शान्त और समथर हो पाता!

[गृध्रकूट की ओर टकटकी लगाकर देखता, कुछ मन-ही-मन पढता और सिर नवाता है]

सुनीथ—ठीक, सम्राट्, ठीक। ऐसे मौको पर भगवान बुद्ध .

अजातशत्रु—(बीच ही मे रोककर) भगवान बुद्ध? सुनीथ, सोचा था, भगवान बुद्ध की शरण मे आने पर इस उच्छृंखलता पर विजय प्राप्त करूँगा। चेष्टाएँ की और सफलता भी मिल रही थी। अपने पर बहुत कुछ काबू कर लिया था। लेकिन इस छोटी-सी तस्वीर ने सारा किया- कराया बटाढार कर दिया!

सुनीथ—इसका प्रतीकार सहज है। मन को कडा कीजिए। इस तस्वीर को फेक दीजिए, तोड दीजिए, जला दीजिए। आपसे नही होता, तो लाइए इधर। (हाथ बढाता है)।

अजातशत्रु—(मुस्कुराता हुआ) कैसा सहज प्रतीकार!—फेक दीजिए, तोड दीजिए, जला दीजिए! सुनीथ! इधर एक सप्ताह से इसी उद्देश्य से इस तस्वीर को निकालता हूँ। मन कडा करने के लिए राजवस्त्र को त्याग यह पीला लबादा ओढता हूँ। लेकिन ज्योही तस्वीर हाथ मे लेता हूँ, हाथ काँप उठता है। हाथ काँपता है, जोर से मुट्ठी बाँधता हूँ। हृदय डगमगाता है, गृध्रकूट की ओर देखता हूँ और इन सारे प्रयत्नो के बावजूद इस आठवे दिन भी तस्वीर जहाँ-की-तहाँ है और न जाने मेरे पैर कहाँ-से-कहाँ खिसककर चले गये।

सुनीथ—यह कोई अच्छी बात नही है, सम्राट्!

अजातशत्रु—अच्छी बात नही है, यह क्या समझाओगे तो समझूँगा। लेकिन अब तो मगध की गगा गोमुखी का बाँध तोडकर निकल चुकी। अब कोई ऐरावत उसे रोक नही सकता, कोई जह्नु उसे सोख नही सकता। जिस तरह अनेक गलतियाँ हो चुकी, एक गलती और करूँगा।

सुनीथ—लेकिन, सोचिए सम्राट्, जो घटनाएँ दुर्भाग्यवश घट चुकी, उसके बाद कोई वृज्जिनारी अब मगध की पटरानी बनना भी स्वीकार कर सकती है?

अजातशत्रु—नारियाँ स्वय आती नही है, लाई जाती है।

सुनीथ—जिसका नतीजा हम लका मे देख चुके है। वृज्जियो मे ही तो विदेह भी है। उनकी नारियो मे एक अलौकिकता है, सम्राट! उनपर जबरदस्ती किया जाना कभी सुफल नही लाता। क्या बन्दरो की सेना बन सकती है? क्या समुद्र बाँधा जा सकता है? क्या सोने का महल लाह के ऐसा धधक सकता है? लेकिन एक अलौकिक नारी के चलते ये सब अलौकिक बाते होकर रही।

अजातशत्रु—लेकिन अजातशत्रु भी एक अलौकिक पुरुष है, सुनीथ!

सुनीथ—क्या यह दर्प की वाणी नही है, सम्राट्?

अजातशत्रु—(गुस्से से उसका चेहरा लाल हो जाता है—सिर हिलने लगता है) सुनीथ, सुनीथ तुम बहक जाया करते हो। तुम मेरे सखा हो, किन्तु तुम्हे याद रहना चाहिए कि सम्राट् हमेशा ही सम्राट् है। और मगध-सम्राट् की यह आज्ञा अचल-अटल है कि वैशाली पर हमे विजय-प्राप्ति करनी ही है—अम्बपाली को राजगृह लाना ही है।

सुनीथ—सम्राट् की आज्ञा हमारे सिर पर है (वह सिर झुकाकर अपनी भक्ति प्रगट करता है) वैशाली पर तो हमे विजय प्राप्त करनी ही है। वृज्जियो ने इधर अजीब धमाचौकडी मचा रखी है। अपने सघबल पर उन्हे इतना घमड हो गया है कि उन्होने मस्तिष्क का सतुलन तक खो दिया है। गगा पर चलनेवाले हमारे बजडो से वे कर वसूलते है, उन्हे लूटते है। गगा-पार कर वे हमारे गाँवो और छावनियो पर छापा मारते है। उन्हें रोकने के लिए हमने जो पाटलिग्राम बसाया है, उसे ध्वस्त-पस्त किये रहते है। वैशाली पर विजय प्राप्त करना तो अनिवार्य है, सम्राट्!

अजातशत्रु—मैने आज महामत्री वस्सकार को भगवान बुद्ध के पास इसी काम मे सलाह लेने को भेजा है—मै उनकी प्रतीक्षा मे ही हूँ। (गृध्रकूट की ओर नजर उठाता है)

सुनीथ—महामत्री तो इसके लिए कब से न तैयारियाँ कर रहे है। गगा किनारे की छावनियो को दुरुस्त किया है, युद्ध-पोतो का पुन सगठन किया है, नये अस्त्र-शस्त्र बनवाये है, सेना का भी नवीन

सगठन किया है, यहाँ तक कि राजधानी के परकोटे की मरम्मत तक को नही छोडा है। साम्राज्य का सौभाग्य है कि उसे वस्सकार-से महामत्री मिले है।

अजातशत्रु—तुम्हारा कहना बिल्कुल सही है।

[इसी समय मगध का महामत्री वस्सकार पहुँचता है—एकदम बूढा—सभी बाल सन-से सुफेद—चेहरे पर झुर्रियो के साथ कूटनीतिज्ञता की छाप—आगे के दो दाँत टूटे, जिससे आवाज मे विकृति—बुढापे के कारण उसका सिर रह-रह कर हिल उठता है—अजातशत्रु उससे पूछता है—]

अजातशत्रु—क्यो महामत्रीजी, भगवान ने क्या कहा?

वस्सकार—मैने आपसे कहा था न, भगवान बुद्ध को वृज्जियो से स्वाभाविक अनुराग है। और, मै कहूँ, उनके लिए उनमे पक्षपात भी है।

अजातशत्रु—महामत्री!

वस्सकार—मगध का महामत्री अपनी जिम्मेवारी समझते हुए बोलता है, सम्राट्! ज्योही मै उनके पास गया और उनसे सम्राट् का सदेश कहा, वह आनन्द से पूछने लगे—

"क्यो आनन्द, क्या वृज्जियो की परिषद् बार-बार बैठती और उसमे भरपूर उपस्थिति होती है?

"क्या वृज्जि इकट्ठे जुटते, इकट्ठे उठते और इकट्ठे अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्यो को पूरा करते है?

"क्या वृज्जि बाकायदा कानून बनाये बिना कोई आज्ञा जारी नही करते और न बने हुए नियमो का उच्छेद करते है?

"क्या वृज्जि वृद्ध-बुजुर्गो का सम्मान करते और उनकी सुनने लायक बातो को सुनते और मानते है?

"क्या वृज्जि अपनी कुमारियो और नारियो पर जोर-जबरदस्ती नही करते और उनकी कदर और इज्जत करते है?

"क्या वृज्जि अपने चैत्यो, मदिरो और समाधियो की रक्षा करते है?

"क्या वृज्जि अर्हतो और तपस्वियो का आदर-सत्कार करते है?

और, इनका उत्तर आनन्द से 'हाँ' मे सुनकर वह तमक कर बोल उठते, तो आनन्द, वृज्जियो की उन्नति ही होगी, उन्हे कोई पराजित नही कर सकेगा।"

अजातशत्रु—(उसकी भवो पर बल पड जाते है, वह तमतमा कर बोलता है) ऐसा? तो महामत्री, आपने भगवान से क्यो नही कह

दिया कि ये वृज्जि चाहे जितने समृद्ध हों, चाहे इनका जितना प्रभाव हो, मैं इन्हें उखाड़ डालूँगा, नष्ट कर दूँगा! जब मगध की गंगा गोमुखी से चल चुकी, तो बीच में कोई भी शक्ति उसे रोक नहीं सकती! (क्रोध में वह घूमने लगता है)

वस्सकार—मगध के सम्राट् के अनुकूल ही यह वचन है। लेकिन, क्या मगध के महामंत्री का काम साधु-तपस्वियों से शास्त्रार्थ करना ही रह गया है? भगवान को कहने दीजिए, मैंने वैशाली-विजय की सारी तैयारियाँ कर रखी हैं, और उनके कथन से जिस सूत्र का पता चला उसका भी निराकरण कर लेना है।

अजातशत्रु—कौन-सा सूत्र वह है?

वस्सकार—भगवान बुद्ध का कहने का तात्पर्य सिर्फ यह था कि वृज्जियों में कुछ ऐसी एकता और निष्ठा है कि वे जीते नहीं जा सकते। अब मैं उस एकता को तोड़ूँगा, निष्ठा को भ्रष्ट करूँगा। मैंने उसके लिए राह भी सोच ली है!

अजातशत्रु—कौन-सी राह है वह, महामंत्रीजी!

वस्सकार—बहुत ही सीधी-सी राह। मैं कल दरबार में वृज्जियों का प्रसंग उठाऊँगा और उनकी बड़ी तारीफ करूँगा। आप इनके लिए मुझे खूब फटकार बतायेंगे। मैं इसके बावजूद, दो दिन बाद, वृज्जियों के पास गुप्तरूप से प्रेमोपहार भेजूँगा। आप उस दूत को पकड़वा लेंगे। पकड़कर मुझे राजद्रोही घोषित कीजिए, अपमानित कीजिए, मेरा सिर गंजा कराइए और मुझे मगध से निष्कासन की सजा दीजिए—बस, आपको सिर्फ इतना ही करना है बाकी मैं कर लूँगा!

अजातशत्रु—(चकित होकर) सिर गंजा कराना! महामंत्री, नहीं नहीं, मुझसे यह नहीं होगा।

वस्सकार—(हँसकर) गंजे सिर का प्रभाव देश पर कितना बढ़ रहा है शायद सम्राट् ने इसी पर ध्यान नहीं दिया है! और मुझे इस काम में जल्दी करनी है। भगवान बुद्ध के वैशाली जाने के पहले ही मुझे अपना जादू जगाना है—कौन जाने अपनी स्वाभाविक अनुरक्ति के कारण भगवान उन्हें हमारी मंशा की खबर न कर दें?

अजातशत्रु—महामंत्रीजी, यह क्या कह रहे हैं आप?

वस्सकार—सम्राट् भावुकता और राजधर्म साथ-साथ नहीं चला करते।

२

[वैशाली की अभिषेक-मंगल-पुष्करिणी—इसके पवित्र जल से वृज्जियों का राज्याभिषेक होता, अत दूसरे के लिए इसके स्पर्श तक की मनाही

मुमानियत—चारो ओर नग्न पहरे पड रहे—इसके जल मे विहार करनेवाले पंछी बाहर न जायँ इसके लिए पानी के ऊपर लोहे का जड मे जाल लगा—

इस पुष्करिणी की शोभा का क्या कहना ? सरोवर मे श्वेत, नील, लाल कमल खिले हुए—कमलो पर भौरो का गुंजार—जहाँ-तहाँ जल-पँछी किलोल कर रहे —जहाँ-तहाँ भावुक युवक-युवतियो का नौका-विहार—

सान्ध्य-भ्रमण के लिए आये वैशाली के नागरिक और नागरिको का जमघट—कोई टहल रहा है, कोई पक्के घाट के सगमरमर के चबूतरे पर बैठा है, कोई बादलो के साथ डूबते हुए सूरज की आँख-मिचौनी देख रहा है, तो कोई कमलो पर उनकी किरणो का खिलवाड निरख रहा है—कही-कही गपशप भी चल रही है—

एक चबूतरे पर महामत्री वस्सकार अकेला बैठा है—भिक्षुको-सा है वेश उसका—सिर के बाल मुँडे, पीला लबादा तन पर, हाथ मे एक सुमरनी—उसका ध्यान न सरोवर पर है, न अस्ताचलगामी सूरज पर, न बादलो पर—वह टहलनेवाले नागरिको मे से एक-एक को घूरता है—जैसे उनके चेहरो को पढने की कोशिश कर रहा है—बीच बीच मे सुमरनी तेजी से घुमाता वह बुदबुदा उठता है—

एक नागरिक को अकेला, सिर नीचा किए, टहलता देखकर वह उसके निकट जाता है—उस नागरिक की कमर से लम्बी तलवार लटक रही है, पीठ पर ढाल है—उसके चेहरे से अभिमान और औद्धत्य टपक पडता है—]

वस्सकार—क्यो, आर्य अश्वसेन, आप उदास क्यो दीखते है ?

अश्वसेन—ओहो, मगध के महामत्री, नमस्ते।

वस्सकार—नमस्ते आर्य ! आपके चेहरे पर यह उदासी क्यो है ?

अश्वसेन—(आश्चर्य से) उदासी ? उदासी कहाँ है ? यो ही कुछ सोच रहा था। कहिए, आपको वैशाली कैसी पसन्द आ रही है ?

वस्सकार—(आनन्द मे) वैशाली ? त्रिभुवन-सुन्दरी नगरी ! क्या कहना है ! मै इस नगरी का पुराना प्रेमी हूँ और उसी प्रेम का फल ।
(बनावटी उदासी लाकर उसाँसे लेता है)

अश्वसेन—(उत्तेजित स्वर मे) हाँ, हाँ, उस नर-पिशाच अजातशत्रु ने इस वैशाली-प्रेम के कारण आप के साथ जो क्रूर व्यवहार किया है, क्या हम वृज्जि उसे भूल सकते है ? हम इसका बदला एक दिन उससे चुकाकर रहेगे।

वस्सकार—आह! वह दिन मुझे देखने को मिलता!

अश्वसेन—मिलेगा, जरूर मिलेगा। आपका अपमान वृज्जिसघ के हर नागरिक के दिल मे कॉटे-सा चुभ रहा है। आपको देखकर किस नागरिक के हृदय मे प्रतिशोध की ज्वाला नही धधक उठती? किसकी ऑख से खून के ऑसू नही टपकने लगते? उफ्, उसने आपके सिर के बाल तक मुँडवा डाले! नरपिशाच!!

वस्सकार—नरपिशाच तो है ही। खैर, उसने बाल मुँडवा दिये, अच्छा ही किया। मै भगवान बुद्ध की शरण के समीप तो हो गया। (अपने गजे सिर पर हाथ फेरता है) अब सिर्फ भिक्षापात्र की कमी है! (ऊपर देखकर कुछ मन्त्र बुदबुदाता है)

अश्वसेन—भिक्षापात्र नही शासन-सूत्र! जबतक आपके हाथ मे मगध का शासन-सूत्र नही आ जाता, हम चैन नही लेगे। खैर, मजे से आप है न? कोई कष्ट तो नही?

वस्सकार—वैशाली मे कष्ट? (कुछ रुककर) लेकिन मै अब सोचने लगा हूँ, वैशाली आकर मैने अच्छा नही किया।

अश्वसेन—ऐसा क्यो मत्रिवर?

वस्सकार—जिसकी पूजा आदमी करे, उससे दूर रहना ही श्रयस्कर है। दूरत्व हमारी श्रद्धा को मजबूत करता है, निकटता तो उचाट-सी ला देती है। अतिपरिचयादवज्ञा

अश्वसेन—तो वैशाली से आपका जी उचट रहा है?

वस्सकार—उचाट ही कहिए। यहाँ कुछ चीजे ऐसी देख रहा हूँ, जिससे सोचता हूँ, यहाँ न आना ही ठीक होता। आदमी जिसके साथ हृदय की गहराई से प्रेम करता है, उसमे तनिक-सी भी त्रुटि देखना पसद नही करता।

अश्वसेन—आपने यहाँ कोई त्रुटि देखी है क्या?

वस्सकार—जाने दीजिए इन बातो को। लकडी पर रदा देने से वह चिकनी होती है, बात पर रदा देने से वह रुखडी ही होती है। आह! कहाँ भगवान बुद्ध के मुँह से वह तारीफ और कहाँ वैशाली के नागरिको का यह . (बडी लम्बी सॉस लेता है और गरदन जोरो से हिलाने लगता है)

अश्वसेन—यह, यह क्या, बोलिए!

वस्सकार—मत कहलाइए मुझसे आर्य, जाने दीजिए। आइए, हम-आप भी बैठकर सन्ध्या का यह मनोरम दृश्य देखे, जिस तरह

सब देख रहे हैं। जिन्दगी में बहुत चीजों के भूल जाने में ही कल्याण है, आर्य!

अश्वसेन—नहीं, नहीं आपको कहना पड़ेगा।

वस्सकार—(सिर ऊपर उठाकर) भगवान बुद्ध, तुम्हारी शतशः प्रशंसित नगरी की यह दशा! (अश्वसेन से) कहूँ, आप नाराज तो नहीं होंगे?

अश्वसेन—आप पर नाराज? यह क्या बोल रहे हैं, मन्त्रिवर!

वस्सकार—मुझपर! मेरी तो आप गर्दन भी काट लें, तो मैं सौभाग्य समझूँ। वैशाली के एक नागरिक के हाथ से मृत्यु पाने से बढ़कर सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है? आर्य?

अश्वसेन—तो क्या बात है?

वस्सकार—अच्छा सुनिए, लेकिन, फिर प्रार्थना है, नाराज मत होइएगा। इसी शर्त पर मैं कह रहा हूँ। (उँगली से दिखाते हुए) आप उन्हें पहचानते हैं?

अश्वसेन—कौन वह? वह तो वसुबधु है।

वस्सकार—आपसे उनका कोई झगड़ा है?

अश्वसेन—झगड़ा? वैशाली के नागरिक आपस में नहीं झगड़ते।

वस्सकार—कोई खानदानी दुश्मनी?

अश्वसेन—आप यह क्या कह रहे हैं?

वस्सकार—इसलिए न कहा कि जाने दीजिए, मुझसे मत पूछिए। नहीं नहीं, मुझे वैशाली छोड़ देना चाहिए और किसी अरण्य में जाकर जप-तप करना चाहिए। भगवान बुद्ध! जल्द मुझे अपनी शरण में ले लो। (झट ध्यानमग्न होने का बहाना करता है, फिर किसी अलक्षित शक्ति को नमस्कार करता-सा दीखता है)

अश्वसेन—महामन्त्री, आपको यह रहस्योद्घाटन करना ही होगा।

वस्सकार—नहीं नहीं, मैं परदेश में हूँ। मुझे इन झंझटों में नहीं पड़ना चाहिए। मैं आपसे कहूँ, आप उनसे पूछें, वह फिर मुझसे पूछें। यों बातें बढ़ें, एक विषाक्त वृत्त तैयार हो। अब दुनियाँ की झंझटों में मुझे नहीं पड़ना है—जाने दीजिए इन बातों को।

अश्वसेन—इसमें पूछताछ का कहाँ सवाल उठता है, महामन्त्री? वैशाली के नागरिक अपने उन महान अतिथि की बात आँखें मूँदकर मानेंगे, जो उन्हीं के लिए इतनी पीड़ा पा रहे हैं। आप कहिए।

वस्सकार—तो आप धीरज से सुने, गुस्सा मत हो। न जाने, वसुबधुजी को आपसे कौन-सी खान्दानी दुश्मनी या व्यक्तिगत अनबन है।

अश्वसेन—(बीच ही मे बात काटकर) मैने आपको पहले ही कह दिया कि मुझसे उनकी किसी तरह की दुश्मनी या अनबन नही है।

वस्सकार—तो क्या उनका कहना ठीक है?

अश्वसेन—क्या?

वस्सकार—भगवान बुद्ध! तुम्ही को साक्षी रखता हूँ, मेरी जिह्वा ठीक वे ही कहे, जिन्हे कानो से सुना है। काश ये बाते झूठी होती!

अश्वसेन—(झुँझलाकर) यह क्या पहेली बुझा रहे है, महामत्री? मै बच्चा नही हूँ।

वस्सकार—मै कहता हूँ, एक बच्चा भी इसे बर्दास्त नही कर सकता। वह भी इसे सुनकर कहनेवालो की आँखे झपट्टामारकर निकाल लेना चाहेगा। आदमी अपनी बहादुरी पर लानत शायद बर्दाश्त भी कर ले, परन्तु अपने खान्दान पर (दाँत से जीभ काटता है)।

अश्वसेन—बहादुरी पर लानत! खान्दान पर ऐ (उसकी भवो पर तेवर चढ जाते है)

वस्सकार—मैने पहले कहा था, क्रोध मत कीजिए, पहले धैर्य से सुनिए। वीर सुनने मे धीरज रखते है, जल्दी तो बदला लेने मे की जाती है!

अश्वसेन—(गुस्से से) क्या वसुबधु ने मुझे गाली दी है?

वस्सकार—आर्य अश्वसेन, मै तो इसे गाली से भी बुरी चीज समझता हूँ। किसी को कायर कह देना, फिर उसकी कायरता को खान्दानी बताना—किसी के मरे हुए बाप-दादो की पगडी उछालना, राम, राम!

अश्वसेन—(उत्तेजना मे तलवार खीच लेता है) बोलिए, मत्रिवर, उसने क्या कहा? आज यह तलवार उसके सिर पर नाचेगी।

वस्सकार—आह! इसी तलवार पर तो बात चली। कल उनसे मेरी बाते हो रही थी। मैने आपकी चर्चा की—कहा, तीर तो सभी चला सकते है, लेकिन तलवार के हाथ मे अश्वसेनजी का मुकाबला कोई नही कर सकता।

अश्वसेन—(फख्र से) आपने सही कहा, महामत्री। वृज्जिसघ मे मेरी तलवार का मुकाबला कोई नही कर सकता।

वस्सकार—मैने खुद देखा है—विजयोत्सव के दिन आपके हाथ के जो करतब देखे, क्या उन्हे कभी भूल सकता हूँ। लेकिन, देखिए,

वसुबंधुजी की हिमायत। उनकी तारीफ मेरे मुँह से सुनते ही चिल्ला पड़े

अश्वसेन—जल्दी कहिए, वह क्या बोला—(तलवार हिलाता है)

वस्सकार—(ऊपर देखते) भगवान बुद्ध, मुझसे सच ही कहलाना। (अश्वसेन से) वह चिल्लाकर बोले, अश्वसेन तलवार क्या चलायगा, वह तो कायर है! वही क्या, उसकी सात पुश्त (रुककर) माफ कीजिए कहते मुझे शर्म आती है, गुस्से से मेरा बूढ़ा शरीर भी काँप उठता है। (शरीर कँपाने लगता है)

अश्वसेन—काफी है महामत्री, अब वह देखे कि मै बहादुर हूँ या कायर, और स्वर्ग मे जाकर मेरे बाप-दादो से भी आजमाइश कर ले!

[अश्वसेन तलवार घुमाते उस ओर दौडने जा रहा है कि वह उसे रोकने की बनावटी चेष्टा मे कहता है—]

वस्सकार—सुनिए, सुनिए!

अश्वसेन—नही नही, मै सुन नही सकता! उसने मेरे खान्दान

वस्सकार—आपका सोचना ठीक है, कोई भी योग्य सतान अपने खान्दान का अपमान बर्दाश्त नही कर सकती! जो बर्दाश्त करे, वह इन्सान नही है। लेकिन सुनिए -

अश्वसेन—नही, नही—

[वह वसुबधु की ओर तेजी से दौड पडता है—वसुबधु प्राकृतिक दृश्यो के देखने मे तल्लीन है—उसके पास जाते ही वह बोल उठता है—'उठो, सँभालो, तलवार निकालो'—अकारण अपनी मानसिक आनन्द प्राप्ति मे बाधा पडते देख वसुबधु भी कुछ क्रोध मे आ जाता है, कहता है—

वसुबंधु—यह तुम क्या बक रहे हो?

अश्वसेन—बक रहा हूँ? उलटे कहते हो, बक रहा हूँ! (गरजकर) सँभलो, तलवार निकालो! (तलवार उसके सिर पर उठाता है)

वसुबधु—क्या पागल हो गये हो?

अश्वसेन—मै पागल! पागल! हूँ, तो लो—सँभलो, एक - दो तीन

[वह तलवार चलाता है—वसुबधु हाथ उठाकर तलवार रोकना चाहता है—तलवार लगते ही उसका हाथ कटकर दो टूक हो जाता है—हाथ को काट उसकी खोपडी पर तलवार गिरती है। एक चीख के साथ वह जमीन पर गिर जाता है—खून का फव्वारा चलने लगता है—

उसके गिरते ही, वस्त्रकार, जो अलग खड़ा तमाशा देख रहा था, वहाँ से गायब हो जाता है—चीख सुन नागरिक उधर दौड़ते हैं और अश्वसेन को पकड़ लेते हैं—थोड़ी देर हलचल रहती है—फिर घायल वसुबन्धु और अपराधी अश्वसेन को लेकर लोग संथागार की ओर रवाना हो जाते हैं—सरोवर के घाटों पर सन्नाटा छा जाता है—

झुटपुटे के अन्धकार में अम्बपाली दिखाई पड़ती है—उनके परिधान में सादगी है—जूड़े पर, हाथों में कुछ फूल के गहने—गले में फूल की हल्की माला—उनके पीछे चयनिका है—अम्बपाली चबूतरे पर बैठकर, उदास मुद्रा में कहती—]

अम्बपाली—वैशाली के अच्छे दिन नहीं दीखते, चयनिके! आज जो कुछ हुआ, वह हमारे लिए खतरे की घंटी है।

चयनिका—हाँ, भद्रे, वैशाली में ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा गया।

अम्बपाली—मुझे तो इस घटना के पीछे किसी के अदृश्य हाथ दिखाई पड़ते हैं। वैशाली के नागरिक अपनी तलवार अपने भाइयों के सिर पर चलायें, यह महान आश्चर्य की बात है!

[उसी समय वृज्जिसंघ के महामात्य चेतक दिखाई पड़ते हैं—गोरे रंग के, लम्बे वृद्ध पुरुष—सुफेद दाढ़ी, सिर से सुफेद बालों की लटें कंधे तक लटक रहीं—कंधे से घुटने तक एक सुफेद लबादा—चिन्ता से ओतप्रोत है उनका चेहरा—वह अम्बपाली की बातें सुन रहे थे—प्रकट होकर कहते हैं—

महा० चेतक—आपका कहना बिल्कुल सही है, आर्ये!

अम्बपाली—(ससम्भ्रम खड़ी होती हुई) महामात्य, आज यह क्या हो गया?

महा० चेतक—यह आज नहीं हुआ है, इसके लिए कुछ दिनों से क्षेत्र तैयार किया जा रहा था, देवि।

अम्बपाली—कुछ दिनों से?

महा० चेतक—हाँ, देवि! वैशाली के जीवन-सरोवर में एक गंदी मछली घुस आई है, हमारे नागरिकों के सम्मिलित परिवार की टोकरी में एक सड़ी नारंगी आ गई है—पानी जहरीला बन रहा है, एक-एक नारंगी सड़ती जा रही है!

अम्बपाली—उस मछली को निकाल डालिए, उस नारंगी को फेंक दीजिए—आप हमारे महामात्य हैं, आपको सब अधिकार है।

महा० चेतक—यही गणतन्त्र की दुर्बलता है। आप जानते हुए भी तब तक कुछ नहीं कर सकते, जबतक बहुमत भी आप पक्ष में न

कर लीजिए। और जो बुरे हैं, वे भले से कहीं ज्यादा काइयाँ होते हैं न।

अम्बपाली—यह अजीब बात।

महा०चेतक—हाँ, अजीब बात होने पर भी यथार्थ बात यही है। (कुछ ठहरकर, बड़ी ही गम्भीरता से) मेरा माथा तो उसी दिन ठनका, जिस दिन सुना कि मगध के महामत्री वैशाली का पक्ष लेने के लिए निकाल दिये गये हैं और वह वैशाली आ रहे हैं। मत्री का पद कोई दरबान का पद नही है कि आप जिसे आज रखे, कल निकाल दे सके। योग्यता की सर्वश्रेष्ठता और भक्ति की पराकाष्ठा ही किसी को उस महान पद पर पहुँचा सकती है और वहाँ पहुँचकर आदमी राज्य की इतनी गुप्त बाते जान जाता है कि यदि ऐसा मौका आ गया तो उस पद से हटाने के बाद उसे दुश्मन के घर मे जाने का मौका तो दिया ही नही जा सकता है। दडित मत्री का स्थान फाँसी का तख्ता होगा या कैदखाने की कालकोठरी—देशनिष्कासन की गलती तो की ही नही जा सकती।

अम्बपाली—(आश्चर्य मे) तो आपको शका है, मगध के महामत्री का इसमे हाथ है?

महा०चेतक—शका नही, निश्चय है। जब वह वैशाली आये, हमारे नागरिको के आनन्द की सीमा न रही। परमहितैषी, हार्दिक मित्र मानकर उनका धूमधाम से स्वागत हुआ। लोगो मे आनन्द का ऐसा ज्वार आया था कि वे बुद्धि की बात सुन नही सकते थे। मैंने इसमे खतरा देखा, उनके पीछे गुप्तचर रखा। गुप्तचर ने जो खबरे दी हैं, उनका एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी आज हमे मिल गया।

अम्बपाली—(आश्चर्य में आँखे फाडती) अरे!

महा० चेतक—हाँ, बडी चालाकी से उन्होने जाल बिछाया है। मान लीजिए, दो नागरिक बडे दोस्त है, आपस मे घुल-घुलकर बाते कर रहे है। उसी समय उनम से एक को वह अलग बुलायेग, यह कहकर कि एक जरूरी बात दरियाफ्त करनी है। और उसे बुलाकर महज मामूली बात पूछेगे—"क्योजी, लोग खेत जोतते है?' 'आज आपने दाल कौन-सी खाई?' 'आप कितने भाई है?' आदि। लेकिन ये बाते भी इस सजीदगी से करेगे कि उसका साथी सोचेगा, महामत्री से कुछ गहरी, महत्त्वपूर्ण बाते हो रही है। उसके मन मे सन्देह पैदा होगा। और जब उसका साथी पहुँच कर यह कहेगा कि मगध

के महामत्री ने सिर्फ ये मामूली वाते की है, उसका सन्देह पक्का हो जायगा—दोनो का दिल टूटेगा, मैत्री वैर मे परिणत हो जायगी।

अम्बपाली—(कॉपती हुई) चालाकी की हद है।

महा० चेतक—यही नही, धनी-गरीव, ऊँच-नीच, वीर-कायर आदि तरह-तरह के भेदभाव के सवाल उठाकर वह हमारी एकता को छिन्न-भिन्न करने पर तुले हुए है। इस हत्याकाण्ड के ठीक पहले आर्य अश्व-सेन से उनकी वाते हो रही थी—जरूर, उन्ही के उकसाने से यह काड हुआ है।

अम्बपाली—और, देखने मे कितने साधु लगते है, हमेशा वुद्ध भगवान का नाम लेते है।

महा० चेतक—ऐसे लोगो का साधुपन उनकी ढाल होती है, और भगवान का नाम उनकी तलवार। सीधा शिकार सिर्फ शेर करता है, और सभी जानवर, जिनका आदमी सिरताज है, हमेशा आड लेकर निशाना लेते है, भद्रे।

अम्बपाली—महामात्य, सघ का भार आपके सिर है। ऐसे आदमियो से सघ को वचाना आपका कर्त्तव्य है। आप इन्हे गिरफ्तार क्यो नही करा लेते?

महा० चेतक—अगर आज मै इन्हे गिरफ्तार कराऊँ, वृज्जिसघ मे हलचल मच जायगी। यह शहीद वन जायँगे। इनका पक्ष और विपक्ष लेकर आन्दोलन खडा होगा। और इसके वाद अजातशत्रु जरूर हमारे देश पर चढ दौडेगा। मुझे जो खवर मिली है, वह इसके लिए तैयारियाँ भी कर रहा है।

अम्बपाली—(आश्चर्य मे) क्या वह वैशाली पर चढाई करनेवाला है।

महा० चेतक—मुझे खवर तो यहाँ तक मिली है कि उसने इसके लिए पाटलिग्राम के निकट सेनाएँ इकठ्ठी कर रखी है, गगा पार करने के लिए वेडे तैयार कर लिये है और अव सिर्फ उपयुक्त समय की प्रतीक्षा मे है।

अम्बपाली—आह। देवपुरी वैशाली। इस पर राक्षस का शासन होगा? इसे वचाइए, महामात्य। (व्याकुल-सी हो जाती है)

महा० चेतक—मै इसके लिए सयत्न हूँ, पर आपकी जिम्मेवारी भी इस वारे मे कम नही हे, आर्ये। जो काम अधिकार से नही किया जा सकता, वह प्रेम मे आसानी से कराया जा सकता है। आपके पास नौजवानो का दिन-रात प्रवेश है। आप उनकी ओर ध्यान दीजिए। नीति से कला का असर ज्यादा होता है। और, वह कला व्यर्थ है,

जो मातृभूमि के सकट-काल मे काम न आवे। आप अपनी कला का उपयोग इस काम मे करे। अगर नौजवानो का हृदय ठीक रहे, उनमे पारस्परिक एकता और प्रेम हो, उनमे आदर्श पर उत्सर्ग होने की भावना बनी रहे, तो फिर उस देश या जनपद को कोई भी पराजित नही कर सकता।

अम्बपाली—आपने सही कहा, महामात्य! आपकी आज्ञा सिर-आँखो पर। कुछ दिनो से मै व्याकुल-सी थी—मेरा यह सौन्दर्य, यह कला, क्या सिर्फ मनोरजन की चीज है? तुच्छ मनोरजन!!

महा० चेतक—मनोरजन तुच्छ चीज नही है, भद्रे! मनोरजन जिन्दगी की एक अहम जरूरत है। जहाँ मनोरजन नही, वहाँ जीवन नही। आपके द्वारा वैशाली की तरुण पीढी जीवन पाती रही है—जिन्दा-दिली ही जिन्दगी है, भद्रे! लेकिन हर चीज के उपयोग पर सामयिकता की छाप होनी चाहिये। आग रोशनी देती है, जलाती भी है। कला सुलाती है, तो जगाती भी है। अपने नागरिक जीवन के गोरखधधो मे परेशान नागरिको को आजतक आपने नृत्य और सगीत की मधुर नीद दी—क्षीण शक्ति के पुन सचय के लिए मौका दिया। लेकिन, आज सतत जाग्रत रहने का समय है। आज उसी कला को जागरण का शखनाद करने दीजिए।

अम्बपाली—(गर्व-मिश्रित स्वर मे) ऐसा ही होगा, महामात्य! अम्बपाली सिद्ध कर देगी, वह गौरी ही नही, दुर्गा भी है। वह सोहनी ही नही, भैरवी भी सुना सकती है।

महा० चेतक—(आशीर्वादात्मक ढग से हाथ उठाते) तथास्तु!

२

[वैशाली का सघागार और उसके सामने का विस्तृत मैदान—सघागार के गुम्बदो से शख और भेरी की ध्वनि हो रही है—

अजातशत्रु की सेना वैशाली पर चढाई करने को आ रही है, उसीका सामना करने के लिए नागरिको का यह अह्वान किया जा रहा है—

इस ध्वनि को सुनकर धीरे-धीरे नागरिक मैदान मे आते है—लेकिन इनमे उत्साह का कोई लक्षण दिखाई नही देता—न जयनाद है, न भुजाओ की उछाल—एक-दूसरे को यो देख रहे है जैसे पुराना वैर चुकाने का मौका मिला हो—एकाध जगह उत्साह की तरग देखी भी गई, एकाध बार जयनाद भी हुआ, तो वह निराशा के गहरे गर्त में तुरत विलीन हो गया—

संघ के महामात्य चेतक संथागार से निकलकर सभामंच पर आते हैं और नागरिकों को देखते हैं—देखते ही उनका चेहरा उतर आता है—भर्राई आवाज में नागरिकों को संबोधित करते हैं—]

महा० चेतक—नागरिको, क्या आपको मालूम है, यह शंख क्यों फूँका गया है? यह भेरी क्यों बजाई गई है? हमारे वृज्जिसंघ के पुराने शत्रु अजातशत्रु ने हमपर चढ़ाई की है।

एक नागरिक—क्यों आजतशत्रु हम पर चढ़ाई करेगा?

दूसरा नागरिक—चढ़ाई की है, तो उससे हमारा क्या?

तीसरा नागरिक—क्या हमारी तरफ से उसे छेड़ा गया है?

महा० चेतक—बस, बस, नागरिको! मैं आज का समाँ देखकर ही दंग हूँ। यही वैशाली है, यही संथागार और उसका मैदान है। शंखनाद होते ही वैशाली के घरों में कोई भी नौजवान नहीं रहता था। सभी अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित यहाँ इकट्ठे हो जाते थे। तीसरी बार भेरी बजते-न-बजते इस विस्तृत मैदान में तिल धरने की जगह नहीं रह जाती थी। नागरिकों के जयनाद शस्त्रों की झनझन, घोड़ों की हींस और हाथियों के चिग्घाड़ से आसमान गूँज उठता था। सब कहते थे, 'संघ पर क्या संकट आया? सब पूछते थे, संघ का कौन दुश्मन है?—हम उसका मान करेंगे, हम उसकी आँख निकाल लेंगे। और आज वही वैशाली—आह वैशाली! (उनका गला भर आता है)

एक नागरिक—लेकिन हमें पूछने का हक है?

दूसरा नागरिक—हमें युद्ध का औचित्य तो मालूम होना चाहिए।

तीसरा नागरिक—हिंसा मानवीय कर्त्तव्य नहीं, यह राक्षसी वृत्ति है।

[ऐसे सवालों को सुनकर कुछ नागरिक, जिनमें जोश और उत्साह था, लेकिन उभाड़ा न था, तमतमाकर खड़े होते हैं—लेकिन उन्हें बोलने के पहले ही महामात्य चेतक हाथ के इशारे से रोक देते हैं और शान्त भाव से कहते हैं—]

महा० चेतक—नागरिको गणतंत्र के मानी ही यह है कि हर नागरिक राज्य के कामों में अपने को हिस्सेदार समझे—अपनी जिम्मेवारी निभाये, संघ के पदाधिकारियों से जिम्मेवारी कबूल करे। किन्तु आज तो अजीब सवाल पूछे जा रहे हैं। संघ ने युद्ध नहीं छेड़ा है कि आप उससे औचित्य का उत्तर माँगें। युद्ध का औचित्य पूछना है, तो आप अजातशत्रु से पूछें—इसीलिए तो संघ ने आपका आह्वान किया है। लेकिन याद रखिए, चढ़ाई करनेवाले दुश्मन से आप जबान

मे नही डर जाते ऐसी जबानो को वह जवाब देगा। आक्रमणकारी एक ही जबान समझता है वह है पराक्रम से उठाई गई तलवार की झनझन या चलाये गये तीर की सनसन को।

[महामात्य के इस कथन पर उत्साही दल मे और जोश आ जाता है, उनमे से नागरिक उठकर कहने लगते है—]

एक नागरिक—हम तलवार की जबान मे ही उसे समझायेगे।

दूसरा नागरिक—हम उसे उनकी गुस्ताखी का मजा चखायेगे।

तीसरा नागरिक—बोलो, वृज्जिसघ की जय, गणतत्र की जय, वैशाली की जय।

[जयजयकार करनेवालो की सख्या बढती जाती है—चारो ओर हलचल और सरगर्मी दिखाई पडती है—जिस नागरिक ने पहले विरोध की आवाज उठाई थी, वह आगे बढता, सभामच के निकट जाता और नागरिको को सुना कर कहता है—]

पहला नागरिक—महामात्य, क्या मुझे नागरिको को सम्बोधित करने की आज्ञा मिल सकती है?

महा० चेतक—निश्चय हां। सघ ने सब नागरिको को बोलने-चलने का समान अधिकार दे रखा है। बोलिए—

पहला नागरिक—नागरिक भाइयो, हमे अपने गण पर नाज है, अपने सघ पर नाज है। अपनी प्यारी वैशाली और प्यारे वृज्जिसघ पर आये सकट को टालने के लिए जो योग न दे, उसकी जिन्दगी पर लानत। (कुछ नागरिक उत्साह मे 'वृजिसघ की जय' चिल्लाते है—वह तमककर कहता है) ठहरिए, अधीर मत होइए, वुद्धि से काम लीजिए। अगर वृज्जिसघ और वैशाली प्यारी चीज है, तो आदमी की जान भी कम कीमती नही। आदमी की जान ससार मे सबसे कीमती चीज है—सबसे प्यारी। इसीलिए हम दूसरे की जान लेने और जान देने के पहले थोडा सोच ले।

एक नागरिक—तुम कायर हो।

पहला नागरिक—महामात्य, गालियो को रोकिए, किसी को हक नही कि वह दूसरे को कायर कहे—

[चारो ओर उत्तेजना का वातावरण—महामात्य हाथ के इशारे से उन्हे शात करते—]

महा०चेतक—नागरिको, आप धैर्य न खोये। इन्हे पूरी बात कहने दीजिए। (पहले नागरिक से) आप जारी रखे—

पहला नागरिक—मैं कह रहा था, जो काम हम करने जा रहे हैं, उसपर जरा गौर से सोच लें। हम अपने गण पर, अपने संघ पर, अपनी वैशाली पर अपने को बलिदान करने जा रहे हैं। वैशाली या वृज्जिसंघ क्या है, अगर वह एक आदर्श का प्रतीक नहीं हो। इस आदर्श के निर्माण के लिए हमारे पूर्वजों ने क्या-क्या नहीं किया? उसी आदर्श को देखकर भगवान बुद्ध ने हमें देवता कहा था। लेकिन, वह आदर्श आज कहाँ है? हम उस उज्ज्वल आदर्श को खोकर जमीन पर ढकेले गये देवता-ऐसे हो गये हैं। हमारे नागरिक एक-दूसरे की निन्दा करते हैं, एक दूसरे से मर्म छिपाते हैं, एक-दूसरे की बुराई चाहते हैं, एक को कायर कहते हैं—भिखमंगा बताते हैं—

(कई ओर से आवाजें आती हैं)—'यह झूठी बात है', बिल्कुल झूठ', 'नहीं-नहीं, सही बात', 'उस दिन तुमने मुझे भिखमंगा बताया', 'तुमने मुझे कायर कहा', 'वीर लड़ें, हम कायर क्यों लड़ें?' 'भिखमंगे क्यों लड़ें, जिन्हें धन बचाना है, लड़े, तुम्हारी जबान कट जाय', 'तुम्हारी जिन्दगी पर लानत!'

महा० चेतक—(ऊँची आवाज से) शांत नागरिको, शांत! (पहले नागरिक से) आपको जो कुछ कहना है शीघ्र कहिए—

पहला नागरिक—भाइयो, मैं इस नाजुक मौके पर अब ज्यादा वक्त नहीं लेना चाहता। सिर्फ एक बात कहूँगा। एक तरफ तो यह हालत है, दूसरी ओर दुश्मन को देखें। आप जानते हैं, मगध-सम्राट् अजातशत्रु अब पुराना अजातशत्रु नहीं रह गया है। अब वह भगवान बुद्ध का अनुयायी है। दिन-रात गृध्रकूट की ओर उसका ध्यान लगा रहता है। वह आधा भिक्षु बन चुका है। मगध के आधे खून ने उससे जुल्म कराये, अब हमारा रक्त उसपर हावी है। उसके शरीर में जो वृज्जिरक्त है, वह उसे सुकर्म पर ले जा रहा है। फिर वह हमपर क्यों चढ़ाई करेगा? अगर की है, तो जरूर हमलोगों ने कुछ उत्तेजना दी है उसे तंग किया है, लाचार किया है। इसलिए हमें उसके खिलाफ फौज न भेजकर समझौते के लिए दूत भेजना चाहिए उससे सुलह कर लेना चाहिए—(बोलकर हट जाता है)

एक नागरिक—बहुत ठीक हम हिंसा से भी बच जायँगे।

दूसरा नागरिक—तुम दोनों कायर हो जनद्रोही, गणद्रोही देशद्रोही!

[फिर नागरिकों में आपस का तू-तू-मैं-मैं मच जाती है—हल्ला-गुल्ला मच जाता है—महामात्य बार-बार उन्हें शांत करने की कोशिश कर रहे हैं।

[अचानक लोग अम्बपाली को देखते है—अजीब है वेश उसका—शरीर पर जिरह-बख्तर—सिर के लहराते बाल के ऊपर शिरस्त्राण—पीठ पर ढाल, कमर मे तलवार लटक रही—एक हाथ मे बर्छी, जिसकी फली के नीचे वैशाली का झंडा लहरा रहा—

उसे इस रूप मे देखते ही सब आश्चर्य चकित रह जाते है—आपस का विवाद रुक जाता है, सब चुप हो जाते है—इस जमाव को वह आँख घुमाकर देखती है, फिर महामात्य की आज्ञा ले, ओजस्वी शब्दो मे बोलती है—]

अम्बपाली—वृज्जिसंघ के नागरिको, वैशाली के सपूतो! मेरे इस रूप को देखकर आप चकित हो रहे है। नारी का यह रूप नही, राजनर्तकी के भी अनुरूप नही! आपका चकित होना उचित ही है। लेकिन, आप सोचिए तो कि मुझे यह रूप क्यो धारण करना पडा है? क्यो उन हाथो मे आज तलवार है, जिनमे कल तक वीणा थी? क्यो उस मस्तक पर शिरस्त्राण है, जिसपर फूलो के गुच्छे लटकते थे? जिस वक्षस्थल पर कल तक पारिजात की मालाएँ होती थी, उसपर आज यह जिरह-बख्तर देखकर आप चकित न हो, यही आश्चर्य है। किन्तु, आप सोचिए तो, ऐसा क्यो हुआ?

[वह चुप हो जाती है—चारो तरफ सन्नाटा है—सब एक-दूसरे का मुँह देखते है—अम्बपाली फिर बोलती है—]

नागरिको, आप नही बोल रहे है। आप शायद नही सोच पा रहे है? या आप अपने पर शर्मिन्दा हो रहे है? हाँ, यह शर्म की बात है, लज्जा की बात है कि जब दुश्मन हमारे द्वार पर पहुँच चुका है, जब उसकी तलवार हमारी गर्दन छू रही है, उसके तीर हमारी छाती मे घुसने को है, हम यहाँ विवाद कर रहे है कि हम युद्ध करे या नही करे, लडाई अच्छी चीज है या बुरी, इसमे हिसा है या अहिसा? हम कितने पतित हो चले है और हमारा दुश्मन कितना भला है, इसकी नाप-तौल भी हम आज ही कर लेना चाहते है। कैसी आत्मवचना! आत्महत्या का कैसा सुन्दर प्रयत्न!! कहा जाता है, अजातशत्रु आधा भिक्षु हो चुका है? क्या भिक्षुओ की सेना तलवार लेकर चलती है? गाँवो को जलाती है? फसलो को रौदती है और आदमी के खून से जमीन को सीचती है?

[लोगो मे सनसनी छा जाती है—चेहरो पर गुस्से की झलक स्पष्ट हो जाती है—बाहे फडकने लगती है—लोगो की इस परिवर्तित

अजातशत्रु—मगधपति मत कहो, राजनर्तकी! मै मगधपति की हैसियत से यहाँ नही आया। मगधपति इस वेश-भूषा मे नही आया करते।

अम्बपाली—क्षमा करे, मुझसे गलती हुई। मगधपति तो धनुष के टकार और तलवारो की झकार के साथ आया करते है।

अजातशत्रु—मगध को अपने धनुष और तलवार पर कम नाज नही है, राजनर्तकी! तुम्हारे व्यग्य मे भी सचाई है!

अम्बपाली—सिर्फ एक बात कहना मै भूल गई थी, क्षमा कीजिए तो निवेदन करूँ।

अजातशत्रु—तुम्हारे लिए हमेशा क्षमा है।

अम्बपाली—क्योकि मै नारी हूँ और सुन्दरी भी?

अजातशत्रु—तुम सुन्दरी हो, इसमे भी सचाई है।

अम्बपाली—(ताने के स्वर मे) और इसमे भी सचाई है कि मगध को धनुष और तलवार के साथ ही अपने महामत्री वस्सकार पर भी कम नाज नही।

अजातशत्रु—(मुस्कुराते हुए) तुम वस्सकार पर नाराज हो लो राजनर्तकी, लेकिन मत्री वही है, जो विजय का पथ प्रशस्त करे!

अम्बपाली—चाहे जिस घृणित उपाय से हो?

अजातशत्रु—विजय का पथ हमेशा ही कीचड से भरा और रक्त से सना होता है। जो गदगी और खून से डरे, उसे सिर से मुकुट उतारकर हाथ मे भिक्षा-पात्र लेना चाहिए।

अम्बपाली—(जैसे निशाना लेकर) भगवान बुद्ध ने मगधपति को यही शिक्षा दी थी! क्यो?

अजातशत्रु—भगवान ने कुछ दूसरी ही शिक्षा दी थी। (मुस्कुराते हुए) किंतु, एक नन्ही-सी चीज ने सब बटाढार कर दिया, राजनर्तकी! देखोगी वह चीज?

अम्बपाली—कैसी चीज?

अजातशत्रु—(हाथी-दाँत पर बनी अम्बपाली की तस्वीर निकालकर उसके हाथ मे देते हुए) यही है वह चीज!

अम्बपाली—(आश्चर्यचकित) ऐं, यह मै? मेरी .

अजातशत्रु—हाँ, तुम्हारी इस छोटी-सी तस्वीर ने ही फिर एक बार पीला कपडा उतार फेकने को लाचार किया, एक बार फिर गगाजल से धोये हाथो को खून मे धोने को बाध्य किया!

अम्बपाली—(भौचक बनी) मगधपति!

अजातशत्रु—राजनर्तकी! मगधपति ने जिन्दगी के इतने चढ़ाव-उतार देखे हैं कि उसने तय कर लिया था—शेष जीवन वह गृध्र-कूट पर ध्यान लगाते तपस्या में बिता डालेगा, या राजपाट की झंझटों को दूर कर बोधिवृक्ष की छाया में शान्ति-सुख प्राप्त करने को एक दिन प्रस्थान कर देगा। किन्तु उसके सारे मनसूबे हवा हो गये—उसे छल की नीति ग्रहण करनी पड़ी, बल का प्रयोग करना पड़ा। किसके चलते? तुम्हारे? नहीं। टेढ़ी तकदीर ने (मुस्कुराता है)

अम्बपाली—तो आप राज्य के लिए वैशाली नहीं आये, सौन्दर्य के लिए वैशाली आये हैं।

अजातशत्रु—तुमने बिल्कुल ठीक कहा।

अम्बपाली—सौन्दर्य, जो राज्य से भी क्षणिक है!

अजातशत्रु—सौन्दर्य, जो राज्य से भी अधिक प्रलोभक, मोहक और आकर्षक है। हर दिव्य वस्तु क्षणिक होती है, राजनर्तकी! फूल की मुस्कान, चपला की चमक, इन्द्रधनुष की रंगीनियाँ और ओस की चमचमाहट सब क्षणिक हैं! क्षणिकता दिव्यता की अनुचरी ही नहीं सहचरी भी है!

अम्बपाली—और, मानवता की महत्ता इसीमें है कि क्षणिक के पीछे दौड़ा जाय?

अजातशत्रु—क्षणिक के पीछे नहीं, दिव्य के पीछे। हर अच्छी चीज के पीछे उसका बुरा पहलू होता है, राजनर्तकी! जन्म के पीछे मरण है, उल्लास के पीछे विषाद, उत्सव के पीछे मातम। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जिन्दगी और जशन—जीवन और उत्सव—को भूलकर हम हमेशा शोक-सागर में गोते लगाते रहें—मातम मनाते रहें!

अम्बपाली—(घृणायुक्त व्यंग्य से) और इस जिन्दगी और जशन के लिए हजारों आदमियों का खून बहायें, हजारों माताओं को निपूती बनायें, हजारों युवतियों का सुहाग-सिन्दूर धोयें और हजारों मासूम बच्चों की जिन्दगी को आँसुओं में डुबोयें!

अजातशत्रु—हाँ, हाँ। राजनर्तकी, इन भावुकता की बातों से तुम अजातशत्रु के दिल को दहला नहीं सकती—बल्कि, ऐसा करके तुम उसके दिल में सोई उस राक्षसी को कुरेदकर जगाती हो, जिसे वह मुश्किल से सुला पाता है!

[वह अचानक उठकर खड़ा हो जाता है—इधर-उधर टहलने लगता है—आसमान की ओर बार-बार देखता है—अम्बपाली कुछ देर तक उसकी भाव-भंगी देखती है—फिर नजदीक जाकर कहती है—]

अम्बपाली—मगधपति, आसन ग्रहण करें।

अजातशत्रु—नहीं, मुझसे बैठा नहीं जायगा, सुन्दरी!

अम्बपाली—'सुन्दरी' कहकर मेरा अपमान न कीजिए।

अजातशत्रु—हाँ, हाँ, समझा, समझा! (हँसकर) सुन्दरी का आग्रह कोई कैसे टाल सकता है? अच्छा, आओ बैठें।

[अजातशत्रु बैठ जाता है—किन्तु अम्बपाली खड़ी ही रहती है—अजातशत्रु कहता है—]

अजातशत्रु—बैठो, सुन्दरी!

अम्बपाली—क्या नारी सिर्फ सुन्दरी ही होती है?

अजातशत्रु—हाँ, जो सुन्दरी नहीं है, वह नारी नहीं है। ठीक उसी तरह कि जो वीर नहीं है, वह मर्द नहीं है।

अम्बपाली—नारी वीर भी हो सकती है!

अजातशत्रु—और मर्द सुन्दर भी हो सकते हैं। लेकिन इन दोनों को प्राकृतिक गड़बड़झाला ही समझो, सुन्दरी!

[अम्बपाली आँखें गड़ाकर अजातशत्रु के चेहरे को देखती है—उसके शीतला के दाग से भरे चेहरे पर अजीब क्रूरता दिखाई पड़ती है—अम्बपाली को यों घूरते देख वह हँसकर बोलता है—]

अजातशत्रु—क्यों? मैं कुरूप हूँ, यही न देख रही हो?

अम्बपाली—इसके पीछे की चीज भी।

अजातशत्रु—तुम मुखमुद्रा पढ़ सकती हो?

अम्बपाली—आप शस्त्र चला सकते हैं?

अजातशत्रु—आहा! (जोरों से हँसकर) तुम-जैसी राजनर्तकी पाकर कोई भी राजसभा धन्य हो सकती है।

अम्बपाली—(उसका अभिप्राय भाँपकर) आप यों मेरा अपमान नहीं कर सकते।

अजातशत्रु—मैं तुम्हें सम्मान देने आया हूँ। वैशाली-विजेता आज वहाँ की राजनर्तकी अम्बपाली से

अम्बपाली—(बीच ही में बात काटकर) प्रणय की भीख माँगने आया है! क्या, यही न कहना चाहते थे?

अजातशत्रु—बिल्कुल ठीक! उफ्, तुम कितनी बुद्धिमती हो, सुन्दरी!

अम्बपाली—अम्बपाली प्रशंसा की भूखी नहीं है, मगधपति! और वह प्रशंसा भी वैशाली-विजेता के मुँह से। ऐसी प्रशंसा को वह लानत समझती है। घोंसले को उजाड़नेवाले बहेलिये से चिड़िया चुमकार सुनना पसंद नहीं करती।

अजातशत्रु—हर पहले तब फड़फड़ाती है, चहक और चोंच चलाती है, फिर यहाँ-वहाँ उड़कर हाथ पर बैठती है, कंधे पर फुदकती है और फिर सर पर घोंसला बनाती है। क्यों? (अजीब उपेक्षा भाव से हँसता है)

अम्बपाली—(नम्र स्वर) कोई ऐसी चिड़िया भी हो सकती है जो तब फड़फड़ाकर मर जाना पसन्द करेगी, लेकिन बहेलिये का अहसान न लेगी।

अजातशत्रु—ऐसी चिड़िया आज तक नहीं देखी गई।

अम्वपाली—आदमी सिर्फ चिड़िया नहीं है।

अजातशत्रु—मगधपति साधारण आदमी नहीं है।

अम्वपाली—अम्वपाली भी साधारण नारी नहीं है।

अजातशत्रु—तुम क्या बोल रही हो, सुन्दरी?

अम्वपाली—आप क्या चाह रहे है मगधपति?

अजातशत्रु—मै क्या चाहता हूँ, इसे कहने की जरूरत रह गई? तो सुनो (दर्प से) अम्वपाली वैशाली-विजेता की राजनर्तकी वनेगी, उसे राजगृह चलने का निमत्रण देने आया हूँ।

अम्वपाली—और, अगर वह नहीं जाय?

अजातशत्रु—अजातशत्रु अगर-मगर नही जानता!

अम्वपाली—उन्हे जानने को लाचार होना पडेगा।

अजातशत्रु—(आवेश मे) क्या कहा?

अम्वपाली—(लापरवाही से) मैने कहा, मगधपति को सोचना पडेगा कि अम्वपाली अगर मगध जाने को राजी न हुई, तो वह क्या करेंगे?

अजातशत्रु—तुम नही जाती? (भवे टेढी करता है)

अम्वपाली—जरा अपनी भवे सीधी कीजिए, मगधपति! यह हम नारियो का ही शृगार है।

अजातशत्रु—(आगबवूला होकर) सम्हलकर वोलो राजनर्तकी, तुम किसके सामने वोल रही हो।

अम्वपाली—उसके सामने, जो मुझसे प्रणय-भिक्षा माँगने आया है। भिखारी को घमड नही शोभता!

[फिर उचककर खडा हो जाता है—अजीव उसकी मुखमुद्रा हो रही है—वह वेचैनी से मच पर टहलने लगता है—कुछ देर तक अम्वपाली चुपचाप खडी रहती है—फिर विनम्रता के शब्दो मे कहती है—]

अम्वपाली—मगधपति!

अजातशत्रु—(कुछ जवाब नहीं देता, टहलता रहता है)

अम्बपाली—मगधपति से मेरा निवेदन है, आसन ग्रहण करें।

अजातशत्रु—(रुककर, उसके चेहरे पर आँख गड़ाकर) सुन्दरी, तुम्हें याद रखना चाहिए कि वैशाली-विजेता से बात कर रही हो!

अम्बपाली—वैशाली-विजेता पर भी जिन्होंने विजय प्राप्त की थी, उनसे भी अम्बपाली ने इसी तरह ही बात की थी।

अजातशत्रु—(चौंककर) कौन है, जिसने मुझपर विजय प्राप्त की थी? अजातशत्रु अजेय है राजनर्तकी!

अम्बपाली—आह! आदमी अभिमान में अपने-आपको इतना भूल जाता है!

अजातशत्रु—(आँख गुरेरता है)

अम्बपाली—मेरा मतलब भगवान बुद्ध से था, मगधपति!

अजातशत्रु—(कुछ ठंडा पड़ते हुए) ओहो, अब समझा! हाँ, सुना था, भगवान बुद्ध तुम्हारे आम्रकानन में ठहरे थे। उनसे तुम्हारी बातें हुई थीं?

अम्बपाली—सिर्फ एक संध्या को नहीं, सात दिनों की सात संध्याएँ उनसे बात करने में मेरी गुजरीं।

अजातशत्रु—फिर क्या हुआ?

अम्बपाली—वही, जो दो समान-बलशाली व्यक्तियों की जोर-आजमाई के बाद होता है!

अजातशत्रु—(आश्चर्य से) समान बलशाली?

अम्बपाली—जी, हाँ। बल सिर्फ तलवार और धनुष में नहीं है। मगधपति, कुछ ऐसी ताकतें भी हैं जिनके सामने तलवारें मोम की तरह गल जाती हैं और धनुष तिनके की तरह टूट जाते हैं। क्या आप भगवान बुद्ध के निकट धनुष और तलवार लेकर गये थे?

अजातशत्रु—(कुछ बोलता नहीं, सोचता है)

अम्बपाली—(मुस्कुराती हुई) और अम्बपाली के पास भी तल-वार और धनुष लेकर नहीं आ सके।

अजातशत्रु—तुम इस भ्रम में न रहो कि मैं निःशस्त्र हूँ।

अम्बपाली—भगवान बुद्ध ने भी यह कभी न सोचा होगा कि मगधपति साधनहीन होने के कारण उनके पास निःशस्त्र गये थे।

अजातशत्रु—तुम अजीब नारी हो, अम्बपाली।

अम्बपाली—भगवान बुद्ध ने भी यही कहा था।

अजातशत्रु—उन्होंने और क्या कहा था?

अम्बपाली—उनसे मेरी बातें अभी रह गई हैं—वह फिर वैशाली पधारेंगे।

अजातशत्रु—अम्बपाली, राजगृह चलो। वहीं गृध्रकूट पर भगवान के दर्शन करना।

अम्बपाली—मगधपति, अपने को धोखे में मत रखिए। आप मुझे गृध्रकूट पर भगवान के दर्शन कराने के लिए आमन्त्रित करने नहीं आये। भगवान और गृध्रकूट का दिव्य सन्देश आपने सुना होता, तो आप यहाँ इस रूप में आते ही नहीं। यहाँ पर आपको बोधिवृक्ष की छाया नहीं, मार की आँधी उड़ा ले आई है। लेकिन सोचिए, सम्राट्! जिसकी एक छोटी-सी तस्वीर ने आपके शरीर से पीला वस्त्र उतरवाया, नर-संहार पर उतारू कराया, उसका वहाँ सशरीर जाना आपके, राजगृह के और मगध के लिए, क्या मंगल की बात हो सकती है?

[अम्बपाली की यह बात सुन वह थोड़ी देर असमंजस में पड़ जाता है, लेकिन, फिर जैसे सम्हलकर बोलता है।]

अजातशत्रु—मैं अकेला लौट नहीं सकता। (उसकी आवाज भर्राई हुई है)

अम्बपाली—सभी यही कहते हैं, सभी यही चाहते हैं, लेकिन, एक दिन सभी को अकेले लौटना होता है, मगधपति! यही होता आया है, यही होता रहेगा। आपसे पहले एक और मगधपति ने ऐसा ही कहा था

अजातशत्रु—एक और मगधपति ने? यह दूसरा मगधपति कौन?

अम्बपाली—क्या उनकी तस्वीर देखियगा? (वह झटपट एक मंजूषा से एक तस्वीर निकालती और अजातशत्रु को दिखाती है)

अजातशत्रु—यह तस्वीर तुम्हें कहाँ मिली नर्तकी!

अम्बपाली—और आपको वह तस्वीर कहाँ मिली मगधपति! मगधपति, आप घबरायें नहीं, राजनर्तकी का द्वार सबके लिए खुला है! हम यों ही कभी एक जगह अचानक मिलते हैं और यदि हमने सही मार्ग पकड़ा, तो एक दिन हम सभी एक साथ होंगे—अनन्त काल तक के लिए। सवाल सिर्फ क्षणिक और अनन्त के बीच चुनाव का है, सम्राट्!

[अजातशत्रु चुप हो जाता है—धीरे-धीरे टहलता है—किंतु, अब उसके चेहरे पर उत्तेजना या रोष की भयानकता नहीं, विषाद और

पराजय की भावना है—वह अचानक जैसे कुछ निर्णय कर लेता है और कहता है—]

अजातशत्रु—अम्बपाली, तुमने मुझे पराजित किया, मै आज ही वापस जा रहा हूँ।

अम्बपाली—वैशाली-विजेता अम्बपाली को यह श्रेय दे रहे है, यह उनकी कृपा है।

अजातशत्रु—अजातशत्रु के हृदय मे दया, ममता, कृपा, कृतज्ञता आदि कोमल भावनाएँ नही है, राजनर्तकी। यह सिर्फ जय जानता है और अपनी पराजय को जय मानने की क्षुद्रता इसमे नही है। लेकिन याद रखना, अजातशत्रु पराजय नही वर्दास्त कर सकता। मुझे वैशाली-विजय को फिर आना पडेगा—

अम्बपाली—आइएगा, पर अब पहले महामत्री वस्सकार को नही भेजिएगा, सम्राट्।

अजातशत्रु—अब उसकी जरूरत नही रह गई, अम्बपाली। वैशाली-विजय का पथ तो प्रशस्त हो चुका है।

[वह झपटकर, तेजी से, वहाँ से चल पडता है—अम्बपाली उसकी पीठ को एकटक देखती रह जाती है—उसके मुँह से शब्द नही निकलते, लेकिन उसकी आँखे पुकार-पुकारकर कह रही है, यह अजीब पुरुष है।]

चौथा अंक

१

[रात का सन्नाटे का आलम—

वैशाली का एक प्रान्तर—बॉस का झोपडा, जिसके आगे बाँस से ही घिरा एक आँगन—झोपडे के वरामदे पर एक चिराग टिमटिम कर रहा— झोपडे के भीतर भी रोशनी—

झोपडे के भीतर, दरवाजे के सामने, एक खाट पर अरुणध्वज पडा है— समूचा शरीर ढँका, सिर्फ सिर उघार—बाल विखरे, चेहरा सूखा, गाल पिचका—नाक कुछ असाधारण तौर से उभड आई—धँसी आँखे वन्द—

जिस दिन वैशाली मे मगध-सेना घुसी, यह घायल हुआ—जो तीर अम्वपाली की ओर आ रहा था, इसी ने अपने ऊपर ले लिया था—

जख्म वढता ही गया—रात दिन वुखार मे रहता है—मधूलिका की लाख कोशिश करने पर भी हालत नही सुधरी—आज उसकी हालत सव दिनो से खराव है—

उसके सिरहाने मधूलिका वैठी, अगुलियो से उसके वालो को सहला रही है—उसके चेहरे से करुणा टपकी पडती है—कई दिन के उपवास और अनिद्रा ने चेहरे पर स्याही-सी पोत दी है—

कभी-कभी अरुण की आँखें खुलती हैं—वह छत की ओर देखता है, फिर मधूलिका की ओर देखता है—रह-रहकर हल्की-सी आह उसके गले से निकलती है और आँखें बन्द हो जाती हैं—

उसकी आँखें बन्द होते ही मधूलिका की आँखों से बड़े-बड़े मोती के दाने-से आँसू टपक पड़ते हैं—किन्तु, वह तुरत सँभल जाती है, जिसमें अरुण आँखें खोले, तो उसे आँसू नहीं दीख पड़े—चिकित्सक कह गये हैं, जरा-सा मानसिक धक्का इसकी बिगड़ी हालत को और खराब कर सकता है—

एक बार अरुण आँखें खोलते ही कहता है—"मधू, पानी"—मधूलिका झट खाट की बगल में रखी सुराही से कटोरे में पानी डालकर उसे पिलाती है—पानी पीने के बाद अरुण कहता है—]

अरुणध्वज—मधु, अब रात कितनी है?

मधूलिका—अभी तीसरा पहरुआ जाग दे गया है।

अरुणध्वज—आह, भोर न जाने कब होगी?

मधूलिका—बस, अब भोर ही तो होगी, घबराओ नहीं।

अरुणध्वज—(छत की ओर एकटक देखते) देखती है, मधु? देख, देख, माँ बुला रही है।

मधूलिका—यह क्या बोल रहे हो?

अरुणध्वज—हाँ, हाँ, माँ बुला रही है—कल मेरी शादी होगी ..

मधूलिका—ऊपर मत देखो, आँखें मूँद लो।

अरुणध्वज—आँखें मूँद लूँ? माँ से आँखें मूँद लूँ। पगली, वह मेरी शादी के सपने देखती स्वर्ग गई। स्वर्ग में मेरे लिए एक दुलहन खोज रखी है उन्होंने। और उनसे आँखें मूँद लूँ?

मधूलिका—(उसकी आँखों पर हाथ फेरती) सो जाओ, अरुण, सो जाओ।

अरुणध्वज—सो जाऊँ। अकेले नींद नहीं आती मधु! कल स्वर्ग में ही सोऊँगा। दुलहन के साथ सोऊँगा। तू भी चल न मधु! मैं दुलहन के साथ सोऊँगा, तू गीत गाना—

मधूलिका—(उसकी आँखों से बरबस आँसू ढुलक आते हैं)

अरुणध्वज—तू तो फिर रो पड़ी। चल तू भी स्वर्ग चल। वहीं तेरी भी शादी कर देंगे। तू भी निश्चिन्त सोयेगी। यहाँ हमेशा रोते रहने से क्या फायदा भला?

मधूलिका—(आँसू पोंछती, आजिजी की आवाज में) सो जाओ, अरुण, वैद्यजी ने कहा है, बोलो मत।

अरुणध्वज—वैद्यजी ने कहा है? यह वैद्यजी कौन होते हैं मधु?

मधूलिका—सो जाओ। (उसाँसे लेती है)

अरुणध्वज—(कुछ उत्तेजना में) नहीं, बता यह वैद्य कौन होते हैं? वे कौन होते हैं कहनेवाले कि मैं सोऊँ! वैद्य। वैद्य मुझे क्यों कहेंगे?

मधूलिका—तुम बीमार जो हो!

अरुणध्वज—मैं बीमार हूँ? मैं बीमार? मैं बीमार हूँ, तो मेरी शादी कैसे होगी? (छत की ओर देखते) क्यों माँ, मैं बीमार हूँ? मैं बीमार हूँ? तो क्यों कह रही थी कि मेरी शादी होगी? (मधु से) मैं कब बीमार पड़ा रे?

मधूलिका—जोर से मत बोलो, उस दिन तुम्हीं न जख्मी हुए।

अरुणध्वज—हाँ, हाँ, मैं उस दिन जख्मी हुआ। उफ्, कैसा वह तीर था, गले में आ लगा। मधु आह! (कराहता है) जोरों से दर्द कर रहा है, मधु! उफ्!

मधूलिका—सो जाओ, जोर से मत बोलो। वैद्य जी ने कहा है, जोर से बोलने पर जख्म का टाँका टूट जाने का डर है—गले का जख्म है न?

अरुणध्वज—टाँका टूटेगा, तो क्या होगा, रे!

मधूलिका—चुप हो अरुण, सो जाओ।

[मधूलिका उसके बालों में फिर हाथ सहलाने लगती है—अरुण आँख मूँद लेता है—मर्मान्तिक पीड़ा दबाने की कोशिश की बेचैनी और बकली उसकी पेशानी पर झलक रही है—मधूलिका की आँखें से आँसू टपकते हैं—

थोड़ी देर तक आँखें मूँदे रहता फिर अरुणध्वज आँखें खोलता और मधु से पानी माँगता है—मधूलिका पानी पिलाती है—पानी पीकर छत की ओर देखता, बोलता है—]

अरुणध्वज—मधु, देख! वह माँ क्या कह रही है?

मधूलिका—चुप रहो अरुण, वहाँ माँ नहीं है।

अरुणध्वज—माँ नहीं है? क्या कहा, माँ नहीं है? माँ नहीं है, तो वह कौन है, रे! (ऊपर) क्यों माँ तू नहीं है? (मधु से) देख वह माँ ही तो है। पहचान, पहचान—

मधूलिका—चुप रहो, अब अम्बा आती होगी।

अरुणध्वज—(रूठने की आवाज में) अम्बा आती होगी! हाँ-हाँ, तू रोज मुझे ठगती है—'चुप रहो, अम्बा आती है, चुप रहो, अम्बा आती है'—मैं हर बार चुप होता हूँ, किन्तु, अम्बा कहाँ आई?

मधूलिका—इस बार जरूर आयेगी, तुम चुप तो होओ।

अरुणध्वज—क्यों मधु, अम्बा शादी नहीं करेगी? आती है, तो कहना, वह भी स्वर्ग चले। हम तीनों वहीं शादी करेंगे। शादी करेंगे! निश्चिन्त सोयेंगे! (अचानक उत्तेजित होकर) देख मधु, वह अम्बा पर तीर तीर आ रहा है रे, तीर . तीर! (चिल्लाता है, उठने की कोशिश करता है)

मधूलिका—(उसे पकडकर सुलाती हुई, तेजी से) तुम नहीं सोओगे? मैं जहर खाकर रहूँगी।

अरुणध्वज—जहर! (बेचैनी प्रगट करते हुए) नहीं, नहीं मधु, मैं सोता हूँ, तू जहर मत खा, मधु! तेरे बिना मुझे कौन देखेगा? (जख्म पर हाथ ले जाते) आह, दर्द! उफ्!!

मधूलिका—जरा दवा ले लो। (दवा पिलाती है)

अरुणध्वज—(दवा पीकर) मौसी कब आवेगी मधु?

मधूलिका—वह आती ही होगी। मैंने रथ भिजवाया है कि वह तुरत रातोरात आ जायँ। अब पहुँचती ही होगी।

अरुणध्वज—तू यह क्या पिला देती है, मधु! मुझे नींद आ रही है। मौसी आवे, तो जगा देना।

[वह आँखें मूँद लेता है—थोडी देर बाद उसे नींद आ जाती है—मधूलिका घर से बाहर आती है—आँगन में देखती है, शुक्र तारा पूरब के आसमान में काफी ऊपर उठ चुका है—उधर तुला (डंडी-तराजू) पश्चिम क्षितिज पर जा चुकी है—

रथ का घर्र-घर्र शब्द होता है—मधूलिका उधर चौकन्ना होकर देखती है—देखती है सुमना के साथ अम्बपाली आँगन में घुस रही है—]

मधूलिका—तू। (लपकती हुई) तू? तू कहाँ से अम्बे?

अम्बपाली—(मधूलिका से लिपट जाती है) तूने मुझे खबर क्यों न की मधु? उफ्, अरुण कहाँ है?

मधूलिका—जोर से मत बोल, उसे अभी नींद आई है।

अम्बपाली—सुना कि तू इतने दिनों से यहाँ है? अरुण को यह क्या हुआ? कैसा है वह जख्म?

मधूलिका—यह सब मत पूछ अम्बे! दुनिया की यही रीत है। जमीन पर अकेला चकोर तडपता है, आसमान में तारों से घिरा चाँद हँसता है। सबकी अपनी-अपनी तकदीर होती है!

अम्बपाली—यह तू क्या बोल रही है, मधु?

मधूलिका—हाँ, अपनी-अपनी तकदीर। तू राजनर्तकी बनी, अरुण पागल बना, मैं भिखारिन बनी। अब अरुण जा रहा है (उसकी आँखो से टपटप कुछ बूँदे गिर पडती है)

अम्बपाली—हाय, यह क्या? मुझे उसे देखने दे मधु?

मधूलिका—दूसरी गलती मत कर अम्बे! वैद्य जी कह गये है, अधिक उत्तेजना होने से जख्म का टाँका टूट जाने का डर है। कठ का जख्म है, अब खून जारी हुआ, तो फिर उसका बचना

अम्बपाली—कठ का जख्म! यह क्या हुआ? कैसे हुआ?

मधूलिका—यह भी तेरे ही चलते।

अम्बपाली—मेरे चलते?

मधूलिका—हाँ, राजनर्तकी बनने मे ही तेरा मन न भरा, तो उस दिन तुझे वीरागना बनने का शौक हुआ था न? उस वैशाली की चढाई के दिन? तेरा वह व्याख्यान? पागल अरुण ने जिद्द की, मुझे घोडा मोल ले दो, मै लडूँगा। वह लडाई मे गया। हमेशा तेरे पीछे-पीछे लगा रहा। शायद एक तीर तुझपर चला था?

अम्बपाली—(रोती हुई) अरे, वह अरुण था! हाय-हाय, मैं ही उसकी मृत्यु की वजह तूने मुझे खबर क्यो न की मधु? आह!

मधूलिका—न खबर की, न करती। (सुमना से) मौसी, आपने यह क्या किया? आपको सीधे यहाँ आना था।

सुमना—मैं क्या जानूँ, मधु! मातृत्व मुझे पहले अम्बा के घर घसीट ले गया। इसने पूछा, कहाँ? मैंने कहा, मधु ने बुलाया है। तेरा नाम सुनकर ही चौकी और अरुण की बीमारी का हाल सुनते ही तेरे भेजे रथ पर यहाँ चली आई! विधाता, यह क्या सुन रही हूँ, देख रही हूँ? (उसका गला भर आता है)

[इसी समय घर से कराह की आवाज आती है—तीनो चुप हो जाते है—"तुम दोनो बरामदे पर ठहरो" कह कर मधूलिका दौड कर भीतर जाती है—]

अरुणध्वज—पानी, मधु।

मधूलिका—(पानी देती) पी लो।

अरुणध्वज—(पानी पीकर) अब भोर मे कितनी देर है मधु?

मधूलिका—भोर होने ही जा रही है।

अरुणध्वज—मौसी भी नही आई?

मधूलिका—तुम चिल्ला पडते हो, उठने की कोशिश करते हो, मौसी कैसे आवे भला!

अरुणध्वज—अब न चिल्लाऊँगा, न उठूँगा। मधु, मौसी के दर्शन करा।

मधूलिका—वादा करते हो न?

अरूणध्वज—तेरी कोई बात टाली है?

मधूलिका—अच्छा बुला लाती हूँ, रथ आ गया है, वह पहुँच गई है।

[मधूलिका बरामदे पर जाती है—अम्बपाली को इशारे से ठहरने और चुप रहने को कह सुमना को लिये वह घर मे जाती है—अम्बपाली अपनी कान टट्टी से लगाये बरामदे पर खडी है—सुमना को देखते ही अरुण का चेहरा खिल पडता है—]

अरुणध्वज—मौसी, मौसी, प्रणाम?

सुमना—आह, बेटा! (वह अरुण से लिपटती और उसका माथा चूमती है)

अरुणध्वज—मौसी, कल मेरी शादी है, तुम अच्छी आई!

सुमना—(चुप, आँखो मे आँसू)

अरुणध्वज—तुम रोती हो मौसी? मेरी शादी है, और तुम रोती हो! देखो, (छत की ओर ऊँगली उठाकर) वह माँ स्वर्ग से बुला रही है। वही शादी होगी! तुमने भी कहा न था मौसी, अरुण तू सयाना हुआ, वधू क्यो नही लाता?

मधूलिका—मुझसे वादा कर चुके हो न? चुपचाप सोओ, अरुण!

अरुणध्वज—(सुमना से) देखती हो मौसी, मधु कहती है, चुपचाप सोओ। कल मेरी शादी है, आज कैसे चुपचाप सो जाऊँ मौसी?

सुमना—चुप रहो, बेटा।

अरुणध्वज—चुप रहो, बेटा! (छत की ओर देखता) माँ, चुप रहूँ? बोलो, तुम बोलती क्यो नही माँ? (सुमना से) मौसी, मौसी, देखो, देखो वह माँ नाराज हो रही है! माँ, माँ!

सुमना—बेटा, बेटा मेरी ओर देखो!

अरुणध्वज—मौसी, मौसी! तुम भी स्वर्ग चलो! मैं चलता हूँ, मधु चलती है, तुम भी चलो! (छत पर नजर ले जाकर) माँ, मैं आया! माँ! आया आया! (दोनो हाथ ऊपर फैला देता है) मौसी, मौसी, छोडो मौसी! माँ बुला रही है—माँ, . माँ, माँ, (चिल्लाने लगता है, उठने की कोशिश करता है)

मधूलिका—(उसके मुहँ पर हाथ रखती) अरुण, चुप रहो अरुण!

अरुणध्वज—(झटक देकर उसका हाथ हटा देता है) मधु, छोड मधु! मौसी, मौसी आह, माँ, बुला रही है! (गुस्से मे पुकारता) तू नही छोड़ती मधु, तुम नही छोडती मौसी?

मधूलिका—(आँसुओं की धारा में) अम्बा आ रही है अरुण! शान्त हो, चुप हो!

अरुणध्वज—(अम्बा का नाम सुनते ही पूर्व-सा ही फिर सहसा शान्त होकर) अम्बा आ रही है, मधु? मौसी, अम्बा आ रही है? नहीं, नहीं अम्बा नहीं आयेगी। अम्बा मौसी, माँ कहती है, मेरी दुल्हन अम्बा ऐसी है अम्बा ऐसी (मुस्कुराता है) नहीं, नहीं, अम्बा नहीं आयेगी वह क्यों आवे? वह राजनर्तकी है—'मधु, मैं राजनर्तकी! अरुण, मैं राजनर्तकी! ' नहीं, अम्बा नहीं आयेगी?

मधूलिका—मैं कह रही हूँ, तुम जरा चुप हो रहो—अम्बा आई ही!

अरुणध्वज—(फिर मुस्कुराता) अम्बा आई ही। अम्बा आई ही! (चौंककर दरवाजे की ओर इशारे करता) हाँ, हाँ, अम्बा आई तो वह अम्बा आई अम्बा! अरे, यह क्या? मधु मधु . तीर तीर अम्बा की ओर तीर, अम्बा की ओर तीर बचा रे, बचा तीर तीर तीर

[आँखे फाड़ता चिल्लाता, वह पूरे जोर से उठना चाहता है—मधूलिका और सुमना उसे पकड़ती हैं—दोनों स्त्रियों की आँखों से आँसू बह रहे हैं— इधर इन बातों को सुनकर बरामदे पर अम्बपाली जार-बेजार रो रही है, उसे हिचकियाँ पर हिचकियाँ आ रही हैं—लेकिन मुँह से आवाज नहीं निकलने देती।]

सुमना—बेटा, अरुण बेटा!

अरुणध्वज—(कुछ शांत होकर) मौसी, माँ,! मौसी, माँ! माँ, माँ, मौसी, मौसी (जैसे फिर वायु का दौरा आ जाय) देखो, देखो मौसी अरे, तीर, तीर अम्बा पर, अम्बा पर तीर तीर छोड़ो मौसी छोड़ मधु तुम नहीं छोड़ती तू नहीं छोड़ती छोड़ छोड़

[अचानक न जाने उसमें कहाँ से ताकत आ जाती है—वह दोनों औरतों को झटके दे देता है और आधा खड़ा हो जाता है—फिर दोनों उससे लिपट जाती हैं—इतने में मधूलिका का ध्यान उसकी गर्दन पर जाता है—टाँका टूट जाने से गर्दन की पट्टी पर खून की धारा बही जा रही है—मधूलिका चीख उठती है—]

मधूलिका—मौसी, खून! टाँका टूट गया मौसी! हाय! अम्बे, अम्बे! वैद्य-वैद्य!

[अब अम्बपाली से नही रहा जाता है—वह घर मे घुसती है और 'अरुण-अरुण' चिल्लाती उससे लिपट जाती है—

अरुण अम्बपाली की आवाज सुनते ही ढीला पड जाता है, उसको देखते ही, उसकी आँखे चमक पडती हैं—वह बिछावन पर लेट जाता है और उसके मुँह से निकल पडता है—]

अरुणध्वज—अम्बे, अम्बे।

अम्बपाली—अरुण, हाय अरुण।

मधूलिका—(खून से लथपथ पट्टी पर हाथ रखे) अम्बे, वैद्य ला अम्बे। जा, जा—अम्बे, अम्बे।

[अम्बपाली उठना चहती है—अरुण उसका हाथ पकड लेता है—उस हाथ को वह अपनी छाती पर खीच कर ले जाता है—आँखो को मूँदते हुए वह धीमे-धीमे कहता है—]

अरुणध्वज—अम्बे, तू आ गई तू भी चल अम्बे . चलेगी चल (धीरे-धीरे आँखे खोलते और छत की ओर देखते हुए) देखती है अम्बे माँ बुला रही है माँ माँ माँ

[उसके होठो पर मुस्कान की रेखा खिच जाती है—चेहरे पर एक ज्योति दौड जाती है—फिर खुली आँखे खुली ही रह जाती है और साँस का चलना एकाएक रुक जाता है—इस ओर सबसे पहले सुमना का ध्यान जाता है—वह चिल्ला उठती है—]

सुमना—हाय, हाय! यह क्या हुआ ? अरुण! अरुण!

मधूलिका-अम्बपाली—(एक साथ ही) अरुण! अरुण!

सुमना—(उसकी नाक के सामने हाथ ले जाकर) सर्वनाश अम्बे! अरुण नही रहा मधु!

[सुमना और अम्बपाली अरुण की लाश से लिपट जाती और "अरुण, अरुण" चिल्लाती है—लेकिन अचानक मधूलिका की मुख-मुद्रा गम्भीर हो जाती है—वह गम्भीरता से बोलती है—]

मधूलिका—सुन, अम्बे! (जोर से) अम्बे सुन!

अम्बपाली—(आँसुओ मे भीगा चेहरा उठाती) मधु, अरुण! हाय अरुण!

मधूलिका—रोने-धोने मे न बनेगा अम्बे! मै अब चली!

अम्बपाली—मधु! मधु!!

मधूलिका—मधु, मधु, नही! मधु चली। यह मेरा बोझ था अम्बे! इसकी जिन्दगी मैने ढोई, अब लाश तू ढो!

अम्बपाली—मधु मधु! यह क्या मधु? ओहो (रोती है)

मधूलिका—हाँ, जो जिन्दगी नही ढोता, उसे लाश ढोनी पडती है अम्बे! तू लाश ढो, तब समझ सकेगी, किसी की जिन्दगी ढोना क्या चीज है! मै चली मौसी, प्रणाम!

सुमना—बेटी। बेटी!

[मधूलिका झट घर से निकलती है—तीन-चार डग मे ही वह आँगन मे आ जाती है—'मधु-मधु' पुकारती अम्बपाली उसके पीछे आती है—मधूलिका मुडकर—"जिन्दगी नही ढोई तो लाश ढो" कहती आँगन से बाहर हो अधकार मे अन्तर्धान हो जाती है—]

२

[अम्बपाली का सोने का कमरा—वह पलँग पर लेटी है—एक कोने मे धुँधली रोशनी टिमटिम कर रही है—वह बार-बार करवटे बदलती और आखिर आँखे खोलती हुई उठ बैठती है—फिर पलँग के नीचे आकर टहलने लगती है—

थोडी देर टहलकर फिर पलग पर जाती है और सोने की चेष्टा करती है—आँखे मूँदती, करवटे बदलती और हारकर, नीद न आती देख, फिर पलँग के नीचे आती है—दीवार पर जो वीणा टँगी है, उसे लेकर बजाने लगती है—

उसका वेष बिल्कुल शृगार-भूषा से हीन है—बाल खुले, चेहरा उदास—करुणा की मूर्ति सी वह दीख पडती है—]

अम्बपाली—(वीणा पर वह गाती है—)

टूटते जब बीन के है तार!
उँगलियो का हो भले नर्त्तन,
कठ का स्वर दे मनोहर स्वन,
ताल हो, लय हो,
मूर्च्छना हो, मीड हो, सगीत की जय हो!
किन्तु, फिर उठती नही वह प्राणमय झकार,
जो बहाती जगत मे रस-धार,
और लाती जिन्दगी मे भावना का ज्वार!
प्रेम के गुजार के बदले—
प्रकट होता विषम हाहाकार!
टूटते जब बीना के है तार!!

[गाते-गाते उसकी आँखो से आँसुओ की धारा वही जा रही है—उसी समय चयनिका दरवाजे से झाँकती और भीतर आती है—वह हौले पाँव आकर उसके पास खडी है और अम्बपाली रोये और गाये जा रही है—जब गाना समाप्त होता है, चयनिका कहती है—]

चयनिके—भद्रे, आज भी अब तक नही सोई?

अम्बपाली—(चौक कर आँसू पोछती) ओहो, चुन्नी! कितनी रात गई रे!

चयनिका—रात क्या गई, अब तो शुक्र तारा उग चुका। यो सारी-सारी रात जगना क्या उचित है, आर्ये!

अम्बपाली—शुक्र तारा! उस रात भी शुक्र तारा उग चुका था! (उसाँस लेती है, लेकिन, तुरत महसूस करती है कि वह क्या बोल गई और बात बहलाने को सोच ही रही है कि चयनिका पूछती है—)

चयनिका—(साश्चर्य)—किस रात भद्रे! यह क्या बात है कि जब से उस रात मौसी आईं और आप उनके साथ गईं, तब से आप ज्यो ही अकेली हुईं कि रोने लगी! यह रात-दिन का रोना!!

अम्बपाली—रात-दिन का रोना! चयनिके, विधाता ने मानवता को भाषा क्यो दी? क्यो न यह भी कुररी-सी रोती, कोयल-सी कुहकती, पडुक-सी कुहरती और बुलबुल-सी चीखती अपनी जिन्दगी बिता देती है! बातो मे इसे कौन-सा रस मिलता है, चुन्नी!

चयनिका—कोई क्षण ऐसा भी होता होगा आर्ये, जब कुररी, कोयल, पडुक या बुलबुल की जिन्दगी मे आनन्द की रसधारा बहती होगी। अगर ऐसी बात नही होती, तो वे जिन्दा नही रह पाती भद्रे!

अम्बपाली—आनन्द की रसधारा! आनन्द की रसधारा की तह मे क्या है, क्या अम्बपाली से बढकर कोई जानता है? जिस तरह अगूर को तोडकर सडाकर शराब बनाई जाती है—उस हरे-हरे गोल-गोल, रस से शराबोर, मिठास से लबालब गुच्छो को पुराने बर्त्तन मे रखकर, ढँककर, जमीदोज कर, सडा-गला कर आदमी शराब का नाम देता और उसके— गले को जलानेवाले, झुलसानेवाले घूँट पीकर मत्त बनता, पागल बन जाता है, आनन्द की रसधारा भी कुछ ऐसी ही चीज है चयनिके! यह रसधारा नही मृग-मरीचिका है। यदि मानवता इस मृग-मरीचिका मे न फँसी होती, तो न जाने कब न उसने देवत्व प्राप्त कर लिया होता!

चयनिका—मै इन बडी-बडी बातो को नही समझ पाती भद्रे! लेकिन, यह दिन-रात का रोना—उफ्!

अम्बपाली—फिर वही बात! रुदन इतनी घृणा या उपेक्षा की चीज नही है, चयनिके! मानती हूँ, एक जमाना था, मै भी उसे इसी दृष्टि से देखती थी लेकिन, तब मै भ्रम मे थी, चुन्नी। जिस तरह दुनिया का पाप-ताप धोने को गगा भू पर अवतीर्ण हुई, उसी तरह मानवता के पाप-ताप, दर्द-जलन धोने-बुझाने को विधाता ने आसुओ की गगा-यमुना बहाई है। हमारे हृदय-कमडलु मे सचित यह पावन धारा, किसी दर्दीले भगीरथ की सवेदना या कातर याचना पर, अचानक ऊर्ध्वगामी होती, मस्तक-हिमाचल पर लहराती, फिर काल-ऐरावत के दो दाँतो द्वारा दो आँखो की राह पाती, हरहर करती, गिरती है और अपनी उज्जवल युगल धारा मे जग की सारी कालिमा और किल्विष को बहा ले जाती है! यदि किसी की आँखो मे आँसू देखो, उसे नमस्कार करो! आँसुओ पर घृणा या उपेक्षा ससार की सबसे बडी नास्तिकता है, चयनिके!

चयनिका—उपेक्षा या घृणा की धृष्टता इस अनुचरी से क्या हो सकती है, भला! मै तो देवी के आँसुओ को देखते ही धीरज खो देती हूँ। इधर तो आप दर्पण भी नही देखती, नही तो अपना चेहरा देख पाती—

अम्बपाली—चेहरा! चेहरे का रहस्य भी अच्छी तरह समझ चुकी हूँ, चुन्नी! गालो के गुलाब मे कितनी गध है, भवो की कमान मे कितनी तीरदाजी है, अधरो के बिम्ब मे कितना रस है, दाँतो के दाडिम मे कितनी मिठास है, नासिका के शुक मे कितनी उडान है, आँखो के खजन मे कितनी परवाज़ी है, ललाट के चाँद मे कितना अमृत है और लटो के साँप मे कितना जहर है—सब देख चुकी, आजमा चुकी, जान चुकी! उसकी 'हाँ' देखी, उसकी 'ना' देखी। उसकी 'हाँ' देखी—मगधपति के सामने, उसकी 'ना' देखी—भगवान बुद्ध के सामने! और लोग तो दोनो छोरो के बीच मे चक्कर काटते ही रह गये, चयनिके!

चयनिका—देवी, आप मे अपने से, ससार से इतनी उदासीनता, इतनी विषण्णता क्यो पा रही हूँ?

अम्बपाली—अपने से उदासीनता, ससार से उदासीनता—दोनो का एक ही मतलब है, चयनिके! जबतक अपने से उदासीनता न हो, ससार से उदासीनता हो ही नही सकती। और ससार के धक्के ही तो अपने मे उदासीनता पैदा करते है। 'स्व' और 'ससार' का एक अजीब गोरखधधा आदि काल से चला आ रहा है! ये एक-

दूसरे को प्रभावित किया करते हैं और इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के भँवर में मानव-मन तुच्छ तिनके-सा डूबता-उतराता रहता है। अम्बपाली अबतक भँवर के ऊपर नाच रही थी, अब वह उसकी चपेट में गोते खा रही है।

चयनिका—लेकिन क्या अनुचरी को इतना भी हक नहीं है कि वह उस बात को जाने, जिसने वैशाली की राजनर्तकी के विशाल हृदय को भी यों व्यथित, द्रवित कर दिया है।

अम्बपाली—तुम्हें सब कुछ जानने का अधिकार है, चयनिके! तू ही है, जिससे मन की बातें कहकर दिल हल्का करती आई हूँ। लेकिन दुनिया में कुछ ऐसी बातें हैं, जो कही नहीं जा सकती और जिनके न सुनने में ही कल्याण है।

चयनिका—तो देवी रोया करें और मैं चुपचाप देखा करूँ? क्या मैं पत्थर की बनी हूँ, क्या मेरे हृदय नहीं? इससे तो अच्छा है, चयनिका की मुश्क बाँध दे, उसे तहखाने में डाल दे कि वह घुट-घुट कर वहीं मर जाय। (उसका गला भर आता है, आँखें उमड़ पड़ती हैं)

[अम्बपाली वीणा को पलँग पर रख देती और हाथ पकड़कर चयनिका को अपने निकट बैठाती है—फिर उसकी ठुड्डी हाथ में ले दुलारती हुई कहती है—]

अम्बपाली—पगली, तू ऐसा करेगी, तो मेरी गति क्या होगी? जब नाव डूबती है तो सिर का घास का गट्ठर ही—तुच्छ तिनकों का वह समूह ही— उसके ढोनेवाले के प्राण का रक्षक सिद्ध होता है। कम-से-कम कुछ देर तक उसे पकड़ कर वह अपने को बचाये रखता ही है। अम्बपाली की नाव टूट चुकी है, चयनिके! वह अपनी जल-समाधि स्पष्ट देख रही है—जल-समाधि या सम्यक् समाधि! (सामने दीवार से सटी बुद्ध की मूर्त्ति पर उसकी नजर जाती है और वह उसे सिर नवाती है)

चयनिका—(आश्चर्यमुद्रा में) तो क्या आप बौद्ध-धर्म स्वीकार करने जा रही हैं?

अम्बपाली—अब समझ में आई है, चुन्नी, कि आदमी क्यों विराग लेता है, क्यों भिक्षु बनता है। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो स्वभाव से ही दुनिया के रागरंग से परे होते हैं। उनका मन प्रशान्त सागर होता है, जिसमें कितनी ही नदियाँ पानी डालें, जिसके ऊपर कितनी ही कलाओं से चन्द्रमा चमके, लेकिन जिसमें न तो बाढ़ आती है,

न तरंगे उठती है—(उँगली से बुद्ध-मूर्ति को दिखाती) देख, उस ओर! कैसी शाश्वत शान्ति! कामना या भावना की एक रेखा भी कही पाती है? लेकिन ज्यादातर मानव-मन झरने की तरह होता है, जो शुरू मे कलकल-छलछल करता, तरंगो से युक्त, फेनो से भरा, कभी इधर, कभी उधर भटकता-बहकता चक्कर काटता, गिर्दावे भरता, अन्तत नदी या नद मे परिणत हो, अपनी गति से आप ही क्षुब्ध, अपनी उठाई हुई लहरो से आप ही थपेड खाकर हाहाकार, आर्त्तनाद कर उठता है और त्राहि-त्राहि करता किसी सागर मे अपने को रख देता है। हाँ, यहाँ भी भाग्य पर निर्भर है कि वह प्रशान्त सागर प्राप्त करता है या फिर किसी बंगोपसागर की घूर्णि मे ही हाहा खाता रहता है। सन्यास या भिक्षुपन कुछ नही, थकी हुई आत्मा का आत्मसमर्पण है चयनिके! अम्बपाली भी थक चुकी। अब इससे यह बोझ नही ढोया

[वह अचानक रुक जाती है—छत की ओर देखती है—उसके भय-विस्फारित नेत्रो की टकटकी देख चयनिका कांप उठती है—देखते-देखते अम्बपाली के गाल आंसूओ से तर हो जाते है—चयनिका घबराई हुई कहती है—]

चयनिका—आर्ये, आर्ये! यह आप क्या देख रही है?

अम्बपाली—(अपने को सम्हालती, आँसू पोछती) क्या देख रही थी! अच्छी बात है, चुन्नी, तू नही देख पाती। (कुछ रुककर) अच्छा, तूने किसी से प्रेम किया है, रे!

चयनिका—(लज्जा से गड-सी जाती है) आर्ये!

अम्बपाली—तू सकोच कर रही है। ठीक ही तो। इससे बढकर बेवकूफी का सवाल और क्या हो सकता है—'तूने प्रेम किया है!' जैसे, प्रेम कहने की चीज हो। जो जबान पर आये, वह भी क्या प्रेम है? हमारे ऋषियो ने कहा है, सुकर्म को जिह्वा पर मत लाओ, जिह्वा पर अग्निदेव है, वह उसे जला देगे, भस्म कर देगे। बहुत ही सही चयनिके! कोई भी पावन चीज जिह्वा पर नही लानी चाहिए! फिर प्रेम! जिह्वा अग्नि है, तो प्रेम बर्फ। वह तो उसकी आँच से ही गल जाती है! राधा किसी से अपनी प्रेमव्यथा कहने गई—हाँ उनका मूक प्रेम कितने कवियो की वाणी का शृगार बन गया और अनन्त काल तक बनता रहेगा। यही प्रेम की महत्ता है! इसी वैशाली मे रहकर अरुण क्या अम्बपाली से अपना प्रेम कहने आया और हमेशा

उसके साथ छाया-सी घूमती हुई भी मधूलिका ने अरुण से अपना प्रेम कहा! (उसका गला भर आता है)

चयनिका—भद्रे, यह सब आप क्या कह रही हैं?

अम्बपाली—चुप रह चयनिके, चुप रह। मौसी ने कहा था, यह अभिमान नहीं, आत्मवंचना है अम्बे। अब उनके कथन की सचाई मालूम हो रही है। शृंगार, संगीत, उत्सव—ये सब क्या चीजें हैं, तू जानती है? यों ऊपर से देखने पर तो आत्म-प्रदर्शन के साधन मालूम होते हैं, लेकिन जरा गहरे जा, तो मालूम होगा, इनके द्वारा आदमी अपने को भुलाने की चेष्टा करता है। अपनी शारीरिक त्रुटि को शृंगार से ढँकना चाहता है, अपने हृदय के हाहाकार को वीणा की गुजांर में छिपाना चाहता है और अपने दुख-शोक को उत्सव में विलीन करना चाहता है। उफ्, मानव, मानव, तूने अपने को धोखे में रखने के लिए क्या-क्या न प्रयत्न किये! लेकिन हाय रे, मानव! अभिशाप ने कभी तेरा साथ न छोड़ा। वह छाया बनकर तेरे पीछे लगा है, पड़ा है! ज्यों-ज्यों तू प्रकाश की ओर दौड़ता है, वह और भी स्पष्ट और लम्बा होता जाता है! अम्बपाली, अम्बपाली, इतने दिनों तक तू जिसे भुलाये रही, उसने एक दिन तेरी सारी हेकड़ी भुला दी (अपने हाथों से चेहरा ढँक लेती है) उफ्, आह!

चयनिका—(सिसकियाँ भरती) भद्रे. भद्रे!

अम्बपाली—(चेहरे से हाथ हटाती है, सारा चेहरा आँसू में भीगा है) चुन्नी, चुन्नी! ....समझा तू सोने को कहेगी! मेरी प्यारी बच्ची, तेरी आज्ञा सिर-आँखों पर! (उसकी ठुड्डी पकड़ती और चूमती है) लेकिन, चयनिके, अम्बपाली के सोने के दिन चले गये। अब तो उसके कंधों पर एक थाती दे दी गई है! उफ् री निठुर थाती! (फिर छत की ओर देखती) मधु-मधु, तू यह क्या कर गई रे! मुझसे यह नहीं ढोई जाती है, मधु! "जो जिन्दगी नहीं ढोता, उसे लाश ढोनी पड़ती है!" काश, तू जान पाती, मैंने जिन्दगी भी लाश ही की तरह ढोई है! !

३

[वैशाली का कूटागार—एक ऊँचे टीले पर बना एक रमणीक विहार—विहार का पश्चिमी बरामदा—

सूरज डूबने जा रहा—डूबते हुए सूरज से ऐसी तिरछी लाल किरणें फूट रही हैं, जैसी भोर में दिखाई पड़ती हैं—हाँ, भोर की किरणों में जहाँ सुनहलापन अधिक होता है, इनमें लाली अधिक है—

कुछ चिड़ियाँ इस लाली भरी पृष्ठभूमि मे उड़ती क्षितिज की ओर जा रही है—वे ऐसी मालूम होती है, मानो लाल सागर मे बच्चो ने रंगीन कागज की छोटी-छोटी नावे बहा दी हो—

डूबते हुए सूरज की इस लाली मे बरामदे का यह हिस्सा अजीब सुनहला लग रहा है—बरामदे की एक-एक चीज दिप-सी रही है—सूरज की ओर मुँह किये ध्यानमग्न बैठे गोरे भगवान बुद्ध तो बिल्कुल सोने की मूर्ति-से लग रहे है— शरीर मे जरा भी स्पन्दन तक नही अनुभव होता—

भगवान बुद्ध से थोड़ी दूर हटकर भिक्षु-प्रवर आनन्द बैठे भगवान बुद्ध का चेहरा विमुग्ध होकर निहार रहे है—

[अम्वपाली आती है—बिल्कुल सादा है वेश उसका—हौले-हौले भगवान के निकट पहुँच उन्हे सिर झुका मौन-ही-मौन प्रणाम करती और आनन्द के इशारे पर कुछ दूर हटकर बैठ जाती है—

कुछ देर में भगवान बुद्ध आँखे खोलते है—सूरज की ओर देखते है— अम्वपाली उठकर फिर उन्हे प्रणाम करती है—वह मुस्कुरा पड़ते है, कहते है—]

भगवान बुद्ध—आप आ गई, भद्रे।

अम्वपाली—हाँ, भगवान।

भगवान बुद्ध—आपका यह वेश?

अम्वपाली—मै देख चुकी भगवान, आदमी दो मे से एक का ही शृंगार कर सकता है—तन का या मन का।

भगवान बुद्ध—सबसे बडा सत्य वही है, भद्रे, जिसपर आदमी खुद अपने अनुभवो मे पहुँचे।

अम्वपाली—लेकिन मेरे-ऐसे अनुभवो से पार होने का दुर्भाग्य किसी को भी प्राप्त न हो, भगवान।

भगवान बुद्ध—(मुस्कुराते हुए) वैशाली की राजनर्तकी और दुर्भाग्य।

अम्वपाली—(खिन्न स्वर मे) भगवान, मुर्दे को काँटो मे मत घसीटिए। जो जिन्दगी भर दीपशिखा-सी खुद जलती और दूसरो को जलाती रही, अगर उसकी भी जिन्दगी सौभाग्य ही हो, तो फिर दुर्भाग्य कहेगे किसे, भगवान?

भगवान बुद्ध—जब वासनाओ से विरक्ति आ जाय, तब समझना चाहिए, अन्तर का देवता जग उठा।

अम्बपाली—अन्तर का देवता क्या है, मैं नहीं जानती, भगवान। हाँ, मेरे अन्तर में आग लगी है; जो मुझे जला रही है, झुलसा रही है, यह अनुभव करती हूँ। हृदय में जैसे चिनगारियाँ फूटती रहती हैं; नसों में, शिराओं में खून की जगह जैसे बिजली दौड़ती रहती है! जागरण, जैसे वृश्चिक-दंशन! निद्रा, जैसे शूल-शयन! यह जिन्दगी है या मौत? (कातरता से) मुझे बचाइए, भगवान्

भगवान बुद्ध—कोई किसी को बचा नहीं सकता, भद्रे! जहाँ आग की लपट है, उसके निकट ही पानी का झरना है। अशान्ति के कंटक-कानन में ही शांति की चिड़िये का घोसला है। उस झरने, उस घोसले को खुद खोजना होता है। दूसरा, ज्यादा-से-ज्यादा, रास्ता-भर बता सकता है।

अम्बपाली—जैसे इस मार्ग-दर्शन का कोई महत्त्व ही नहीं?

भगवान बुद्ध—है; तभी तो तथागत को घर छोड़कर जंगल-जंगल की खाक छाननी पड़ी। बड़ी तपस्या, बड़ी साधना के बाद उस मार्ग का पता लगाया है; लेकिन जो मार्ग उन्हें मालूम हुआ, उसका निष्कर्ष सिर्फ इतना ही है कि ऊपर का कोई देवता और नीचे का कोई आदमी किसी को निर्वाण या मुक्ति नहीं दिला सकता। उस मार्ग पर स्वयं चलना होगा, दूसरा कोई उपाय नहीं।

अम्बपाली—आज उसी मार्ग की दीक्षा लेने आई हूँ, भगवान! मार्ग बताइए, मैं चलने को तैयार हूँ।

भगवान बुद्ध—भद्रे, जरा सोचिए आप यह क्या कह रही हैं?

अम्बपाली—सोच चुकी हूँ, भगवान! अच्छी तरह सोच चुकी हूँ। याद है, आपने कहा था—"तुम विचित्र नारी हो!"

भगवान बुद्ध—(मुस्कुराते हुए) उसकी एक झलक आज भी देख रहा हूँ! निराशाएँ हमें कहीं भी उड़ा ले जा सकती हैं।

अम्बपाली—सिर्फ निराशा की बात मत कहें भगवान। निराशा का प्रतिकार अम्बपाली जानती है। अगर भगवान ने उस यात्रा में नर्तकी पर कृपा न की होती, तो. . . (रुक जाती है)।

भगवान बुद्ध—तो क्या? जरा सुनूँ। (फिर मुस्कुराते हैं।)

अम्बपाली—(तेजस्विता के साथ) जो कायर होते हैं वे मोड़ पर रुक जाते हैं। जिनके हृदय में साहस है वे एक पथ पकड़ते और चल देते हैं, चाहे वह पथ जहाँ ले जाय—स्वर्ग या नरक—ये एक ही सिक्के के दो रुख हैं भगवान!

भगवान बुद्ध—(गम्भीरता से) सिर्फ तेजस्विता बड़ी खतरनाक चीज है आर्ये। उसके मुँह में साधना की लगाम होनी चाहिए, नहीं तो न जाने वह किस अंधगुफा में ले जाकर पटक देगी! राज-नर्तकी सावधान!

अम्बपाली—(प्रकृतिस्थ होकर) जिसने एक वार प्रकाश की किरण देख ली उसकी आँखें धोखा नहीं खा सकती है, भगवान। इसीसे आज वैशाली की राजनर्तकी भिक्षुणी वनने को भगवान के चरणों की शरण में आई है। (घुटने टेक कर सिर झुका लेती है)

भगवान बुद्ध—(साश्चर्य) भिक्षुणी वनने को!

अम्बपाली—हाँ अम्बपाली ने तय कर लिया है कि अव वह अपना शेष जीवन धर्ममार्ग पर चलने और धर्म का सन्देश घर-घर पहुँचाने में ही वितायेगी?

भगवान बुद्ध—लेकिन तथागत के धर्मसंघ में भिक्षुणी का विधान नहीं!

अम्बपाली—क्या कहा भगवान ने? भगवान के धर्ममार्ग में नारियों के लिए स्थान नहीं!

भगवान बुद्ध—नारियों के लिए स्थान नहीं, ऐसा नहीं कह सकते। हर आदमी—स्त्री-पुरुष—तथागत के धर्ममार्ग पर चल सकता है। लेकिन, नारियों के लिए भिक्षुणी वनना

अम्बपाली—(उत्तेजना में वीच ही में वात काटकर) उचित नहीं है, यही न कह रहे थे भगवान? क्या मैं पूछ सकती हूँ, क्यों उचित नहीं है?

भगवान बुद्ध—उत्तेजित मत हो भद्रे! हर क्यों का जवाव नहीं होता।

अम्बपाली—लेकिन, जिस वात का सम्बन्ध किसी की जिन्दगी से है—उसके अस्तित्व की 'हाँ' और 'ना' से है, उसे हक हासिल है कि वह ऐसा सवाल करे और यह उचित है कि उसे जवाव दिया जाय।

भगवान बुद्ध—आपको मालूम ही होगा, देवी प्रजावती और राहुल-माता यहाँ आई हुई है।

अम्बपाली—देवी प्रजावती धन्य है जिन्हें भगवान की मौसी होने और उन्हें गोद खिलाने का सुअवसर मिला और राहुलमाता यशो-धरा तो इतिहास में अमर ही हो चुकी।

भगवान बुद्ध—इन दोनो ने भी यही इच्छा प्रकट की थी, किन्तु तथागत ने उन्हे 'नाही' कह दी।

अम्बपाली—आपने 'नाही' की होगी भगवान! यह कोई आश्चर्य की बात नही है। हमेशा से अपने पर अत्याचार होता आया है—साधारण जनो द्वारा और महात्माओ द्वारा भी! लेकिन, भगवान जिस आसानी से देवी प्रजावती और यशोधरा को 'ना' कह सकते थे, और वे मान जा सकती थी, उतनी आसानी से न तो आप अम्बपाली को 'नाही' कह सकते है और न उसे मना सकते है!

भगवान बुद्ध—लेकिन मेरी लाचारी जो है?

अम्बपाली—क्या अभागी अम्बपाली से भी बढकर? (उसाँसे लेती है)

भगवान बुद्ध—आपकी लाचारी?

अम्बपाली—(सहसा उसके चेहरे पर विषाद छा जाता है, आँखें भर आती है, गला भर्रा जाता है) भगवान, मत कहलाइए! आप से छिपा क्या है? दिन-रात लाश ढोते-ढोते तग आ चुकी। जबतक जगी रहती हूँ, उसके बोझ से कधा टूटता, दम फूलता रहता है। एक तो दर्द के मारे नीद नही आती, यदि कदाचित आई, तो कधे का बोझ सीने पर होता है! साँस घुटने लगती है, कलेजा फटने लगता है—चिल्लाना चाहती हूँ, आवाज नही निकलती, घिग्घी बँध जाती है। व्याकुलता की पराकाष्ठा मे जब नीद टूटती है, तो बिछावन, तकिया, सब तर-ब-तर पाती हूँ! भगवान, भगवान, मुझे .. (अपनी हथेली से मुँह ढँककर हिचकियाँ लेती है)

भगवान बुद्ध—धीरज, भद्रे, धीरज!

अम्बपाली—(भर्राई आवाज में ही) धीरज की भी हद होती है, भगवान! आह, वही धीरज विधाता नारियो के दिल में दिये होता, जिसे पुरुषो के हृदय मे इतनी प्रचुरता ने दिया है। जिस आसानी से भगवान राहुलमाता को प्रसूतिगृह मे छोड़ भागे, उसी आसानी से राहुलमाता भगवान की 'ना' के बाद भी उन्हे छोड पाती!

भगवान बुद्ध—भद्रे, भावना पर यो न बहे, विवेक से काम लें। जरा सोचें—तथागत के धर्म का मध्यम मार्ग तो सबके लिए खुला है, लेकिन जहाँ तक भिक्षुसघ की बात है (रुक जाते है)

अम्बपाली—धर्म का मध्यम मार्ग तो समझी, लेकिन उसका मतलब मार्ग के मध्य मे जाकर रुकना नही हो सकता, भगवान! फिर अम्बपाली जिस राह पर चलेगी, पूरी चलेगी! मध्य में रुक नहीं

सकती! बहुत धोखा खा चुकी हूँ भगवान, अब मैं अपने को ज्यादा धोखा नहीं दे सकती!

भगवान बुद्ध—तब!

अम्बपाली—मुझ से मत पूछिए मुझे इस लाज को उतारना पड़ेगा, भगवान! या तो इसे पीला वस्त्र उतार सकता है, या . . (अचानक वह अधर की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखने लगती है) देखिए, भगवान, वह देखिए! मैं बचपन से ही सपने देखती आ रही हूँ, लेकिन, दिन-रात यह सपन का दृश्य! उफ्,! मैं इसे ढो नहीं सकती, जिन्दा रह नहीं सकती। मुझे आत्महत्या के महापाप से बचाइए भगवान! (उसकी आँखो से आँसुओ की धारा बहने लगती है, सिर से पाँव तक काँप कर वह चेहरे को हथेलियो से ढँकती, फिर जमीन पर घुटने टेक अपने हाथो को बुद्ध के चरणो की ओर पसार देती है)

भगवान बुद्ध—आर्ये, आर्ये!

अम्बपाली—भगवान! भगवान!!

[भगवान बुद्ध उसके इस आत्मसमर्पण से व्याकुल हो जाते हैं—समझ मे नही आता कि उससे क्या कहे—वह आनन्द की ओर देखते है—आनन्द भगवान का असमजस देख अम्बपाली के निकट आकर उसे उठाते हुए कहते है—]

आनन्द—आर्ये, उठे। आज आप जायँ—कल फिर भगवान के दर्शन करे।

अम्बपाली—(सिर उठाती है, आँखो से आँसू बह रहे है) भगवान, जाऊँ? आपकी यही आज्ञा है?

आनन्द—यह भगवान की ही आज्ञा है।

अम्बपाली—हाय रे मेरा दुर्भाग्य! मेरे लिए भगवान आज ही प्रतिमा बन रहे है! आह! (बुद्ध के मुँह की ओर एकटक देखती है—आँसू अनवरत जारी है)

भगवान बुद्ध—(गम्भीर वाणी मे) भद्रे! श्रद्धा प्रतिमा को भी बोलने को लाचार करती है—उससे वरदान लेती है। तुम अपने पर विश्वास रखो, सभी साधन तुम्हे आप ही प्राप्त होगे!

[अम्बपाली "भगवान, भगवान" कह, घुटने टेक, जमीन से सिर सटाकर, भगवान बुद्ध को प्रणाम करती है, फिर हाथ जोडे ही मुडकर चलती है—सूरज डूब चुका है, लाल आसमान के ललाट पर लाल मगल तारा चमक रहा है—अम्बपाली मुडते समय उसे देखकर

प्रणाम करती है और हाथ जोड़े ही वहाँ से धीरे-धीरे चल देती है उसके चले जाने पर भगवान बुद्ध आनन्द से कहते हैं—]

भगवान बुद्ध—आनन्द!

आनन्द—भगवान!

भगवान बुद्ध—अम्बपाली को मैं जानता हूँ, आनन्द! इसके संघ में आने से संघ को लाभ ही होगा। नारियों द्वारा तथागत का सन्देश घर-घर में ही नहीं, दूर-दूर देशों तक फैलेगा, यह भी मैं देख रहा हूँ। लेकिन मैं आनेवाले दिनों से डरता था। अभी तो ज्वार के दिन हैं, जिसके प्रवाह में सभी गंदगियाँ बह जाती, धुल जाती हैं, लेकिन जब भाटा आता है, अच्छा पानी भी प्रवाह से दूर होकर गँदला हो जाता है, आनन्द! इसीलिए मैं नारियों को संघ में नहीं लेना चाहता था। मुझे डर है, आगे चलकर संघ को यह बड़ी कमजोरी साबित होगी और तथागत का धर्म जितने दिनों संसार में रहता, उसके आधे दिनों तक ही रह पायगा।

आनन्द—तो मना कर दीजिए न?

भगवान बुद्ध—आह! मैं मना कर पाता! मैं देवी प्रजावती को, राहुलमाता को 'नाहीं' कर सका था, किन्तु इसे नहीं कर सका। यह विचित्र नारी है, आनन्द! उस बार इसने कहा था—मैं भगवान बुद्ध पर विजय प्राप्त करूँगी। यह आज सचमुच जीत गई!

४

[सारी वैशाली निस्तब्ध सोई हुई है—सिर्फ जाग रहे हैं आकाश में कुछ तारे, जिनकी ज्योति भी उदयाचल की धीमी लाली की आभा से मंद पड़ती जाती है—और वृक्षों पर जग पड़े हैं अपने खोंतों में निश्चिन्त सोये कुछ पक्षी—हाँ, कुछ ही और वे भी एकाध बार ही चोंच खोलकर चहचह कर उठते हैं, क्योंकि अभी भोर होने में कुछ देर है—पृथ्वी पर कभी-कभी, यहाँ-वहाँ से गायों की रँभाई सुनाई पड़ती है, जिसका उत्तर बछड़े का आँ-आँ देता है—

अट्टालिकाएँ सोई हुई हैं—सड़कें सोई हुई हैं—हाट-बाजार सब पर नींद की हल्की छाया पड़ी हुई है—हाँ हल्की ही, क्योंकि उषा के आगमन की धमक कुहेलिका की तहों को एक-एक कर दूर कर रही है—

इसी समय दूर से सुरीली आवाज सुनाई पड़ती है—वह पहले एक ही ध्वनि मालूम पड़ती है, किन्तु धीरे-धीरे वह ध्वनि, ध्वनि-समूह में बदल जाती है—अब स्पष्ट मालूम हो रहा है कुछ कोकिलकंठी गाती हुई आ रही हैं—गीत की कड़ियाँ क्रमशः स्पष्ट होती जा रही हैं—]

वहुजन हिताय,
वहुजन-सुखाय
नर उठो नारियो, उठो उठो,
झाँको यह झिलमिल स्वर्ण-किरण,
निद्रा खोने तन्द्रा धोने—
वह चली पुलकमय मलय-पवन
सब उठो, जगो
निज कर्म लगो,
सपनों की दुनिया दूर जाय।

वहुजन-हिताय
वहुजन-सुखाय,
दुनिया उभचुभकर डूब रही,
फैला आँसू का प्रलय-ज्वार
आँहों की आँधी में उजड़ी
जाती मानवता की वहार
आगे वढकर
करुणा से भर
रच तो रक्षा के कुछ उपाय।

वहुजन-हिताय
वहुजन-सुखाय
हम नागर यदि न उलीच सके
आँखों की दो बूँदें हर ले,
हम पर्वत उठा सके न अगर
वोझे दो सिर के कम कर दे,
अर्पित जीवन
अर्पित जन-धन
अर्पित होवे मन-वचन-काय,
वहुजन-हिताय
वहुजन-सुखाय।

[अब वह मंडली बिल्कुल निकट आ चुकी—इधर आसमान में लाली ही लाली है—अन्धकार धीरे-धीरे दूर हो चुका है—उदित होनेवाले सूरज की प्रभा के कारण या सामने आनेवाली कलकंठियों की शांत मुखाभा के कारण?—अब हम स्पष्ट पहचान सकते हैं कि ये कौन हैं—सब-के-सब भिक्षुणियाँ हैं—टुकड़े-टुकड़े जोड़कर बनाये पीले वस्त्र से, गर्दन से पैर तक, इनके अंग ढँके हैं—जिनके बाल कटा डाले गये हैं, ऐसे सिरों पर पीले रंग के ही छोटे-छोटे कपड़े, रुमाल की तरह, सिर के पीछे की ओर बँधे हैं—काले रंग के भिक्षा-पात्र हाथों में—

अगली पंक्ति में ये तीन भिक्षुणियाँ कौन हैं? जरा गौर से देखिये-बीच में हैं देवी पुष्पगन्धा—उनकी दाहिनी ओर अम्बपाली—बायीं ओर मधूलिका—हाँ, मधूलिका ही!—भिन्न अवस्थाएँ, भिन्न प्रकृतियाँ सिमटकर एक हो चली हैं—'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' के एक पथ पर, एक उद्देश्य पर।

सूरज की किरणें फूटीं—पीले वस्त्रों के बीच अम्बपाली के शांत मुख-मंडल पर वे जा पड़ीं—जा पड़ी, नृत्य कर उठीं—फिर प्रतिफलित हुईं—अब अम्बपाली का मुखमंडल सूर्यमंडल सा दिप रहा है—हाँ, साक्षात् सूर्यमंडल सा!—भिक्षुणियाँ गाये जा रही हैं—]

बहुजन हिताय
बहुजन सुखाय

हम सागर यदि न उलीच सकें,
आँखों की दो बूँदें हर लें
हम पर्वत उठा सकें न अगर,
बोझे तो सिर के कम कर दें,
अर्पित जीवन
अर्पित जन-धन
अर्पित होवे मन-वचन-काय,
बहुजन हिताय
बहुजन-सुखाय।

समाप्त
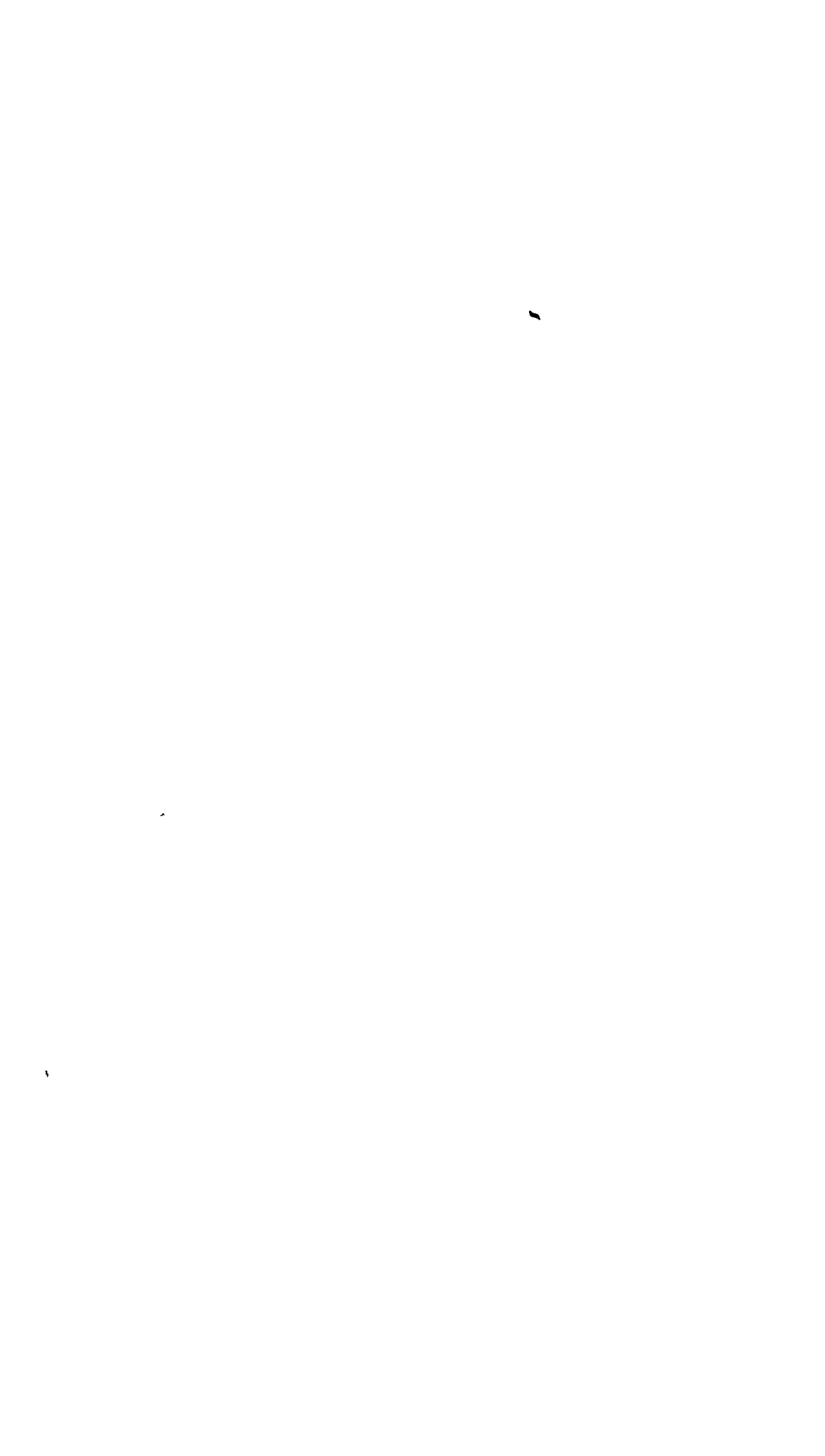
प्रतीक्षा

कलाकार प्रतीक्षा में था।

प्रतिदिन की तरह वह अपने तकिये पर झुका था। सामने पान का डब्बा, बगल मे सिगरेट का टिन। होठो पर जलती हुई सिगरेट के धुएँ से जजीरे बनाता, वह उन्हे गौर से देख रहा था!

इन्ही जजीरो की सीढियो से उसकी भारती आती रही है न? वह प्रतीक्षा कर रहा था।

पखो की फटफट, कोमल स्वर-झकार, मधुर रुनझुन। यही क्रम सूचना देता था उसकी भारती के आगमन की। जजीरो पर जजीरे बनती-बिगडती जाती है, कही कुछ आहट नही।

"तुम तो मेरे अपने कलाकार हो, मेरे घर-आँगन के कलाकार! मेरे घर-आँगन के कलाकार, मेरे अपने, अपने कलाकार। और, हाय, तुमने भी नही पहचाना! नही पहचाना!!"

"देवि!"

"फिर वही—अरे, तुम्ही कहो, कभी तुमने सुना कि मिट्टी से बच्चो पैदा हुई हो और किसी से भी पूछो, कोई कहे कि जनक के कभी सीता नाम की कोई सन्तान हुई हो—!

हाय रे मेरा भाग्य! बेटी मेरी, और किसी ने कह दिया पृथ्वी की बेटी किसी ने कह दिया जनक की बेटी! और मै! जब तक जीवित थी, अपनी बेटी के पीछे छाया-सी घूमती रही और मृत्यु के बाद भी मेरी आत्मा अशान्त-व्याकुल चारो ओर चक्कर काट रही है!

मेरे कलाकार, मेरे अपने कलाकार, क्या मेरा उद्धार नही नही करोगे, ओ मेरे, मेरे कलाकार!"

कलाकार को लगा कि वह छाया-मूर्त्ति अब उससे लिपट जायगी। विस्मय से, भय से वह अब अर्द्ध-मूर्च्छित था—

कि वीणा की झकार! मजीर की रुनझुन!

"कलाकार, कलाकार! अरे, यह क्या? उठो, उठो।"

"देवि!"

किन्तु यह शब्द कहते हुए वह काँप गया—लगा, कही वह छाया-मूर्त्ति फिर न आ जाय! माँ-भारती मुस्कुराई, फिर खिन्न स्वर मे बोली—

"वह बेचारी! हाँ कलाकारो ने उसके प्रति उपेक्षा की हद कर दी! उसकी यह दशा मुझे भी व्यथा देती रही है।"

"तो तो"

"तो, लेखनी उठाओ—आज उसी का उद्धार हो! मुझे इसमे प्रसन्नता ही होगी। प्रसन्नता ही होगी, लेखनी उठाओ!"

लेखनी उठी और जो कुछ लिख गया,—ये पक्तियाँ है।

बात क्या है ? क्या मेरी भारती मुझसे रूठ गई ? या रास्ता भूल गई ?

एक सिसकी ! कातर-करुण !

यह क्या ?

सिसकियो का तार।

अरे, आज यह कैसा तमाशा ?

और, वह ऊपर एक धूमिल छाया !

छाया मूर्त्ति का आकार धारण कर रही—बिखरे बाल, ककाल शरीर !

यह क्या ? यह कौन ?

फिर स्वर—

"तुमने भी नही पहचाना ?"

कलाकार जागता हुआ सपना देख रहा था। बोलना चाहता था किन्तु कठ नही खुल रहा।

"आह ! तुमने भी नही पहचाना ?"

अब हिचकियो पर हिचकियाँ ! कलाकार ने देखा—अविरल अश्रुधार वही चली आ रही है, जो शायद उसे भी भँसा ले जाय।

पूरा जोर लगाने पर भी वह इतना ही कह पाया—"देवि !"

"नही नही, मुझे 'देवी-देवी' कह कर मत चिढाओ ! बताओ तुमने मुझे पहचाना या नही !"

और कलाकार का मौन मानो उसे असह्य हो उठा—

"हाय रे मेरा भाग्य ! तुमने भी नही पहचाना ? तुमने भी ? मुझे वाल्मीकि ने नही पहचाना, कालिदास ने नही पहचाना, भवभूति ने नही पहचाना, तुलसी ने नही पहचाना, बहुत से उपेक्षितो का उद्धार करनेवाले रवीन्द्र ने नही पहचाना, और आजकल जो वह कवि है—क्या नाम है उनका—कोई गुप्त—उसने भी नही पहचाना, तो मै उतनी अधीर नही हुई। ये मेरे कौन होते थे ? ये मुझे कैसे जानते ? क्यो जानते ? किन्तु, तुम—तुम !"

अब तो वह फूट-फूट कर रो रही थी—

"तुम तो मेरे अपने कलाकार हो, मेरे घर-आँगन के कलाकार! मेरे घर-आँगन के कलाकार, मेरे अपने, अपने कलाकार। और, हाय, तुमने भी नही पहचाना! नही पहचाना!!"

"देवि!"

"फिर वही—अरे, तुम्ही कहो, कभी तुमने सुना कि मिट्टी मे बच्ची पैदा हुई हो और किसी से भी पूछो, कोई कहे कि जनक के कभी सीता नाम की कोई सन्तान हुई हो—!

हाय रे मेरा भाग्य! बेटी मेरी, और किसी ने कह दिया पृथ्वी की बेटी किसी ने कह दिया जनक की बेटी! और मै! जब तक जीवित थी, अपनी बेटी के पीछे छाया-सी घूमती रही और मृत्यु के बाद भी मेरी आत्मा अशान्त-व्याकुल चारो ओर चक्कर काट रही है!

मेरे कलाकार, मेरे अपने कलाकार, क्या मेरा उद्धार नही नही करोगे, ओ मेरे, मेरे कलाकार!"

कलाकार को लगा कि वह छाया-मूर्त्ति अब उससे लिपट जायगी। विस्मय से, भय से वह अब अर्द्ध-मूर्च्छित था—

कि वीणा की झकार! मजीर की रुनझुन!

"कलाकार, कलाकार! अरे, यह क्या? उठो, उठो।"

"देवि!"

किन्तु यह शब्द कहते हुए वह काँप गया—लगा, कही वह छाया-मूर्त्ति फिर न आ जाय! माँ-भारती मुस्कुराई, फिर खिन्न स्वर मे बोली—

"वह बेचारी! हाँ कलाकारो ने उसके प्रति उपेक्षा की हद कर दी! उसकी यह दशा मुझे भी व्यथा देती रही है।"

"तो तो ."

"तो, लेखनी उठाओ—आज उसी का उद्धार हो! मुझे इसमे प्रसन्नता ही होगी। प्रसन्नता ही होगी, लेखनी उठाओ!"

लेखनी उठी और जो कुछ लिख गया,—ये पक्तियाँ है।

पहला दृश्य

स्थान : सीतामढी के निकट एक अटवी

[पर्दे पर छाया-मूर्त्तियों में जंगल का दृश्य : जंगल उजड़ा-उजड़ा : पेड़ों में पत्ते नहीं, तने भी सूखे : जंगल के प्रांतर में एक झोपड़ी, उघड़ी-उजड़ी !

पर्दे के ऊपरी भाग में हिमालय की दृश्यावली की छाया।

पर्दे के पीछे बादल की गड़गड़ाहट, बिजली की चमक !

पर्दे की छाया-मूर्त्तियों में दीख पड़नेवाली झोपड़ी से एक स्त्री की छाया-मूर्त्ति निकलती है : अस्थि-कंकालमात्र शरीर : फटे-चिटे वस्त्र-खंड : उन्मत्ता-सी चेष्टा में वह आकाश की ओर देखती है, फिर बोल उठती है—]

बादल ! बादल ! तू आज क्यों बरसा ? क्यों बरसा ? तुझे दुनिया को तब बसाने की सूझी, जब मेरी दुनिया उजड़ चुकी !

बादल, तू क्यों बरसा ? आज ही क्यों बरसा ? बारह बरसों से तू कहाँ सोया था ? आज तू बरसने आया है, गरजने आया है ! उफ, मेरी दुनिया उजाड़कर ऊपर से धौंस जमाने आया है !

बता, तू क्यों बरसा ? आज ही क्यों बरसा ? कल क्यों न बरसा ? अरे, कुछ घड़ी पहले क्यों न बरसा ? हाँ कुछ ही घड़ी पहले तो मेरी दुनिया उजड़ी है ! मेरी हँसती हुई दुनिया, मेरी बसती हुई दुनिया को उजाड़ कर, अब तुझे बरसने की सूझी है—बरसने, गरजने, चमकने की !

गरजने की, चमकने की, बरसने की तब तुझे सूझी, जब मेरी बसती हुई, हँसती हुई दुनिया उजड़ चुकी !

उफ, ये बारह वर्ष ! इन बारह वर्षों में तू कहाँ था ? कहाँ छिपा था ? कहाँ सोया था ? पौधे सूख गये, पेड़ सूख गये। घास सूख गई, धरती सूख गई। तालाब सूखे, नाले सूखे; कुएँ सूखे, नदियाँ सूखीं। सारा संसार सूख गया। सूख गया; जल गया। जहाँ शीतल-मंद समीर बहती, वहाँ लू और झंझा बहने लगी। शरीर सूख गये, कलेजे सूख गये ! उफ, उफ ! कलेजे सूख गये।

पानी, पानी, पानी !—बारह बरसों से सारा संसार पानी-पानी चिल्ला रहा था और तू कहाँ सोया था ? कहाँ सोया था ओ निर्दय, निर्मम, निष्ठुर !

हरी-भरी भूमि बंजर बन गई। बस्तियाँ उजड़कर श्मशान हो गई। हाँ, श्मशान ! जाके बरस, ओ निष्ठुर, उन हड्डियों पर, जो उजड़ी हुई बस्तियों के चारों ओर प्रचुरता से चमक रही हैं। उन्हें ही तृप्त कर, तृप्त कर। जिनकी जिह्वायें एक बूंद पानी के लिए तरसती-तरसती सूख गई उनके कंकालों पर तू अब मूसलधार पानी उँड़ेलने दौड़ा है ? निष्ठुर, निर्मम, निर्दय !

बादल, बादल तू आज क्यों आया ? कहाँ से आया ? किस लिए आया ?

सारे संसार को जलाकर अब तू अपना काला मुँह दिखाने आया है ! हट ओ कलमुँहे ! भाग ओ कलमुँहे ! भाग-भाग !

[फिर बादल की गरज. फिर बिजली की चमक]

ओहो, यह गरज, यह हँसी! पृथ्वी के प्राणियो की वेदनाये आकाश के देवता को क्या बहुत ही प्रिय है? तभी तो बारह साल तक लोगो को तडपाकर अब तू पधारा है हम पर व्यग करने—हमारी हँसी उडाने।

तो गरज ले चमक ले, बरस ले। जी भरकर, मन भरकर—गरज ले, चमक ले, बरस ले।

आह, ये बारह वर्ष। उफ, य बारह साल। ये बारह साल कैसे कटे; मैंने कैसे काटे?

जब गाँव मे अन्न न मिला, न रहा, जब स्वजन, परिजन, पुरजन—कोई नही रह गये, तब जगलो मे भगी। पहले सूखे-रूखे फल, फिर पेडो की पत्तियाँ, छाल तक नही बच पाई! कन्दो के लिए कुँए खोदे, किन्तु गरम धरती के नीचे जैसे वे भी पिघल गये हो। मिट्टी खोदने पर भी अगारे मिलते थे।

उफ, क्षुधा, क्षुधा! पिपासा, पिपासा!

ओ हिमालय, तू अपनी सारी हिमराशि को पानी बनाकर भेज कि यह पिपासा शान्त हो। औषधीश, तू कोई ऐसी औषधि दे कि यह भूख सदा के लिए मर जाय।

लेकिन, आह, मानव की पुकार से पत्थर न पिघला, न पिघला!

कि अचानक एक दिन पत्थर पर कमल खिल उठा!

कमल, कमल! अहा, कमल! कमल!

"तू भूखी है, तू प्यासी है! तो ले .तो ले !" देवता, देवता, तुम कौन थे देवता? तुम कहाँ से आये थे देवता? "तू भूखी है, तू प्यासी है? तो ले तो ले. !"

"ले ले !"

"ले ले !"

"ले ले !"

उफ, तुमने क्या नही दिया देवता? तुम कौन थे देवता? तुम कहाँ से आये थे देवता? तुमने क्या नही दिया देवता?

मरुभूमि गुलजार बन गई, सूखी टहनी मे फूल खिल आये! अहा, यह बच्ची! यह बच्ची!

"देवता, यह हू-ब-हू आप ही ऐसी लगती है, देवता!"

"बच्ची! मेरे ऐसी? क्या तुझे और भी कुछ चाहिए!"

"नही, देवता, इस बच्ची के पाने के बाद फिर क्या पाना रहा?"

"कुछ नही?"

"कुछ नही!"

"तो मै चलूँ?"

"चलूँ? कहाँ?

"हाँ, हाँ, मै चला!"

अरे, पत्थर का कमल फिर पत्थर हो गया!

और, बादल, तू फिर भी नही बरसा! लू चलती रही, झझा बहती रही। पृथ्वी जलती रही, आकाश तपता रहा! न फूल, न फल, न शस्य, न तृण। ससार से सारे रग नष्ट हो गये, रह गया सिर्फ एक रग—नीलिमा! ऊपर नीला आकाश · नीचे सूखकर, जलकर नीली बनी पृथ्वी! सूरज उगता तो नीलिमा मे डूबा हुआ, चन्द्रमा तो पूरा नीला बन चुका था! नीली चाँदनी मे अमृत कहाँ? अब उसमे जहर-जहर था!

और, मै और मेरी बच्ची!

मेरी बच्ची! देवता का वरदान! आह, इस वरदान को अब मै क्या करूँ? मेरी सोने की बेटी के चाँद से चेहरे पर भी यह नीलिमा की पर्त्त जो पडती जा रही है! ओह! ओह!

अरे, मेरे हृदय से अचानक जो एक दिन क्षीर-स्रोत फूटा था, धीरे-धीरे वह भी सूखता जा रहा है!

मेरे देवता, तुम कहाँ गये? देखो, देखो, जो कलिका तुम मुझे सौंप गये हो, वह किस तरह सूखती जा रही है! आह, मै क्या करूँ? क्या करूँ?

मेरी छाती का क्षीर-स्रोत सूख गया!, बेटी, बेटी, अब तुम्हे क्या पिलाऊँ? कैसे जिलाऊँ? देवता, कुसमय मे यह क्या वरदान दे गये देवता? आह, मेरी बच्ची रो रही है? मै इसे क्या पिलाऊँ? आह, मेरी बच्ची मै इसे कैसे जिलाऊँ?

अरे, क्या मेरी बच्ची भी मर जायगी? मर जायगी? नही, नही, मै अपनी बच्ची को मरने नही दूँगी, नही दूँगी, नही दूँगी।

तो क्या करूँ ? क्या करूँ ?

क्षीर का स्रोत सूख गया, तो धमनियो मे रक्त का प्रवाह तो दौड रहा है। हाँ, जबतक एक बूँद भी रक्त है, मेरी बेटी मर नही सकती।

मैं अपनी बच्ची को रखकर दौड पडी उस बबूल के पेड की ओर, जिसमे अब सिर्फ काँटे-ही-काँटे थे। एक लम्बा काँटा लेकर अपनी नस मे सूराख बनाऊँ ? हाँ, हाँ, छाती का क्षीर-स्रोत सूख गया, तो धमनियो मे रक्त-प्रवाह तो दौड रहा है। अपनी बेटी को मैं मरने नही दूँगी, नही दूँगी।

कि डुग-डुग, डुग-डुग, डुग-डुग।

यह क्या सुन रही हूँ, यह कैसा शब्द है ?

डुग-डुग, डुग-डुग—यह क्या होने जा रहा है ?

ढोग। ढोग। ढोगी राजा। बारह बरस तक यह निश्चिन्त राजमहल मे रग-रेलियाँ मनाता रहा और अब जब पृथ्वी सूखकर पत्थर बन गई है, तो सोने के हल से उसे जोतने चला है।

हाँ, हाँ, बारह बरस के अवर्षण से बजर बन गई भूमि को वह सोने के हल से जोतने का स्वाँग कर रहा था।

आगे-आगे दो विशाल उजले बैल, उनके कधो पर सोने का जुआ, पीछे राजा, जिसके हाथ मे सोने का परिहथ। अगल-बगल ऋषियो और ब्राह्मणो का दल मत्र पढ रहा। पीछे प्रजा उमडी आ रही।

डुग-डुग, डुग-डुग। मत्रो की ध्वनि-प्रतिध्वनि।

हल बढा आ रहा है, बढा आ रहा है। इतने मे देखती हूँ कि हल का रुख उस ओर हुआ, जहाँ मैं अपनी बेटी को रख आई थी। मेरी बेटी।—दोने मे लिपटी, घास-फूस से ढँकी। हल बढा आ रहा है—बढा आ रहा है—

अरे, वही बैल के पैर मेरी बेटी के शरीर पर पड गये तो ?
मैं दौडी

"रुको"—यह कौन बोला ? कौन बोला ? और किसने मेरे पैर मे जैसे जजीर डाल दी ? और किसने मेरी आँखो को जैसे मूँद दिया ? उफ, उफ बेटी, बेटी।

आँखे खुली, तो देखती हूँ, हल के दोनो बैल अलग भौचक्के खड़ हैं और मेरी बेटी राजा की गोद मे है। वह रो रही है। राजा उसे चुमकार रहा है। उसकी घनी सुफेद दाढ़ियो से मेरी बेटी जैसे भयभीत हो रही है! मैंने सुना, वह कह रही है—

म् आँ, म् आँ,—म् आँ

म् आँ मॉ दौडी, मै दौडी। किन्तु, फिर किसने यह कहा—"रुको, तुम्हारी झोपडी इस बच्ची के योग्य नहीं—इसे राजरानी "

राजरानी! राजरानी? मेरी बेटी राजरानी! कगालिन की बेटी राजरानी? अहा! अहा!

और उसी समय सुना, वह राजा कह रहा है—"हम लोग अब राजधानी लौटे, पृथ्वी ने मुझे पुत्री दी है, तो आकाश हमे वर्षा भी देगा।"

क्या कहा—पृथ्वी ने दी है? यह तुम्हारी पुत्री?

इच्छा हुई, दौडकर उस राजा की लम्बी दाढी पकडूं और कहूँ, भलेमानस, यह बेटी मेरी है, इसकी मॉ मै हूँ। ढोगी, ढोग मत रच—दे मेरी बेटी, और वह न दे तो छीनकर ले भागूं।

किन्तु, आह मेरे पैर न उठे। क्यो न उठे? किसने न उठने दिये?

मेरे देवता, मेरे देवता! यह क्या कर गये तुम?

और देखा, मेरी बच्ची भी अब चुप हो गई है और राजा की सुफेद दाढियो मे हाथ डालकर खिलवाड कर रही है। और, राजा का मुखमडल? ओह, अब उसमे कैसी दिव्य-ज्योति फूट रही थी!

बादल, बादल! अभी-अभी जब मेरी बेटी उस ओर गई, तो तू अब बरसने आया है!

अरे, तू अब तक क्यो नही बरसा? कुछ दिन पहले क्यो नही बरसा; कुछ घडी पहले क्यो नही बरसा? एक घडी पहले भी तू बरसा होता, तो मुझे अपनी बेटी मे यो हाथ नही धोना पडता।

आह, ओह!

बेटी! बेटी! बेटी!

देवता! देवता! देवता!

वादल, वादल, वता, मेरे देवता कहाँ है? मेरे देवता! और मेरी वेटी कहाँ गई? कहाँ गई?

वादल! वादल!

तू अव वोलता क्यो नही? माँ से वेटी छीनकर तू अव चुप्पी लगा रहा है। मेरी वेटी! मेरी मोने की वेटी! राजा, कैसे तुमने कहा कि यह पृथ्वी की वेटी है। मिट्टी की वेटी ऐसी होती है? मेरी सोने की वेटी! सोने की वेटी! वेटी! वेटी!

[मूच्छित होकर गिरती दिखाई पड़ती है]

दूसरा दृश्य

स्थान . जनकपुर की पुष्पवाटिका

[परदे पर छाया-मूर्त्तियो में वाटिका के दृश्य : दूर पर एक मन्दिर, एक तालाव। एक अधवयस स्त्री की छाया-मूर्त्ति धीरे-धीरे दिखाई पडती है, वह बोलती है—]

ओहो, मेरी वेटी! कितनी जवान हो गई है मेरी वेटी! कितनी जवान, कितनी सुन्दर!

अभी-अभी वह आई थी, अभी-अभी वह गई है!

आई थी वासन्ती उषा की तरह—शीतलता लिये, सुगन्ध लिये, सौन्दर्य लिये। पत्तो ने मर्मर कर उसका स्वागत किया, फूलो ने झूम-झूमकर अभिवादन किया। पराग उडे, तितलियाँ नाची। भौरो ने

भाँवरे दिये, कोकिलो ने गीत गाया। सारी पुष्पवाटिका रगीन वन गई थी, मुखर हो उठी थी, महमह वन गई थी—एक पल मे ही।

ओहो, मेरी वेटी, कितनी सुन्दर, कितनी जवान! उसकी जवानी, उसकी सुन्दरता—सारी प्रकृति पर कुछ देर तक छा गई थी जैसे।

फूलो के रग निखर उठे। वृक्षो की डालियाँ झुक गईं। लताये काँपने लगी। हवा वोझली वन गई। सूरज की किरणो मे फिर एक वार सुनहलापन आ गया। एक अनहद सगीत सारी पुष्पवाटिका मे गूँज उठा। अहा, मेरी वेटी क्या आई—सारे उपवन मे सौन्दर्य और यौवन छा गये।

वह आई, सखियो से घिरी—जैसे तारो के वीच चन्द्रमा! नही, नही, अनेक चन्द्रमाओ के वीच कोई महाचन्द्र, जो अभी तक कभी देखा नही गया, अभी तक जिसका नामकरण नही हुआ—निष्कलक, अघट, स्वयप्रदीप्त!

वह आई और इस सरोवर मे नहाई! सरोवर—देखो, देखो, अव भी उसकी तरगे मेरी वेटी के अगराग से उच्छ्वसित है, सुवासित है, सुरजित है! मेरी वेटी! डुवकियाँ लगाकर जव वह वाहर निकली, कुचित-कुन्तल से घिरा उसका मुखमडल ऐसा लगा कि क्षीर-समुद्र से अभी-अभी चन्द्रमा निकला है, अन्धकार के महाजाल को फाडता हुआ!

स्नान किया, उस मन्दिर मे गई! वह गिरिजा का मन्दिर! अव भी मेरी वेटी की प्रार्थना उसमे गूँज रही है! क्या तुम सुन नही रहे!

लेकिन इस उम्र में यह प्रार्थना! जनक, जनक! तुम नाम के ही ज्ञानी हो जनक! तुम स्त्रियो का हृदय नही पहचानते, कुमारियो की कामनाये नही जानते। अगर जानते-पहचानते होते, तो मेरी वेटी का भाग्य किसी तीर-कमान से नही वाँधे होते जनक! आह, आज तुम इस गिरिजा-मन्दिर में मेरी वेटी की आँखो से झडते हुए आँसुओ को देखे होते! कुमारी की करुण-याचना! मै देख रही थी, पत्थर की गिरिजा भी पानी-पानी हुई जा रही थी!

और जव वह मन्दिर से वाहर आई, तव तक सारी दृश्यावली वदल गई थी—मानो गिरिजा ने मेरी वेटी की प्रार्थना स्वीकार कर ली हो!

किस कोने से वन घूम आया था वह राजकुमार? हाथ मे फूलो का दोना--राजकुमार, ये फूल किस देवता के लिये सचय किये है तुमने? अरे, तुम्हारे हाथो मे ये फूल किसने खिलाये और ये कौन-से फूल खिलायेगे? बोलो, राजकुमार, बोलो!

ये पेड, ये पौधे, ये पछी, ये भौरे,—सब तुमसे यही पूछ रहे है राजकुमार! सब सकते मे है—सब की आँखे तुम्हारी ओर! बोलो, राजकुमार, बोलो!

और, अब मेरी बेटी की आँखे भी तो कुछ ऐसा ही प्रश्न कर रही है?

ओहो! उधर राजकुमार खडा है, इधर मेरी बेटी खडी है।

यह कहाँ से पुरानी बात याद आ गई?

मालूम हुआ, जहाँ वह राजकुमार खडा है, वहाँ मेरे देवता खडे है और अपनी बेटी की जगह मै खडी हूँ।

हाँ, हाँ, मैने भी इसी तरह देखा था उन्हे!

राजकुमार, कही तुम भी कोई देवता तो नही हो? मेरी बेटी, यह देवकन्या है राजकुमार, देवकन्या!

इसे राजकन्या मत समझो। देवकन्या तो किसी देवकुमार को ही मिल सकती है। नही, देवकन्या की दृष्टि देवकुमार पर ही स्थिर हो सकती है। उसकी दृष्टि सब के लिए सह्य भी तो नही!

मैने राजकुमार की आँखो को देखा, फिर मैने अपनी बेटी की आँखे देखी। वे ही पुरानी बाते—मानो घटना दुहर रही हो।

इसी समय मेरा मातृत्व बोल उठा—

"पगली, तू आँखे बन्द कर ले, ऐसे अवसरो पर माताये ····· हाँ, हाँ, ऐसे अवसरो पर माताये आँखे मूँद लेती है।"

मेरी आँखे मुँदी थी, लेकिन कल्पना की आँखे—

वहाँ धनुष टूट रहा था, जयमाल पड रही थी—मडप, भाँवरे, सिन्दूर-दान। आह, मै कल्पना के लोक मे अपनी बेटी का व्याह रचा रही थी, कि सुना—

"राजकुमारी देर हो रही है, माँ चिन्ता मे होगी!"

यह कौन बोली? क्या बोली—माँ चिन्ता मे होगी? माँ तो यहाँ खडी है, चिन्ता मे कौन होगी? क्यो होगी? अरे कौन ऐसी माँ है, जो बेटी को इस दशा मे देखकर चिन्ता मे पड जाय? गाज गिरे

कैकेई, तुम्हे यह क्या सूझी! राम को जगल—क्या तुम्हारे ध्यान मे यह बात नही आई कि राम जगल में निर्वाह भी कर ले, लेकिन सीता का क्या होगा? वह उनके साथ जायगी ही और मेरी सीता क्या जगल के लिए बनाई गई है?

कैकेई-कैकेई! मालूम होता है, राजा से इस वरदान को माँगते समय तुम्हे सीता की सुध ही नही रही!

सीता जंगल में और चौदह वर्षो तक? अभी छ· महीने भी नही बीते और देख जाओ, मेरी बेटी की दशा!

और, राम, राम! पिता के वचन को स्वीकार करते समय तुम्हारे ध्यान मे भी सीता नही थी, राम! सीता को भी चौदह वर्षो तक जंगल मे रहना है, तुम यह सोच पाते, तो पिता का वचन स्वीकार करने के पहले उनके चरणो में गिरकर तुम एक बार क्षमा माँगे होते, राम! "आपकी आज्ञा मेरे सिर-आँखो पर, पिताजी।"—जब तुम यह बोले, तो तुम्हारी आँखो के सामने मेरी बेटी नही थी, नही थी! शायद तुम सोच भी नही सकते थे कि कोई पत्नी भी इतने सकट मे शरीक होने का साहस कर सकेगी! तुमने सीता को साधारण मानव-कन्याओ की तरह मान रखा था, राम।

आह, तुम जान पाते, सीता किसकी बेटी है!

क्या अब भी कभी सोचते हो राम, यह सीता कौन है? अधिक-से-अधिक पृथ्वी की बेटी ही तुमने माना होगा इसे—पृथ्वी की बेटी, सहनशीलता की मूर्त्ति—आँधी-पानी, जाडा-गर्मी में एक भाव से रहनेवाली! और तुम्हारी यह भावना आज भी बनी है, तभी तो उससे सारे काम लेते हुए तुम्हें सकोच नही होता।

नही राम, नही! यह जनक की बेटी नही, पृथ्वी की बेटी नही! यह उस देवता की बेटी है, जिसकी एक झलक जब-तब तुममे देखकर मैं निहाल हो उठा करती हूँ!

मेरी सीता—देव-कन्या!

इस सकट में भी वह किस तरह खिलती जा रही है! चंदन घिस रहा है, सुगन्ध फैल रही है! जंगल की यातनायें उनकी शरीर को सुखा रही है; किन्तु उनकी आत्मा और भी विकसित होती जा रही है। पागल दुनिया कपोल पर हमेशा कमल ही खोजती है—यदि वह जान पाती, रग और गन्ध की मोहकता उनकी

क्षणभगुरता मे है। जो शाश्वत है, वह तो रग-रूप से परे है, जिसे हवा-पानी, गर्मी-सर्दी विनष्ट नही कर पाती है, जो अजर है, अमर है, जिसमे उसका वश चलता है, चल रहा है।

सीते! वेटी सीते! तुझे अपने वाप के दुलार की लाज रखनी है वेटी! तुझे अपनी माँ की अकिंचनता की मनुहार रखनी है, वेटी!

और, मेरी वेटी रख रही है, रख रही है! इच्छा होती है, अव भी प्रकट होऊँ और इस अवसर पर वेटी के वोझ को कुछ हल्का करूँ—किन्तु क्या ऐसा कर पाती हूँ?

अभी उस दिन की वात है—

मेरी वेटी नदी से पानी भरने गई थी। पहाडी नदी, खड्ड के नीचे धारा, पथरीली पगडडी की चढाई। जव कलसी भर कर चली, पैर डगमग करने लगे। लक्ष्मण, लक्ष्मण, तू कहाँ से इतना वडा घडा उठा लाया। तुझे यह भी पता नही कि तेरी भावज कितना वोझ उठा सकती है? वह भारी घडा, वह पिच्छल पथरीली राह। जो कभी जमीन पर पडे नही और पड़े भी तो मिथिला की मक्खन-सी मुलायम जमीन पर, वे पैर रह-रहकर रपट रहे है, और वह शरीर के समतुलन पर ध्यान दिये वढ रही है—ऊपर चढ रही है। ललाट पर पसीना, कपोल पर पसीना। ललाट का पसीना लुढक कर आँखो मे गिरना चाहता है, किन्तु वह उसे पोछे तो कैसे? एक हाथ से घडा को पकडे हुई है, दूसरे से आँचल सम्हाल रही है—इस सूनसान जगल मे भी मर्यादा का कैसा वोध है उसे?—परीशान, परीशान। इच्छा हुई अभी दौडकर जाऊँ और कहूँ—वेटी, मै तेरी माँ हूँ, मेरे अछत तुम पानी भरो। कि, उसी समय सुनाई पडा—"सीते"! और जव तक मेरी सीता वोले—वह नौजवान उसके सामने आकर कह रहा था—"सीते, मैंने मना किया था न? कहो, कितना कष्ट हो रहा है तुम्हे इस जगल मे?"

"नही नाथ, कष्ट कहाँ?"—मेरी सीता वोली और, अरे यह क्या? कहाँ गया पसीना, कहाँ गई पैर की रपट? क्या हुआ घडे का भारी वोझ? वह उस घडे को लिये ऊपर इस तरह उछलती हुई वढी, जैसे पहाडी रस्तो पर वकरी के छौने! और, वह कुछ ही आगे वढी थी कि वह नौजवान जल्द-जल्द नीचे उतरा और उसके घडे को छीनकर एक हाथ से अपने कन्धे पर रख लिया और

दूसरे हाथ से उनकी कमर को लपेटे हँसता हुआ ऊपर चला। ओहो, अब दोनों हँस रहे थे, किलक रहे थे! और ऊपर आते-आते ..

नहीं, नहीं, ऐसे अवसरों पर माँ को आँखे मूँद लेनी चाहिए। मैंने आँखे मंद ली। मेरी आँखे मुँदी थी और मेरी कल्पना की आँखे उस युगल जोडी पर आशीर्वाद की वर्षा कर रही थी, जिनके प्रेम को इस सकट ने और भी गम्भीर कर दिया था।

और उस दिन—

मेरी सीता रसोई बनाने बैठी। लक्ष्मण, लक्ष्मण, तुझमे इतना शऊर नही कि किस लकडी का ईंधन होता है, कैसी लकडी का ईंधन होता है। सब धान बाईस पसेरी है तेरे लिए। ऐसी लकडी तोड लाया तू, कि मेरी बेटी परोशान-परीशान हो गई, लेकिन आग न धधकी। धुँआ, धुँआ! फूंक-पर-फूंक दी, आँचल से विजन किया, फिर तालपत्र से हवा की। किन्तु आँच न धधकी, आग न धधकी। मेरी बेटी की गुलाबी आँखे सुर्मई बन गई। हारकर वह कुटिया से बाहर आई, आँखे पोछी, लम्बी साँस ली और खिन्न होकर आकाश की ओर देखा—आह दिन इतना चढ आया, वे आते ही होगे, रसोई अब तक न बना सकी मै! इच्छा हुई कि अब प्रगट होऊँ ही। जाऊँ, रसोई बना दूँ, दामाद को खिलाऊँ, बेटी को खिलाऊँ—जन्म सार्थक करूँ, कि इतने मे वही आवाज—"सीते! सीते! अरी, छोडो रसोई, देखो ये फल, ढेर के ढेर!" ऐसा कहता हुआ वह नौजवान अब सीता के सामने खडा था। "ओहो, तुम्हारी ये आँखे! इसलिए कहा था न कि जगल !"

"यो न कहा कीजिये, नाथ!" सीता ने कहा और फिर दोनो .

नहीं, नही! ऐसे मौको पर माँ को नही देखना चाहिए। मेरी आँखे मुँद गई और कानो ने सुना—"भाभी, इसमे मेरा भी हिस्सा होना चाहिए, भाभी!" फिर तो वह पर्ण-कुटीर हास्य-सदन बन गया! चुहल, व्यग्य, हँसी, ठहाके—मेरी आँखें मुँदी रही, मेरे कान तृप्त होते रहे!

और तीसरे दिन तो मै कैसे रुकी, यही आश्चर्य होता है!

मेरी बेटी उन कुंज की ओर से फूल चुनकर लौट रही थी। फूलों से उसे कितना प्रेम है! किन्तु, 'वह बेचारी भूल गई थी, जहाँ फूल है, वहाँ शूल भी है और जितना सुन्दर फूल, उतने बड़े शूल! वह जल्द-जल्द पैर बढ़ाये आ रही थी कि एक लम्बा काँटा उसके पैर में चुभ गया। चुभ गया, वह चीखी, बैठ गई! रक्त की धारा—"आह!" मैं थोड़ी दूर थी, दौड़ी! "ओह!!"— यह आह! यह ओह!! मालूम होता था, जैसे कलेजा मुँह को आ गया! मैं आई बेटी—कहती हुई मैं दौड़नेवाली थी कि देखा वह नौजवान पहुँच चुका था वहाँ। मैं ठिठक गई, छिप रही। वह बैठ गया, काँटे को खींचा। लहू की धारा और तेज हो गई। वह अपने वल्कल से लोहू पोंछने लगा। रक्त बहा जा रहा है, और वह पोंछे जा रहा है। "लक्ष्मण, लक्ष्मण, पानी लाओ, लक्ष्मण! ओह, सीते! सीते!" सीता तो तब तक बेहोश हो चुकी थी! उसने सीता को उठा कर छाती से लगा लिया और उन्मत्त-सा चिल्ला उठा—"सीते!" तब तक लक्ष्मण पानी लेकर पहुँच चुका था। सीता के मुँह पर छींटे दिये गये—सीता ने आँखे खोली—"नाथ!"

"सीते!"

"अरे, यह क्या हो गया था मुझे नाथ!"

"कुछ नही सीते!"

क्या सचमुच कुछ नही! सारी पृथ्वी जो रक्त-रक्त हो चली थी और उस रक्त की धारा में राम के आँसू की धारा कहाँ तक मिली थी—कौन बताये?

यों जंगल में भी पति का असीम लाड-प्यार पाकर मंगल मना रही है मेरी बेटी! किन्तु, उसे यहाँ देखकर रह-रहकर न जाने मेरा हृदय कैसा हो जाता है? मेरी सोने की बेटी, क्या यह जंगल के लिए बनाई गई? दशरथ ने अपना वचन रखा, राम पितृभक्त कहलाये, लक्ष्मण ने भायप निवाहा—किन्तु, मेरी बेटी! क्यों मेरी बेटी के सिर पर यह आपत्ति आ ढही? कहीं मेरा भाग्य तो मेरी बेटी के पीछे नहीं लगा है? आह, उसकी माँ बारह वर्षों तक जंगल में मारी-मारी फिरी और वह चौदह वर्ष जंगल-जंगल की खाक छानती फिरेगी! उफ्! मेरा दुर्भाग्य मेरी बेटी के सिर पर जा गिरा!

मेरा दुर्भाग्य और मेरी वेटी के सर! अच्छी वात है कि मेरी वेटी नही जानती कि वह अपनी माँ के दुर्भाग्य का शिकार है—नही तो, नही तो .

हाँ, हाँ, कभी अज्ञान ही कल्याण का मार्ग सिद्ध होता है। मेरी वेटी, तू इसी कल्पना मे रह कि जनक तेरे पिता है, पृथ्वी तेरी माता है! यद्यपि जनक को कभी सीता नाम की कोई सन्तान न हुई और पृथ्वी ने न कभी हाड-मास का शिशु प्रसव किया और न कर सकेगी। हाँ, जिस पृथ्वी ने हरे-हरे पेडो को, इन लोनी-लोनी लताओ को, इन रग-विरगे फूलो को पैदा किया, उसकी वेटी कहलाने मे भी कुछ कम गौरव नही है, वेटी! तो मेरी वेटी, अपने इन भाई-वहनो के वीच विचरती रह, खेलती रह, फूलती रह, फलती रह!

फलती?—आह! आह रे माँ का हृदय! हमेशा सतान की कामना में पगा रहता है यह? अपनी सतान, संतान की सतान, सतान की सतान की सतान—सतान! सतान! सतान!

वेटी, मेरी वेटी! तेरे फूल देख रही हूँ, फल कव देखूँगी वेटी? अरे, मुँह वनाकर कहाँ चली! हाँ, हाँ, हर वेटी सतान का नाम सुनकर पहले योही मुँह वनाती है, वेटी, लेकिन जव सतान आती है, फिर सारा ससार भूल जाती है उसपर। तू इस नौजवान को भी भूल जायगी वेटी! क्या?—"नही?"

"नही,"—तो ऐसा ही हो! तव तू अपने माँ की सच्ची वेटी सावित होगी! तेरे पीछे छाया की तरह पडी हूँ, तव भी अपने देवता को न भूल सकी, मेरी वेटी, यद्यपि मेरे देवता मुझे भूल गये।

आह मेरे देवता! धन्य मेरी वेटी!

चौथा दृश्य

स्थान : लका की अशोकवाटिका

[छायामूर्त्तियो में अशोक-वाटिका के दृश्य: अशोक की छायामूर्त्ति तले वैठी हुई सीता की छायामूर्त्ति। दूर पर लका की अट्टालिकाओ की छाया।

एक स्त्री की छायामूर्त्ति—वृद्ध, कमर कुछ झुक रही, जिसपर हाथ रखकर रह-रहकर तनकर खडी होने की चेष्टा करती हुई, वोलती हैं—]

यह है लका, सोने की लका! मेरी सोने की वेटी इस सोने की लका मे!

क्यो? क्योकि मेरी सोने की वेटी ने सोने के मृग की आकाक्षा की थी।

सोने की मेरी वेटी, सोने का मृग और सोने की यह लका।

सोना, सोना, सोना।

सोने के मृग की आकाक्षा मे वन्दिनी वनी है मेरी सोने की वेटी!

मालूम होता है, सोना तेरे लिए शकुन नही है वेटी।

सोने के सिहासन पर वैठने चली थी, वनवास मिला, सोने का मृग चाहा, कारावास मिला।

मेरी सोने की वेटी, तू तो स्वय सोने की है, फिर क्यो सोने की आकाक्षा हो तेरे हृदय मे? तूने अपने को ठीक से नही देखा वेटी। तू अपने को ठीक से नही समझ सकी, मेरी सोने की वेटी। तभी तुझे वनवास मिला, कारावास मिला।

या यह भी मेरा अभिशाप है, जो तेरा पीछा किये चल रहा है?

हाँ, हाँ, यह मेरा अभिशाप ही है, जो तेरे सिर पर कभी वनवास वनकर वरसा; कभी कारावास वनकर वरस रहा है।

नही तो, सीता को वनवास। नही तो, सीता को कारावास।

या, यह रावण का सर्वनाश है, जो तुझे घर मे जगल मे घसीट लाया, अव जगल से लका मे घसीट ले गया है।

हाँ, अव आग उसके सोने की राजधानी के परकोटे के भीतर आचुकी है। अव सोने की लका जलकर रहेगी।

सोने की लका को शायद जलना लिखा है, इसीलिए सोने का मृग वना, इसीलिए मेरी सोने की वेटी के हृदय मे उस सोने के मृग के लिए आकाक्षा जगी।

कही सोने का मृग होता है? और कही राम ऐसे ज्ञानी को उसके पीछे दौडने के लिए लाचार होना पडता है?

रावण, रावण। तुम्हारी सोने की लका को धूल मे मिलना है, इसीलिए तुमने मेरी सोने की वेटी पर हाथ वढाया है, रावण।

आग से खेलवाड करना चाहा है—आप जलेगा, सारा परिवार जलेगा, सोने की लका जलेगी।

तुम समझ नहीं सके, सीता क्या है? तुमने उसे साधारण नारी समझा या साधारण रानी समझा।

वह कौन है, वह किसकी बेटी है—दुनिया तक नही जानती, तो तुम क्या खाक समझते, रावण!

तुम समझो या न समझो, लेकिन तुमने अपना नाम सार्थक कर लिया, रावण! रावण—रुलानेवाला! उफ् तुमने मेरी बेटी को कितना रुलाया! उफ्, तुमने उस नौजवान को कितना रुलाया!

वह नौजवान रोया, बच्चों की तरह फूट-फूटकर, पागलो की तरह रट-रटकर! उसे घमंड था अपने ज्ञान का, अपने धैर्य का—किन्तु सारे ज्ञान-ध्यान धरे रह गये!

जब वह मृग मारकर लौटा और अपना आँगन सूना पाया, तो पागल की तरह पर्ण-कुटीर मे दौड गया—"सीते, सीते" पुकारते हुए!

पर्ण-कुटीर से आँगन मे! आँगन से कुजो मे "सीते,—कहाँ हो? सीते, कहाँ हो? सीते, छिपो मत सीते, लो अपना मृग! अपना सोने का मृग, सीते!"

कुजो से नदी-तट पर, फिर उस स्फटिकशिला पर, जहाँ सीता एकाकी जा बैठती थी। फिर पर्ण-कुटीर मे! "लक्ष्मण, सीता क्या हो गई लक्ष्मण? सीता कहाँ गई लक्ष्मण? सीते, सीते, सीते!"

थोडी देर मे ही सारी वन-भूमि 'सीते' 'सीते' की ध्वनि से ध्वनित-प्रतिध्वनित होने लगी!

और क्या यह ध्वनि-मात्र थी! नही, जब पुरुष रोता है, तो उसकी ध्वनि स्त्री या बच्चो के रुदन की तरह ध्वनि-मात्र नही होती! स्त्री के रुदन मे करुणा है, बच्चो के रुदन मे याचना है! किन्तु, पुरुष का रुदन—वह क्या है, उसमे क्या है, वह कैसा होता है, शब्दो मे क्या इतनी शक्ति है, जो वर्णन कर सके उसका!

ज्ञानी राम, वीर राम, अरे मर्यादा-पुरुषोत्तम राम इस तरह रोया कि सारा जगल रुदन से ओतप्रोत हो गया!

हाँ, सारी वन-भूमि रुदन से ओत-प्रोत।

अब पछी रोते थे, पशु रोते थे, पेड रोते थे, पौधे रोते थे, नदी रोती थी, झरने रोते थे। झरने के झरझर मे, पत्तो के मर्मर मे, पछियो के कलरव मे अब राम की रुदन-ध्वनि समाई हुई थी। पशु रँभाते क्या थे—मानो अपना कलेजा निकालकर जमीन पर रख

देते थे। हवा राम के रुदन से सिसकियाँ भरती, नदी राम के रुदन मे सुर मिलाती। 'सीते' 'सीते'।—यह जगल की करुण रागिनी की एक कडी वन गई थी, मानो! निभृत निकुजो से, निर्जन तलहटी से, गह्वर गुफाओ से, मालूम होता था, रह-रहकर कोई पुकार रहा है—'सीते'। 'सीते'! राम ने 'सीते' 'सीते' की ऐसी रट लगा दी कि मैने-तोते की जवान पर भी यह जा चढी और ज्योही वे राम को देखते, चीख उठते—'सीते! सीते!'

"लक्ष्मण, लक्ष्मण, मैं इस जगल जी नही सकता लक्ष्मण। यह दिन-रात की 'सीते' 'सीते' मेरा हृदय विदीर्ण कर छोडेगी लक्ष्मण! जहाँ जाओ सीते, जहाँ देखो सीते। लक्ष्मण इस जगल को छोडो लक्ष्मण।"

राम, तुमने ही तो इन्हे सीता कहना सिखलाया, सीता के लिए रोना सिखलाया, चीखना सिखलाया! अब जब तुम्हारा व्यक्तिगत रुदन सार्वजनीन हो चला है, तब तुम घबरा रहे हो, राम।

आह, इस जगल से उस जगल; उस जगल से इस जगल। सीते! मेरी बेटी, अहा, तुम जान पाती, तेरे वियोग में तेरा वह प्राण-प्यारा किस तरह उन्मत्त बना था।

"लक्ष्मण, कहो इन पछियो से, ये अपना कोलाहल बन्द करें! लक्ष्मण, कहो, इन पेड-पौधो से कि शाम-सुबह आँसू न टपकाया करें। लक्ष्मण, ये झरने क्यो चिल्लाते है? ये नदियाँ क्यो विलाप करती है? कहो, यह विलाप-प्रलाप, अश्रु-उच्छ्वास बद करे, बद करें। नही तो . .

नही तो, लक्ष्मण, मैं अपने इस तीर-धनुष से इस जगल को जलाकर खाक बना दूँगा, लक्ष्मण। मैं जल रहा हूँ और ये मखौल करें—नही, नही, ऐसा नही हो सकता लक्ष्मण। मैं इसे बर्दाश्त नही करूँगा—इन्हे मना करो, इन्हे मना करो।"

राम, राम, तुम बडे-बडे ऋषि-मुनियो को ज्ञान देते रहे, वही तुम हो और भोला लक्ष्मण तुम्हे समझा रहा है—"भैया, भैया, ऐसा नही कहते भैया। ऐसा नही करते भैया।"

मेरी बेटी तू धन्य है और धन्य है वे सब बेटियाँ, जिनका विरह उनके प्राण-प्यारो को यो विक्षिप्त बना डाले। यह विक्षिप्तता नारी की विजय-पताका होती है, मेरी बेटी।

और, अपने सिर के ऊपर यह विजय-पताका फहराती हुई, लहराती हुई तू किस शान से बैठी है, इस अशोक-वृक्ष के नीचे!

हां, हां, यह शान ही तो है! ऐसी शान कि जिसपर किसी की आंख न ठहरे!

निस्सन्देह मेरी बेटी भी रोई, जब रावण उसे हर ले चला, रोई, धाड़ मारकर—कलेजा उलटकर! किन्तु तुरत उसने अपने रुदन को सयम की शृंखला में कस दिया!

हृदय रोया करो—किन्तु आंखें, तुम्हें आंसू नहीं टपकाना होगा! अब तुम्हें चिनगारियां उगलनी हैं, पानी बहाना नहीं! तुम्हें चिनगारियां उगलनी है, क्योंकि वे ही तुम्हारी रक्षा कर सकेंगी।

मुंह से आह नहीं, उच्छ्वास नहीं! हृदय की आग भट्ठी की तरह धधकती रहे, धधकती रहे—इसके लिए जरूरी है कि मुंह पर ताला जड़ दिया जाय।

राम के रुदन पर रावण हंस सकता था, सीता का यह सयम रास्ते में ही उसके लिए असह्य हो उठा।

रावण, तू सीता को ले आया था राजरानी बनाने के लिए न? तो, तू इसे महल में क्यों नहीं ले गया? क्यों इसे वाटिका में ही छोड़ भागा?

हिम्मत थी तेरी कि इसे महल में ले जाता—अरे, तेरा स्वर्ण-सौध मेरी बेटी की साधना की आग से उसी समय पिघल जाता, जल जाता, विला जाता, ओ रावण!

तू मूर्ख तो नहीं है, महापंडित है, इसलिए तू चेत गया। किन्तु यह कैसी मूर्खता कि तू समझता है कि मेरी बेटी स्वयं तेरे प्रसाद में जाने को तैयार हो जायगी कभी-न-कभी।

और, तू हारकर उस दिन धमकी दे गया!

तूने किसे धमकाया रावण, काश, तू जान पाता!

ओहो, सीता पर धमकी, मेरी बेटी पर धमकी, मेरे देवता की बेटी पर धमकी!

ओ आंधी, तू चलाकर, चलाकर! यह मणिदीप जला करेगा, जला करेगा!

दुनिया मे अन्धकार ही अन्धकार है, मेरी बेटी आई है इस अन्धकार-जगत मे प्रकाश-पुज प्रदान करने।

जब मेरी दुनिया अन्धकारमय थी, तब यह प्रकाश-पुज होकर मेरी गोद मे पधारी। फिर इसने जनक के अँधियारे भवन को प्रभासित किया, प्रकाशित किया। यह अयोध्या आई और वह जगमग हो उठी। लेकिन जगल का बेटी ने देखा, दूसरा जगल अन्धकारमय है, वह सिंहासन छोड उधर दौडी! और, वहाँ से इस राक्षस-पुरी मे आई है, इसके चिर-अन्धकार को सदा के लिए दूर करने!

यह लका! यह राक्षसपुरी! अन्धकार से ढँपी यह पुरी, अन्धकार मे पुते यहाँ के अधिवासी! अन्धकार मे पुते—उनके काले-काले शरीर, उनकी मैली-कुचैली आत्मा! यहाँ के सघन अन्धकार को दूर करने के लिए मेरी बेटी की तरह की ही प्रकाश-पुजिका की आवश्यकता थी!

राक्षसता को विनष्टकर मानवता की प्रतिष्ठा करने के लिए ही मेरी बेटी यहाँ पधारी है। हाँ, मेरी सोने की बेटी इस सोने की पुरी मे मानवता की प्रतिष्ठा करने के लिए ही पधारी है।

मेरी बेटी की यह अखड समाधि! अशोक-वृक्ष के नीचे यह अखड समाधि! वायु ही जहाँ आहार है, नाम ही जहाँ आधार है। शरीर छीजता जाता है, ज्योति बढती जा रही है। प्रकाश फैलता जा रहा है—अन्धकार हटता जा रहा है।

हाँ, हाँ, अन्धकार, भाग! भाग! नही भगेगा, तो तेरे भगाने के लिए किसी हनूमान को आना पडेगा, लकाकाड मचाना पडेगा! सोने की लका जलेगी, धू-धू करके जलेगी और उसकी विशाल लपटो मे, ओ अन्धकार, तू सदा के लिए जलकर रहेगा! जलकर रहेगा!

पॉचवॉ दृश्य

स्थान · अयोध्या का प्रान्तर

[दूर पर अयोध्या की अट्टालिकाओ की छाया-मूर्त्तियाँ । एक जर्जर वृद्धा की छायामूर्त्ति धीरे-धीरे प्रकट होती है । वह अयोध्या की अट्टालिकाओ की तरफ कुछ देर तक घूरती रहती है, फिर फूट पड़ती है जैसे—]

आह, यह क्या हुआ ? कहाँ गई मेरी वेटी ? क्या हुई मेरी वेटी ! मेरी वेटी, मेरे सोने की वेटी ! मेरी सीते ! सीते ! !

सीते कहाँ गई ? क्या हुई ? तुम वताती क्यो नही हो, ओ अट्टालिकाओ ! तुमने मेरी सीता को क्या किया ? ओह, तुम खा गई मेरी वेटी को ? झोपडी की वेटी को अट्टालिका खा गई !

कंगालिन की बेटी को राजधानी खा गई! देवता की जिस बेटी को राक्षस-पुरी न खा सकी, उसे मानव-पुरी खा गई—खा गई, लील गई! जिन्दा निगल गई! ओह! मेरी बेटी! बेटी! सीते! सीते!

कगालिन की बेटी, तू, राजरानी बनने चली थी! देव-कन्या तू, मानव से प्रेम करने चली थी! राजधानी तुझे लील गई बेटी, मानव ने तुझे निगल लिया बेटी! अरे, ये मानव—इनसे दानव भले थे! लका से भी बुरी निकली तुम ओ अयोध्ये! उफ, ये मानव! इनसे दानव भले थे! हाँ, हाँ लका मे भी बुरी निकली तू ओ अयोध्ये!

हाय रे! लका-विजय के बाद विभीषण को राज्य मिला, राम को साम्राज्य मिला और मेरी बेटी को मिला अग्नि-स्नान!

राम, राम! जो स्त्री तेरह वर्षों तक तुम्हारे पीछे छाया बनी घूमती रही, दस महीने मे ही तुमने उसपर से विश्वास उठा दिया!

सिर्फ दस महीने तक मेरी बेटी तुमसे दूर रही थी, उस राक्षस-पुरी लका मे रही थी और इतने ही छोटे अर्से में तुम्हारा इतना बडा अविश्वास कि उसे अग्नि-परीक्षा के लिए तुमने चुनौती दी!

मेरी सीता लकापुरी मे किस तरह रही, तुमने सोचा भी नही! और लकापुरी मे वह रही ही क्यो? क्यो तुमने उसकी बहिन की नाक कटवाई थी, जो रावण ने तुम्हारी पत्नी का हरण किया! फिर यह तो तुम्हारी नपुसकता थी राम, कि कोई तुम्हारी पत्नी का हरण कर ले! अपनी कायरता का प्रायश्चित्त तुम्हे करना था कि मेरी सीता को?

लकाविजय के बाद उस दिन भी मै वही खडी थी जब तुम्हारे सामने सीता आई। आह! मेरी बेटी तुम्हारी ओर किस ललक मे बढी! "नाथ! नाथ!"—कहती, चिल्लाती! सबके रोमाच हो आये—तुम्हारे बन्दरो के, लका के बचे-खुचे राक्षसो के। तुम्हारे लक्ष्मण की आँखो ने तो आँसू झरने लगे थे राम!

कि, तुमने कहा—"रुको सीते! तुम्हे परीक्षा देनी होगी।"

किस चीज की परीक्षा? काहे की परीक्षा? सीता दस महीने तक लका में पडी रही, इसकी परीक्षा? उसके सतीत्व की परीक्षा? राम, जब तुम यह बोले, तब भी क्या तुम राम ही थे राम!

आह! उस दिन रावण की आत्मा कितनी हँसी होगी! उसने कहा होगा—"सीते, सीते! यही है राम जिसको तुम्हारे चरित्र पर भी सन्देह है! ऐसे आदमी के लिए ही तुम मर रही थी!" हाँ, हाँ, रावण की आत्मा उस दिन अट्टहास कर उठी होगी राम!

तुमने कहा—"रुको"! मेरी सीता रुक गई! वह चुप थी—किन्तु राम, तुम नही सुन रहे थे कि मेरी वेटी का रोआँ-रोआँ क्या कह रहा था?

तुमने पहले से ही चिता सजवा रखी थी! कितने दूरदर्शी हो तुम राम! धू-धू आग जल रही थी। "सीते अग्नि-परीक्षा देनी होगी तुम्हे!" अग्नि परीक्षा!—सीता ने आग की ओर देखा और कूद पडी उनकी लपटो मे! आश्चर्य से तुम्हारी आँखे फटी जा रही थी राम, यह देखकर, कि मेरी वेटी उस अग्नि-ज्वाल के वीच भी मुस्कुरा रही है! तुम्हारा वह भोला भाई, तुम्हारी वानरी सेना, तुम्हारे युद्धवन्दी राक्षस—उन सवकी तो हालत मत पूछो! राम, तुम्हे फुर्सत कहाँ थो उन्हे देखने की—तुम्हारी आँखे तो अग्नि-ज्वाल मे खडी मेरी वेटी के दिव्य-भव्य चेहरे पर अडी थी, गडी थी, जडी थी!

धीरे-धीरे अग्नि-ज्वाल प्रशमित हुई ओर मेरी वेटी निकली, आग मे तपाये सोने की तरह, कुदन की तरह—दिपती, चमकती। तुम्हारे आँखो में चकाचौंध लगी थी राम, जव मेरी वेटी आकर तुम्हारे चरण छू रही थी!

अव तुम एक वार फूट पडे, रो पडे!—"सीते, सीते! तुम सतीशिरोमणि हो सीते! लोकापवाद को सदा के लिए, नष्ट करने के ही लिए मुझे यह कठोर-कर्म करना पडा है सीते!"—तुम वोले!

लेकिन राम, तुम्हारे हृदय का अविश्वास तव भी नही गया था, राम! नही तो इस अग्नि-परीक्षा के वाद एक धोवी के कहने पर, तुम उसे वनवास नही देते और उस हालत मे, जव उस वेचारी पर तुमने मातृत्व का वोझ लाद दिया था!

उफ, निर्दयता की भी कोई हद होती है, राम। और यही करना था तो साफ क्यो नही कह दिया—धोखे से उसे जगल भेजा और जव तुम्हारा नाम लेती-लेती वह मूर्छित हो गई, तो तुम्हारा भाई उसे एकाकी छोडकर भाग आया! वाह रे तुम्हारा भोला भाई!

भगवान ने तुम्हें भाई भी कैसा दिया है कि जिससे तुम जब जो चाहो करवा लो।

तुम निरपराधिनी सीता पर दंड पर दंड बरसाते रहे और वह ऐसी कि तुम्हारे अपराधों पर पर्दा डालती रही। यदि वह वाल्मीकि ऋषि से सब बातें खोलकर कह दिये होती, तो राम एक तो रामायण लिखी नहीं जाती और यदि लिखी जाती, तो कुछ दूसरी ही तरह।

और, जब उसके बेटों ने बता दिया कि उसकी माँ क्या है—जब तुम्हारे महावीर हनूमान बन्धन में पड़े दुम दबाये बैठे थे, जब तुम्हारे भक्त-विभीषण भ्रातृ-द्रोह का फल चख रहे थे, जब तुम्हारे भोद्दू लक्ष्मण बेहोश पड़े थे—तब तुम्हारी आँखें थोड़ी देर के लिए फिर खुली राम! राम फिर तुमने एक बार त्याग का स्वाँग किया! हाँ, हाँ, वह स्वाँग ही था। तुम्हें चक्रवर्ती कहलाना था और सीता के बेटों पर विजय प्राप्तकर वह गौरव नहीं प्राप्त किया जा सकता, यह तुम समझ गये। इसीलिए फिर सीता को गले लगाया; उसके बेटों को 'बेटे, बेटे' कहकर फुसलाया।

किन्तु, जब चक्रवर्तित्व मिल गया, तो फिर सीता की क्या कीमत? तुमने इस बार भरी सभा में बुलाकर उसे अपमानित कराया राम!

आह! सीता पर कलंक! मेरी सीता पर कलंक! मेरे देवता की सीता पर कलंक! यह सीता पर कलंक नहीं, तुम्हारी अयोध्या पर कलंक है राम; जहाँ के धोबी ऐसे मुँहचढ़े हैं, जहाँ का पुरोहित इतना सिरचढ़ा है। मैं जानती हूँ राम, इस सारी घटना में तुम्हारे उस बूढ़े ब्राह्मण का कितना हाथ है! तुम्हारी अयोध्या के ही योग्य वह पुरोहित है राम!

आह! जिस पृथ्वी पर मन्दोदरी के लिए जगह है, जिस पृथ्वी पर तारा के लिए जगह है, जिस पृथ्वी पर कर्कशा कैकेई के लिए जगह है, जिस पृथ्वी पर तुम्हारी 'साध्वी' माता कौशल्या के लिए जगह है, उसपर सीता के लिए जगह नहीं! सीता के लिए, सती-सीमन्तिनी सीता के लिए, पति-प्राणा सीता के लिए।

देखती हूँ राम, देखती हूँ। माताओं की चर्चा ने तुम्हें तिलमिला दिया। किन्तु कहे देती हूँ राम, आँखें मत गुरेड़ो, मत गुरेड़ो। बात तीखी हो गई; किन्तु सच्ची बात हमेशा मीठी नहीं हुआ करती। हाँ, हाँ मुझे अफसोस यही है राम, कि तुमने अपने घर या अपने

मिश्रों के घर की स्त्रियों के मापदण्ड से ही मेरी बेटी के चरित्र को मापने की कोशिश की। आँखें मत गुरेडो, राम, जरा तह तक देखने की कोशिश करो!

और, एक दिन तुम तह तक देखोगे और रोओगे! हाँ, हाँ, राम तुम रोओगे। तुम जंगल में भी रोये थे राम, किन्तु इस बार का रुदन कुछ विचित्र होगा! अबकी तुम्हारा रुदन कोई देख भी नहीं सकेगा, सुन भी न सकेगा राम! अरे, अपनी ही हिचकियाँ तुम्हारा गला दबा देंगी—तुम अपने ही आँसुओं में डूब मरोगे राम! हाँ, डूब मरोगे, डूब मरोगे! तुम डूबोगे, तुम्हारा यह भोला भाई डूबेगा, तुम्हारा सारा परिवार डूबेगा और उसी के साथ डूबेगी सारी अयोध्या की श्रीशोभा। जहाँ सीता का अपमान हुआ, वह स्थान अपना गौरव खो चुका। वाल्मीकि की कृपा से तुम मर्यादा-पुरुषोत्तम भले ही बने रहो राम, लेकिन सीता के साथ ही, ओ अयोध्ये, तुम्हारा गौरव सदा के लिए पाताल-प्रवेश कर गया।

आह, राजा जनक ने उस दिन एक भविष्यवाणी ही की थी, जब उन्होंने सीता को पृथ्वी की पुत्री कहा था। पृथ्वी, पृथ्वी, तूने मेरी बेटी को अपनी गोद में ले लिया, अब आकाश, आकाश, तू अपनी शरण मुझे दे।

आकाश, आकाश! अहा, बेटी पाताल चली, माँ आकाश की ओर जा रही है!

[स्त्री की छाया-मूर्त्ति धीरे-धीरे ऊपर उठती हुई विलीन हो जाती है]

संघमित्रा

[एकांकी]

यह संघमित्रा

सम्राट् अशोक की सुपुत्री सघमित्रा उनकी आज्ञा पर भिक्षुणी बनकर सिहल गई और वहाँ बुद्ध के शान्तिधर्म का प्रचार किया।

सघमित्रा बोधिवृक्ष की जिस डाल को लेकर सिहल गई थी, वह या उसका वशज अश्वत्थ वृक्ष आज भी सिहल मे जीवित है।

इस छोटे-से एकाकी मे मैने उसी घटना को चित्रित करने की चेष्टा की है।

हाँ, मैने उनके मूल उत्स को खोजने का भी प्रयत्न किया है। अशोक के धर्म-परिवर्तन मे कलिग का स्थान रहा है, यह तो सर्व-विदित है। किन्तु सघमित्रा ने भिक्षुणी बनना क्यो स्वीकार कर लिया? क्या सिर्फ पिता का आज्ञापालन ही इसमे कारण रहा है? या कही उसके हृदय मे कोई अपना अन्तर्द्वन्द्व भी था? केवल आज्ञापालन की भावना इतना बडा परिवर्तन कराने मे तो प्राय असफल रही है।

"रहने दो, रहने दो, इतिहास के पन्ने को बन्द ही रहने दो!" इस वाक्य से यह नाटक समाप्त होता है। इसी पन्ने को मैने थोडा-सा उलटकर पाठको के सामने रख दिया है।

इसका अधिकार मुझे था? किन्तु कलाकार तो प्राय ही अनधिकार चेष्टा कर बैठता है न?

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

पात्रियाँ

संघमित्रा | मल्लिका

पात्र

महेन्द्र :: नीलमणि

१

[सम्राट् अशोक के राजप्रासाद का एक कक्ष। सम्राट् के पुत्र महेन्द्र और उनकी पुत्री मित्रा, जो पीछे चलकर संघमित्रा के नाम से प्रसिद्ध हुई, परस्पर बातें कर रहे हैं]

संघमित्रा—हाँ, तो फिर क्या हुआ भैया ?

महेन्द्र—महीने-पर-महीने बीतते गये, हमारा घेरा मजबूत होता गया, कसता गया। हमने ऐसी स्थिति ला दी कि उनकी राजधानी के अन्दर न एक छटाँक अन्न पहुँच पाये, न एक चुल्लू पानी।

संघमित्रा—ओह! वे बेचारे! भैया, फिर क्या हुआ ?

महेन्द्र—उनकी राजधानी मे पहले कोलाहल-कोलाहल था, फिर सन्नाटा छाने लगा—मृत्यु का सन्नाटा! किसी भयानक निश्चय का सन्नाटा!! जब मृत्यु सामने होती है, आदमी भीषणतम सकल्प पर उतारू हो जाता है, मित्रे!

संघमित्रा—उन्होने भी भीषणतम सकल्प किया! क्या सकल्प किया भैया ?

महेन्द्र—एक दिन उनके दुर्ग का फाटक खुला, वे निकले! ताँबे के रग के वे लोग! वे आदमी नही मालूम होते थे, ताँबे की जीवित प्रतिमाये—सुघर, सुन्दर, चमकीली—

संघमित्रा—कलिंग के लोग सचमुच बडे सुन्दर होते है, भैया!

महेन्द्र—सुन्दर और बहादुर भी! वे ताँबे की प्रतिमाये गुस्से में लाल अंगारे-सी दहकती मालूम पडती थी। सबके हाथो में हथियार,

सबके मुँह मे जयनाद ! कलिंग की वाहिनी हम पर इस तरह टूटी, जैसे भूखे शेर शिकार पर टूटते है।

संघमित्रा—भूखे शेर—शिकार पर ! ओहो ! (भय-मुद्रा)

महेन्द्र—हाँ, हाँ, वे ऐसे टूटे जैसे भूखे शेर शिकार पर। दिन भर घमासान लडाई होती रही मित्रे ! ऐसी लडाई जिसमे एक पक्ष ने तय कर लिया हो कि वे या तो मरेगे या मारेगे—नही, मार कर मरेगे। क्योकि कलिंग वाले समझ गये थे, वे जीत नही सकते और पराजय की अपेक्षा उन्होने मरण को वरण किया था।

संघमित्रा—तब तो सचमुच बडी घमासान लडाई हुई होगी, भैया ?

महेन्द्र—बड़ी घमासान ! जब शाम को हम विजयी हुए, तो पाया, हम मुर्दो के देश के राजा है ! उफ, रक्त का समुद्र हिलोरे ले रहा था, मानवता चीख-पुकार कर अतिम दम तोड रही थी !

संघमित्रा—रक्त का समुद्र ! ओह !

महेन्द्र—हाँ, हाँ, मित्रे, रक्त का समुद्र ! जिसने उस समुद्र को देखा, किसी का कलेजा स्थिर नही रहा ! पिताजी तो फूट-फूट कर रोने लगे !

संघमित्रा—(आश्चर्य मे) पिताजी रोने लगे ?

महेन्द्र—हाँ, मित्रे, रोने लगे, बच्चो-सा बिलख-बिलख कर ! जिन्होने अपने सौ भाइयो की हत्याये करवाई थी, हर हत्या पर उत्सव मनाया था, जिनकी वीरता क्रूरता की भी सीमा पार कर गई थी, वे ही पिताजी बच्चो-से बिलख-बिलख कर रोने लगे ! और हिचकियो मे कहा—चलो पाटलिपुत्र, आज से हम युद्ध नही करेगे !

संघमित्रा—हाँ सुना है, और आप लोग चले आये !

महेन्द्र—नही ! उस समय सध्या हो चली थी। पिताजी ग्लानि मे युद्ध-भूमि से लौट रहे थे। मै उनके साथ था, कि अकस्मात् कुछ शब्द हुआ, और हमने पाया, जैसे मुर्दो के बीच से कोई उठ खडा हुआ हो !

संघमित्रा—मुर्दो के बीच से कोई खडा हुआ हो !—आप लोग डर गये होगे; भैया !

महेन्द्र—पगली, मर्द डरा नही करते !

संघमित्रा—मर्द नही डरते ! ओहो ! अच्छा, तो आगे क्या हुआ भैया ?

महेन्द्र—मालूम हुआ, एक लाश खडी हुई, चीखी, हमारी ओर बढ़ी—तीर की तरह ! और, उसने पिताजी पर वार कर दिया !

सघमित्रा—अरे, अरे !

महेन्द्र—किन्तु तलवार कहाँ थी ? थी सिर्फ मूंठ ! पिताजी की ढाल पर ठम-सा शब्द हुआ और वह लाश आप ही भहरा पडी ! और थोडी ही देर मे लाश पिताजी के कधे पर ढोई जाकर हमारे शिविर मे थी। लाश मे अब भी साँस थी। पिताजी ने तुरत चिकित्सको को बुलाया और आज्ञा दी—इसे अच्छा करना ही है तुम्हे ! कलिंग का यही उपहार लेकर मुझे पाटलिपुत्र लौटना है !

संघमित्रा—उसका क्या हुआ ? वह कौन था भैया ?

महेन्द्र—उसका जो कुछ हुआ, सामने देखो ! (प्रकोष्ठ की ओर इगित करता हुआ) वही नीलमणि है। कलिग की प्रतिहिसा की जीवित प्रतिमा और पिताजी के आध्यात्मिक कायाकल्प का चलता-फिरता प्रमाण ! देखो, वहाँ प्रकोष्ठ के सुनसान कोने पर निश्चल खड़ा हुआ किस तरह गगा की ओर घूर रहा है !

२

[सम्राट् अशोक के प्रासाद के प्रकोष्ठ का एक एकान्त स्थान। सम्राट्-कुमारी मित्रा कलिंग-कुमार नीलमणि से बातें कर रही है]

संघमित्रा—क्या देख रहे है, कलिग-कुमार !

नीलमणि—ओहो, आप ? क्या देख रहा हूँ ? आप भी देखिये न राजकुमारी ! देखिये, वह क्या है ?

संघमित्रा—कितना सुन्दर दृश्य ! एक ओर से सोनभद्र का सुनहला पानी, दूसरी ओर से सदानीरा की तुरत-तुरत हिमालय से उतरी शीतल जल-धारा ! दोनो बाँहे पसार कर, दौड कर गगा-मैया से मिल रही हो मानो ! वह कलकल, वह कुलकुल ! यहाँ से भी हम शब्द सुन रहे है, कुमार ! कितना सुन्दर, कितना मधुर !

नीलमणि—भद्रोचित! (शान्त होते हुए) आह, ऐसी समझ मुझमे आती राजकुमारी ! एक दिन मै भी भद्र था, हम भी भद्र थे। किन्तु हमारी सारी भद्रता को तुम्हारे पिता ने लाशो और लोथो से ढँक दिया !

संघमित्रा—अतीत का गीत दुहराने से कुछ नही होता कुमार ! हम वर्तमान को देखें, भविष्य की चिन्ता करे ! तुम चाहो, तो कलिंग का भाग्य-सूर्य्य फिर सोलहो कला से दीप्त-दृप्त हो सकता है !

नीलमणि—(साश्चर्य) मेरे चाहने से ?

संघमित्रा—हाँ, तुम्हारे चाहने से ?

नीलमणि—मेरे चाहने से ? मै यह समझ नही पाता ?

संघमित्रा—(जमीन की ओर देखती हुई) समझोगे राजकुमार, समझोगे।

नीलमणि—(कुछ हतप्रभ-सा) तुम्हारा मतलब !

संघमित्रा—क्या हर मतलब को प्रकट करने के लिए शब्द ही चाहिए ?

नीलमणि—(जैसे वह भाँप गया हो) ओहो ! (फिर कुछ सोचकर) किन्तु राजकुमारी, खँड़हर पर नई इमारत बन सकती है, खँडहर खुद इमारत नही बन सकता। जो उजड गया, उजड़ गया, जो नया आयगा, वह नया आयगा ! कलिंग मर चुका, कलिंग के अनेको राजपुरुष और राजकुमारो के साथ ही यह तुच्छ नीलमणि भी मर चुका। यह जो तुम्हारे सामने खड़ा है, वह नीलमणि नहीं है। वह नीलमणि का भूत है, जिसे तुमने मत्रबल से खडा किया है। तुम्हारी सेवा, तुम्हारी शुश्रूषा—जीवन भर इसे नही भूल सकता, राजकुमारी ! किन्तु भूत को जीवित प्राणी समझने की नासमझी न करूँगा, न करने दूँगा !

संघमित्रा—कुमार !

नीलमणि—राजकुमारी !

संघमित्रा—अभी तुम स्वस्थ्य नही हुए हो, कुमार !

नीलमणि—और न हो सकूँगा राजकुमारी ! मेरी मानसिक स्थिति तुमलोग समझ नही सकते। विजेता और विजित की मनोदशा मे आकाश-पाताल का अन्तर होता है। दोनो बिलकुल दो वस्तुयें है। न तुम लोग हमें समझ सकोगे, न हम तुम्हे समझ सकेंगे ! हम समानान्तर रेखायें है, एक बिन्दु पर मिल नहीं सकते !

संघमित्रा—(व्याकुल होकर) ओह! कुमार

नीलमणि—व्याकुल मत हो राजकुमारी! अब मैं पाटलिपुत्र मे नही रह सकता। मुझे लगता है सारा पाटलिपुत्र ढोगो से भरा है! यहाँ की गली मे ढोग है, यहाँ के बाजार मे ढोग है। यहाँ के झोपडो मे ढोग, यहाँ की अट्टालिकाओ मे ढोग। यहाँ के नागरिक ढोगी, यहाँ की नागरिकाये ढोगी। इस गगा के पानी मे ही ढोग है राजकुमारी! (उसाँसे लेता हुआ) अरे, इससे तो हमारा सागर अच्छा—जो न अपने रग को छिपाता है, न अपने स्वाद को। ससार भर का विष पीकर जो नीला बना है, ससार भर के आँसू आत्मसात् कर जो खारा हो चुका है। जो अपनी जगह नही छोडता, जो अपनी मर्यादा नही तोडता! बस उसी का तट शायद मुझे स्वस्थ कर सके, मित्रे!

संघमित्रा—बस करो, बस करो, राजकुमार!

नीलमणि—मित्रे! (अपराध बोध करते हुए) क्षमा करना राजकुमारी, तुम्हारा नाम लेकर पुकार दिया! यह पहला और अतिम अपराध हुआ—क्षमा करो! क्षमा!! (वह झपट कर चल देता है, सम्राट्-कुमारी मित्रा देखती रह जाती है)

३

[सम्राट् अशोक का अत.पुर। सम्राट्-कुमारी मित्रा अपनी परिचारिका मल्लिका से बातें कर रही है]

संघमित्रा—नीलमणि ने कहा था, गगा के पानी मे ही ढोग है—क्या उसकी बात सच थी मल्ली?

मल्लिका—नीलमणि को आप भूल न सकी राजकुमारी!

संघमित्रा—नीलमणि मेरे जीवन की एक चुनौती था मल्ली! चुनौती भी क्या भूली जा सकती है?

मल्लिका—चुनौती?

संघमित्रा—हाँ, पिताजी के लिए कलिग चुनौती, मेरे लिए नीलमणि चुनौती। एक ने युद्ध की निरर्थकता सिद्ध की और दूसरे ने .

मल्लिका—प्रेम की, क्यो?

संघमित्रा—हाँ, हाँ, प्रेम की! और जानती हो मल्लिके, प्रेम और युद्ध एक ही सिक्के के दो रुख हैं—अलग रूप, किन्तु शरीर एक; अलग शब्द, किन्तु अर्थ एक; बोल अलग, किन्तु मोल एक।

मल्लिका—कलिंग ने सम्राट् को पीला वस्त्र दिया—

संघमित्रा—और नीलमणि एक दिन मित्रा के शरीर से भी यह रंगीन चीर उतार कर रहेगा, मल्ली!

मल्लिका—यह क्या बोल रही हैं राजकुमारी! कहीं.....

संघमित्रा—कहीं मेरे पतिदेव सुन लें, तो। और तू चिंतित होती है उनका नाम स्मरण कर! (मुस्कराती है)

मल्लिका—हाँ, उनके पिता ने यह अच्छा नाम नहीं चुना था—अग्निवर्मा! किन्तु स्वभाव तो बहुत ही प्रेमल है।

संघमित्रा—तभी तो मित्रा ने अपना शरीर उन्हें पूर्णत समर्पित कर रखा है।

मल्लिका—शरीर?

संघमित्रा—हाँ, पिता शरीर का दान करता है। पति का नैतिक अधिकार शरीर पर होता है! जिसका जो अधिकार है, उसे मिलना ही चाहिए, मल्लिके!

मल्लिका—केवल शरीर? और हृदय.....

संघमित्रा—ढोंग नहीं मल्ली, ढोंग नहीं। जिस दिन नीलमणि का अंतिम पदचाप सुनकर लौटी, हृदय को कहीं अलग अर्पित कर दिया?

मल्लिका—अलग?

संघमित्रा—हाँ, अलग। किन्तु किसी व्यक्ति पर नहीं! और नीलमणि के बारे मे तो सोचना भी अन्याय है मल्ली! नीलमणि कोई व्यक्ति तो था नहीं! उसने यह सच कहा था—नीलमणि मर चुका, वह जो यहाँ था, वह तो भूत था उसका!

मल्लिका—तो किसे अर्पित किया राजकुमारी ने?

संघमित्रा—एक स्वप्न को।

मल्लिका—स्वप्न को?

संघमित्रा—हाँ, एक स्वप्न को, सपने के एक संसार को, जिसमें किसी को नीलमणि नहीं बनना पड़े! जहाँ हराभरा देश श्मशान न

बन जाय, जहाँ जीवित मानव भूत न बन जाय। मेरा हृदय उसी स्वप्न को अर्पित हो चुका है मल्ली!

मल्लिका—तो फिर विवाह क्यो किया? हृदय अलग, शरीर अलग—यह तो अजीब साधना है राजकुमारी!

संघमित्रा—बिल्कुल सही कह रही हो मल्लिके! शरीर अलग, हृदय अलग। अजीब साधना! किन्तु पिताजी की आज्ञा जो थी। पिता की आज्ञा, राजाज्ञा! किन्तु मै जानती हूँ मल्ली, एक दिन पिताजी मुझे इससे भी बडी साधना की कसौटी पर कसेगे। मै उस दिन की तैयारी कर रही हूँ, मल्लिके!

मल्लिका—पिताजी . . साधना की कसौटी . . .

संघमित्रा—हा, कलिंग ने पिताजी को जो ठेस दी, उसका प्रारम्भ ही अभी देख रही हो। उसकी परिणति हम-तुम सब पर बरस कर रहेगी। चोट खाया हुआ आदमी बीच मे नही रुकता—वह छोर खोजता है, छोर, और उसे पाकर ही दम लेता है। मै जानती हूँ, वह एक दिन हमे, तुम्हे, भैया को, उन्हे और सुमन को भी (बच्चे के रोने की आवाज)

मल्लिका—सुमन? सुमन शायद जग गया है, राजकुमारी!

संघमित्रा—लाओ, उसे जरा दुलरा ले। जितने दिनो तक ही सही—पुत्र-प्रेम, पति-प्रेम, सबका आनन्द लिया जाय। फिर तो

४

[कलिंग की तटभूमि: संघमित्रा का बेड़ा सिंहल जाते हुए यहाँ ठहरा है। तटभूमि में एकाकी सान्ध्य भ्रमण करती हुई संघमित्रा नीलमणि को देखकर पुकार उठती है—]

संघमित्रा—ओ, नीलमणि!

नीलमणि—(मुडकर धीरे-धीरे निकट आते हुए) तुम, राजकुमारी?

संघमित्रा—हाँ, हाँ! तुम मुझे पहचान न सके?

नीलमणि—पहचानूँ और यह वेश?

संघमित्रा—हाँ, कुमार . . यह वेश!

नीलमणि—नही, कुमार नही, नीलू कहो। कलिग मर गया, कुमार मर गया, नीलमणि मर गया। यह तो नीलू भूत है जो अपनी नाव लेकर इस समुद्र के किनारे-किनारे प्रात-सन्ध्या जल-विहार किया करता है!

संघमित्रा—अह, उस दिन तुम किस प्रकार भगे? पिताजी ने तुम्हारी खोज कराई—कलिंग मे भी तुम नही मिले। बाद को पता चला, कभी-कभी तुम समुद्र-तट पर दिखाई पड़ते हो!

नीलमणि—क्या तुम्हारी उस दिन की बात के बाद भी मै वहाँ ठहर सकता था! और कलिग कहाँ रह गया? रह गया है यह नील विस्तृत सागर! अब इसीकी शरण है! (खिन्न हो जाता है)—किन्तु तुम यहाँ कैसे? और तुम्हारा यह वेश? यह क्या देख रहा हूँ मित्रे!

संघमित्रा—मै सिहल जा रही हूँ नीलू! हाँ नीलू! तुम्हारा यही नाम अच्छा लगता है! और मुझे भी मित्रा नही कह अब सघमित्रा कहो। मै सिंहल में भगवान बुद्ध के शान्ति-धर्म का सदेश लेकर जा रही हूँ!

नीलमणि—धर्म का, शान्ति-धर्म का—आह! फिर ढोग! (घृणा से) सचमुच गगा के पानी में ही ढोग है!

संघमित्रा—(उत्तेजना में) ढोग, ढोग मत चिल्लाया करो नीलू! अगर हम ढोगी होते तो मै सात दिनो से कलिग की इस तटभूमि पर अपने जलपोतो में लगर डलवाकर तुम्हारी खोज में दिन-रात इधर-उधर मारी-मारी नही फिरती! और फिर राज-पाट, धन-धान्य, सुख-ऐश्वर्य को ठुकरा कर युवक-युवतियो का यह झुड जो सात समुद्र पार शान्ति का सदेश लेकर जा रहा है, वह क्या सिर्फ ढोग ही है? आदमी बदलता भी है नीलू?

नीलमणि—अरे! आदमी बदलता भी है?

संघमित्रा—सिर्फ बदलता ही नही है। बदला हुआ आदमी ससार को भी बदल देता है! हम बदल गये है, हम ससार को बदलने चले है। हम ससार को बदल देंगे, उसे ऐसा बना देंगे जिसमें न विजेता हो, न विजित, न युद्ध हो, न पराजय, न हिंसा हो, न घृणा! जहाँ व्यक्तित्व टुकड़ो में न बँटे, जहाँ हृदय खीचातानी में न बटे। जहाँ मानव-आकाँक्षा की परिणति हो ज्ञान में, मानव-करुणा में। हम ससार को बदलने चले है—देखो, हमारा यह अलौकिक अभियान!

भाई जगलो को रौदता पहाडो को कुचलता थल-पथ से गया है, बहिन नदियो को बाँधती, समुद्र को फाँदती जल-पथ से जा रही है!

निलमणि—भाई! कौन? कुमार महेन्द्र?

संघमित्रा—भिक्षु महेन्द्र! नील्लू, भिक्षु महेन्द्र! कलिंग धन्य है जिसने चडाशोक को पियदर्शी अशोक बनाया। प्रियदर्शी—देवनाम् प्रिय। ससार के इतिहास मे अशोक ही अमर नही रहेगे, कलिंग भी अमर रहेगा! किन्तु नील्लू, एक बात पूछूँ? क्या कलिंग इस महान धर्माभियान मे शामिल नही होगा? अब तो गगा का पानी समुद्र मे मिलने जा रहा

नीलमणि—मित्रे,—नही, नही, सघमित्रे! उफ, तुम लोगो के ढोंग का पारावार नही है! तुम लोग जिस ओर बढोगे, कहाँ तक जा सकोगे, कोई कल्पना नहीं कर सकता। मै! मै तो तुमलोगो को देखते ही डर जाता हूँ! देखो, देखो, मेरे सारे शरीर का यह रोमाच! (दिखलाता है, सघमित्रा चकित हो रहती है!) नही, नही मुझे जाने दो, देखो, वह मेरी छोटी सी नौका मुझे पुकार रही है, विदा विदा विदा

(अचानक द्रुतगति से चल पडता है और थोडी-थोडी दूर से मुड कर कहता जाता है—विदा . विदा)

५

[सिंहलद्वीप: संध्या समय संघमित्रा मल्लिका के साथ बोधिवृक्ष के बिरवा की पूजा कर रही हैं]

संघमित्रा—उधर मल्ली, उस दीपक मे घी रख दे!

मल्लिका—रख रही हूँ, भद्रे।

संघमित्रा—और तनिक उसकी बाती उकसा दे।

मल्लिका—अभी किया!

संघमित्रा—और गिन लिया है न, एक सहस्त्र दीपक है न?

मल्लिका—गिन लिया है, भद्रे!

संघमित्रा—इन बातियो की झिलमिल मे यह बोधिवृक्ष कितना शोभ रहा है मल्ली!

मल्लिका—बहुत ही सुन्दर लगता है, भद्रे!

संघमित्रा—याद है न? सिर्फ एक पतली डाली थी और गिन-कर दो पत्ते। साल भी नहीं लगा और एक डाली अनेक डालियाँ दे चुकी, दो पत्ते सैकडो पत्तो मे फैल गये। लाई थी, तो बिरवा लगता था! मालूम होता है, अगले साल मे ही छाया देने लगेगा मल्ली!

मल्लिका—छाया! शरीर को ही नही, हृदय को भी भद्रे!

संघमित्रा—सत्य—पूर्ण सत्य! इसकी माँ ने भरतखड को छाया दी, यह सिंहल को शान्ति की छाया देगा!

मल्लिका—अनन्त काल तक देता रहेगा, भद्रे!

संघमित्रा—हाँ, अनन्त काल तक। कल्पना की आँखो से देख रही हूँ मल्ली, यह वृक्ष बढता जा रहा है! बढता जा रहा है! इसका सिर आसमान को छू रहा है, इसकी जड़ पाताल को नाप चुकी है। शताब्दियो, सहस्राब्दियो के बाद भी, जब हम न होंगे, हमारी यह सौभाग्यशाली पीढी न होगी, सम्भवत. यह राजवंश भी नही रहे, तो भी यह वृक्ष बढता जायगा, फैलता जायगा, लोगो को शान्ति की छाया देता जायगा!

मल्लिका—यह सब आपकी तपस्या का परिणाम है आर्ये!

संघमित्रा—इसमें मेरा कोई श्रेय नही है मल्ली! इसमें पिताजी की सूझ की बलिहारी है। अहा, किस प्रेम से उन्होंने इस बिरवा को हमे सौंपा था—गगा में नगे बदन, छाती भर पानी तक, वे आये और मत्रो की ध्वनि में सजल आँखो से इसे मेरे हाथो में सौंपते हुए बोले थे—बेटी तथागत के इस बिरवा को आवश्यकता होने पर अपने रक्त से सींचने में भी नही चूकना! पिताजी··· ! (ध्यानमग्न होती है)

मल्लिका—और आपने उसे अक्षर-अक्षर निबाहा भद्रे! सम्राट् प्रियदर्शी तो अमर हो ही चुके है, किन्तु आर्या को भी इस बिरवा ने अमर कर दिया!

(अकस्मात् नीलमणि का प्रवेश)

नीलमणि—सच, तुम बिलकुल सच कह रही हो मल्ली!

संघमित्रा—(चौंक कर) कौन? नीलू? अरे···

नीलमणि—क्या पहचान नही सकी थी?

नघमित्रा—तुम्हारा यह वेश जो ?

नीलमणि—और उस दिन इसी वेश के कारण तुम्हे नही पह-चान नका, तो मुझे उलहना दिया था तुमने।

सघमित्रा—किन्तु तुम ओर यह वेश ? तुम मेरे ढोग का व्यग करने तो नही आये ?

नीलमणि—आया तो था यही करने मित्रे, किन्तु इन वातियो के प्रकाग ने कुछ दूसरा ही कर दिया! इस दिव्य प्रकाश ने मेरे भूत को न जाने कहाँ भगा दिया।

नंघमित्रा—अरे ?

नीलमणि—(प्रसन्न मुद्रा मे) हाँ, आया था देखन कि तुम लोगो का ढोग कहाँ तक जाता है। जब तुम्हारे जलपोत खुले, मैंने अपनी नाव का पाल भी उनके पीछे खोल दिया! किसी तरह डूबते-उतराते यहाँ पहुँचा। तब, दिन भर कही माँग-मूँग कर खाता और गाम को इस जगह आता ढोग की गहराई नापने। किन्तु धीरे-धीरे...

सघमित्रा—हाँ, प्रकाश धीरे ही धीरे फैलता है नीलू! यह तो अधकार है जो एक ही बार ढँक लेता है। (कुछ रुककर) मैं जानती थी तुम एक दिन ··

नीलमणि—(साश्चर्य) जानती थी ?

संघमित्रा—(मुस्कुराती हुई) हाँ-हाँ मेरा विश्वास था, नीलू का भूत अपने माध्यम को छोड नही सकता! बोलो, इस भूत का माध्यम मै थी या नही ?

नीलमणि—ओह, ओह!

(अचानक पद-चाप सुनाई पडता है महेन्द्र आते है)

महेन्द्र—कौन? तुम ? नीलमणि? यहाँ ? इस वेश मे ?

सघमित्रा—यह हमलोगो का ढोग नापने आये थे भैया!

महेन्द्र—सघमित्रे! तुम बार-बार भूलकर जाती हो। अब हम भाई-बहिन नही रहे। अब हम सघ के सदस्य-सदस्या है। हमलोग रक्त-सम्बन्ध छोड चुके है।

(सघमित्रा आँखो मे आँसू भरकर एकटक महेन्द्र को देखती रह जाती है)

महेन्द्र—फिर ये आँसू !

नीलमणि—'रक्त' 'आँसू'। उफ, घूम फिर कर वही—रक्त ···आँसू, ····आँसू, रक्त ! महेन्द्र, महेन्द्र, तुम सब धन्य हो !

महेन्द्र—धन्य हम नही, धन्य वह मार्ग है, जिस पर चल कर हम सब यहाँ पहुँचे हैं। किन्तु, तुम यहाँ कैसे ?—

नीलमणि—कैसे ? कैसे बताऊँ कि कैसे ?

संघमित्रा—(अपने को सम्हालकर) कहा था न, हमलोगो का ढोग देखने।

महेन्द्र—देख लिया ढोग ? और रग गये ढोग मे ! (मुस्कुराता है)

नीलमणि—तुम सब विचित्र प्राणी हो महेन्द्र !

महेन्द्र—क्या इसी से हमे छोड़कर भगे थे ?

नीलमणि—क्या तुम लोग क्षमा नही कर सकते ?

संघमित्रा—एक दिन और भी तुमने क्षमा माँगी थी नीलू, और कहा था, यह पहला और अन्तिम (इतना कह कर संघमित्रा रुक जाती है—वह सोचती है, क्या कह गई !)

महेन्द्र—कब—कब नीलू ?

नीलमणि—रहने दो, रहने दो, इतिहास के एक पन्ने को बद ही रहने दो। आह !

[पटाक्षेप]

अमर ज्योति

[रेडियो रूपक]

अमर ज्योति

१

(पहला प्रवक्ता)

अधकार-अधकार। जहाँ देखिये, जिधर देखिये, अधकार ही अधकार। ऊपर अधकार, नीचे अधकार—चारो दिशाएँ अधकार मे डूबी। अध-कार—जिसमे आप अपने को न देखे। अधकार जिसमे शरीर ही अदृश्य नही हो गया था, जिससे आत्मा भी ढँक गई थी। ढँक गई थी, चीख रही थी। चीख—अरे ..

(स्त्री के करुण कंठ से)

आह, मुझे बचाओ, मुझे उबारो। यह अधकार, ये बधन। ये जजीरे, ये दीवारे—काली, कलूठी। ओह, ओह। मेरा दम घुंट रहा है। मुझे बचाओ, मुझे उबारो।

यह रात है? ऐसी भी रात होती है? मास, वर्ष, दशाब्दियाँ, शताब्दियाँ। शताब्दियो से इस अधकार मे जकडी हूँ, मै। कुछ देख नही सकती, कुछ कर नही सकती। मुझे उबारो। बचाओ।

यह अधकार, ये जजीरे। हाथो को, पैरो को, छाती को, सब जगह जकड रही है ये। हिल-डुल नही सकती, चल-फिर नही सकती, घूम-फिर नही सकती। घूमूँ, कहाँ? ये दीवारे-काली-कलूठी। इन्हे तोडो— तोडो!

तुम सुन नही रहे? तुम कहाँ हो? आओ, बचाओ, उबारो। यह अधकार— इसे हटाओ, हटाओ।

देवता! देव! देव! दौड़ो, आओ। इस अंधकार से बाहर निकालो, ले चलो प्रकाश की ओर, ज्योति की ओर—देवता, देवता— तमसो मा ज्योतिर्गमय!

(दूसरा प्रवक्ता)

और भारत के एक कोने में, सुप्रसिद्ध सुदामापुरी में, आश्विन वदी १२, संम्वत् १९२५ अर्थात् २ अक्टूबर १८६९ को एक चिनगारी चमक उठी!

चिनगारी—ज्योति की पहली रेखा! इस अंधकार के देश में! अंधकार उसपर टूट पड़ा, अंधकार की सेना टूट पड़ी! उसने उसे घेर लिया—ज्योति की वह क्षीण रेखा झबकती-सी मालूम पड़ी—

(एक बच्चे की आवाज़)

मोहन, मोहन, बेवकूफी की बात नहीं। अरे, बिना मांस खाये अपने देश का कल्याण नहीं! तुम मेरी बात न सुनो, पर, कवि नर्मद क्या कह गये हैं——

अँगरेजी राज करे, देशी रहे दवाई,
देशी रहे दवाई जो ने बेनी शरीर भाई,
पेलो पाँच हाँथ पूरो-पूरो माँस सेवे!

हाँ, हाँ, वे खूब मांस खाते हैं; इसलिए वे इतने हट्टे-कट्टे हैं, हमें दवा रखा है! देश को स्वतंत्र करना चाहते हो तो मांस खाना आवश्यक है, अनिवार्य है!

और, मांस के साथ सिगरेट न हुई, तो फिर क्या मजा? शराब भी तो जरूरी है ही, लेकिन अभी उसे छोड़ो। मुँह में मांस, होठ पर सिगरेट! मजा तब?

(पहला प्रवक्ता)

मोहन—वह ज्योति-रेखा इस लोक में इसी नाम से अभिहित हुई थी—हाँ, तो मोहन, मोह में फँस गया। परिवार वैष्णव था, तो भी चुप-चोरी मांस उड़ने लगा, सिगरेट उड़ने लगी! पूरी नहीं मिली, तो जूठी फेंकी हुई सिगरेट भी! उँह, जूठन पर कब-तक रहा जाय? तब चोरी शुरू हुई—चोरी! चोरी! भाई के सोने के कंठे की चोरी!

किन्तु वचपन मे ही उसने 'श्रवण-कुमार' का चरित्र पढ लिया था। क्या मा-बाप के साथ यह विश्वासघात नही है। क्या पुत्र का धर्म यही है? और उस दिन उसने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक देखा था। सत्य के लिए हरिश्चन्द्र ने कौन-कौन सी तकलीफे नही उठाई? और उस नाटक को देखकर वह कितना रोया था—और आज वही चोरी कर रहा है।

ज्योति की रेखा ने सिर सीधा किया—

(किशोर गांधी के कठ से)

पिताजी, मुझसे अपराध हो गया है। मैंने आपको धोखा दिया है। मैं मांस खाता रहा हूँ, मैं सिगरेट पीता रहा हूँ। मैंने चोरी की है। इसके लिए आप मुझे सजा दीजिये।

(दूसरा प्रवक्ता)

हाथ मे चिट्ठी थी, सामने वेटा था। पिताजी की आँखो से मोती की वूंदे टपकने लगी। चिट्ठी भीग गई। मोहन भी रो पड़ा। पचास साल के वाद उसने यो लिखा—

(महात्मा गाँधी के कंठ से)

"इस मोती-विन्दु के प्रेमवाण ने मुझे वीध डाला! मैं वद्ध हो गया। इस प्रेम को वही परख सकता है; जिसे उसका अनुभव हुआ है———

'राम वाण वाग्यारे, होय ते जाणे'

मेरे लिए यही अहिंसा का पदार्थ पाठ था। ऐसी अहिंसा जव व्यापक रूप धारण करती है, तव उसके स्पर्श से कौन अलिप्त रह सकता है।"

(पहला प्रवक्ता)

हरिश्चन्द्र ने सत्य दिया था, पिताजी ने यह अहिंसा दी—सत्य और अहिंसा। सत्य का तेल, अहिंसा की वाती। ज्योति की रेखा अमर ज्योति के रूप में प्रस्फुटित होने लगी।

२

(पहला प्रवक्ता)

पिताजी चल बसे। मोहन ने मैट्रिक पास किया—और कालेज में पढ़ने लगा है। एक दिन उसके घर में एक परामर्श-समिति जुटी है—

जोशीजी—मेरी सलाह तो यह है कि मोहन को आप इसी साल विलायत भेजें। तीन साल में बैरिस्टर बनकर चला आवेगा; फिर अपने बाप की जगह राजकोट का दीवान बनने में इसे क्या दिक्कत होगी? क्यों, मोहन, तुम्हें यह राय पसंद है?

विद्यार्थी गांधी—विलायत भेजें तो बहुत अच्छा। पर मुझे डाक्टरी के लिए क्यों नहीं भेजते?

बड़े भैया—पिताजी को यह पसंद नहीं था। डाक्टरी की बात जब निकलती, तो कहते, हम वैष्णव हैं। हाड़-मांस नोचने का काम हम कैसे करें?

जोशीजी—मुझे कबा गांधी की तरह डाक्टरी से नफरत तो नहीं है, शास्त्रों ने भी इसका तिरस्कार नहीं किया है। परन्तु डाक्टरी पास करके तुम दीवान नहीं बन सकते। मैं तुमको तुम्हारे पिताजी की तरह राज्य का दीवान देखना चाहता हूँ! तुम्हें भी मेरी राय पसंद होगी, मोहन की अम्मा!

माताजी—हमारे कुटुम्ब से कोई विलायत नहीं गया फिर तरह-तरह की बातें सुनती हूँ . .

विद्यार्थी गांधी—माताजी, माताजी . .

माताजी—हाँ, मोहन, लोग कहते हैं वहाँ नवयुवक बिगड़ जाते हैं; वे मांस खाने लगते हैं, शराब पीये बिना वहाँ काम नहीं चलता, वहाँ की औरतें भी . .

विद्यार्थी गांधी—मुझपर विश्वास रखो माँ, मैं विश्वासघात नहीं करूँगा। मैं शपथ खाकर कहता हूँ, मैं इन तीनों बातों से बचूँगा!

माताजी—मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर देश में तेरा कैसा क्या होगा? मेरी तो बुद्धि काम नहीं करती! मैं बेचरजी स्वामीजी से पूछूँगी।

(दूसरा प्रवक्ता)

स्वामीजी ने मोहन से वाजाब्ता प्रतिज्ञा कराई। तव माताजी की आज्ञा मिली।

और फिर, मोहन विलायत चला—अठारह साल का मोहन! जिसका हाथ वचपन मे ही पकडा था, अपनी उस नवोढा पत्नी को छोडकर—माताजी के आँसुओ-भरे आशीर्वाद लेकर!

तीन साल तक वह विलायत रहा—वडी-वडी कठिनाइयाँ आई, तरह-तरह के प्रलोभन आये, लेकिन उसने प्रतिज्ञा न छोडी, न छोडी!

(पहला प्रवक्ता)

सत्य का तेल, अहिसा की वाती–'अमर ज्योति' हवा के झकोरे मे भी जलती रही!

००

३

(पहला प्रवक्ता)

'मोहनदास-करमचद गाँधी, वार-एट-ला' वम्बई के एक घर के सामने यह तख्ती टँगी है। वैरिस्टर गाँधी ने अच्छे वैरिस्टर वनने के लिए क्या-क्या न सीखा था–अँगरेजी कानून, रोमन कानून, लैटिन भाषा, फ्रेच भाषा, व्याख्यान-कला, नृत्य-कला। यहाँ तक कि मुख-मुद्रा-शास्त्र तक पढ गये थे। लेकिन यह क्या हुआ ? यह है वम्वई की छोटी अदालत—

जज—आपही मुदाल्लह के वैरिस्टर है।

वैरिस्टर गाँधी—जी हाँ।

जज—तो जिरह कीजिये।

वै० गाँधी—जी ....

जज—जिरह शुरू कीजिये न ?

वै० गाँधी—जी .... .

जज—यह क्या हो रहा है आपको, जिरह क्यो नही शुरू करते ?

वै० गाँधी—जी .. .जी.....

जज—(हँसता है)

(दूसरा प्रवक्ता)

लगभग पचास साल के बाद बैरिस्टर गाँधी की तस्वीर उन्ही की लेखनी से देखिये —

(महात्मा गाँधी के कंठ से)

"मै खडा हुआ, पैर काँपने लगे, सिर घूमने लगा। मुझे मालूम हुआ, सारी अदालत घूम रही है। सवाल क्या पूछूं यह सूझ नही पडता था। जज हँसा होगा, वकीलो को मजा आया होगा। पर उस समय मेरी आँखे ये सब देख नही सकती थी।"

(पहला प्रवक्ता)

बम्बई मे बैरिस्टरी न चली, शायद कठियावाद मे चले। राजकोट आये। एक दिन भाई के एक काम से वहाँ के पोलिटिकल एजेट के पास गये —इस साहब से विलायत की जान-पहचान थी। सोचा था, प्रेम से मिलेगा, मेरी बात ध्यान से सुनेगा, किन्तु यह क्या ?

पोलि० एजेंट—मै तुम्हारी बाते ज्यादा नही सुनना चाहता, समय नही है।

बैरि० गाँधी—हुजूर, मेरे भाई ने ऐसा कुछ .

पो० एजेंट—अब तुमको चला जाना चाहिए!

बै० गाँधी—मेरी बात तो पूरी सुन लीजिये!

पो० एजेंट—चपरासी, इसको दरवाजे से बाहर कर दो!

चपरासी—हुजूर . . हटो, बाहर जाओ।

(दूसरा प्रवक्ता)

यही गोरा विलायत मे कितना शिष्ट था! हिन्दोस्तान मे आते ही वह क्यो बदल जाता है? लेकिन इस प्रश्न पर ठीक से गौर करने के लिए चपरासी का धक्का ही काफी नही है—

(पहला प्रवक्ता)

अभी आँधी-पानी का आना शुरू ही हुआ है—कुछ और तेल दे, कुछ और बाती उकसा—सत्य का तेल, अहिंसा की बाती! अमर ज्योति! झकोरो मे भी निर्धूम जलने का अभ्यास कर!

○○

४.

(पहला प्रवक्ता)

फ्रोफ-न्रेम वॅरिस्टर गांधी किसी तरह वम्वई में दिन काट रहे थे कि एक दिन सेठ अब्दुल्ला नामक एक व्यापारी उनके पास आते हैं ——

सेठ अब्दुल्ला—दक्षिण अफ्रीका मे हमारा व्यापार है। वहाँ एक मुकदमा चल रहा है। वडा मुकदमा है—वहुत दिनो तक चलेगा। आप चलिये न ?

वॅ० गांधी—चलने को तो तैयार हूँ। लेकिन ...

सेठ अब्दुल्ला—लेकिन क्या ? आपको वहुत मिहनत नही करनी पडेगी। मेरी ओर से वडे-वडे वैरिस्टर हैं। आप को उन्हे कागज समझा देना है। नये देश की सैर हो जायगी, नये-नये लोगो से जान-पहचान होगी।

वॅ० गांधी—मेहनत से तो मै नही भागता। किन्तु माफ कीजिये, कितने दिनो तक मुझे काम करना पडेगा, और मेहताना क्या मिलेगा ?

सेठ अब्दुल्ला—एक साल से ज्यादा का काम नही होगा। आने-जाने का फर्स्टक्लास का किराया। रहने को वॅंगला मुफ्त—खाने-पीने का जिम्मा हमारा रहेगा। इनके अलावा १०५ पौड।

वॅ० गांधी—एक साल, १०५ पौड। अच्छी वात ! वात पक्की रही। आप टिकट वगैरह का इन्तजाम कीजिये !

(दूसरा प्रवक्ता)

वैरिस्टर गांधी अपनी तकदीर आजमाने को अफ्रीका के लिए रवाना हुए ! वम्वई से जहाज रवाना हुआ ! समुद्र मे ज्यादा ऊँची तरगे थी या वैरिस्टर गांधी के मन मे ?

जहाज़ जा रहा है—जा रहा है—जा रहा है !

(जहाज़ के भोपू का स्वर)

(पहला प्रवक्ता)

और अव यह अफ्रीका है ! घनघोर जगलो का अफ्रीका, भयानक मरूभूमियो का अफ्रीका। दहाडते सिंहो, चिग्घाडते हाथियो, विशाल अजगरो, वडे-वडे मगरो, काले साँपो और काले हब्शियो का अफ्रीका !

और, हिन्दुस्तान के मजदूरों ने इस जगल मे मगल रचा दिया है। लेकिन, उफ, उन्ही की क्या हालत है? गोरे उनके साथ क्या व्यवहार कर रहे है, बैरिस्टर गाँधी को पद-पद पर उसका अनुभव हो रहा है—पहले ही दिन कचहरी मे—

मैजिस्ट्रेट—यह कौन है? क्या सर पर यह अटपटा लपेट रखा है। यह कचहरी है, यहाँ . . .

पेशकार—हुजूर, हिन्दोस्तान से एक नया बैरिस्टर आया है। बेढंगा-सा आदमी मालूम होता है?

मैजिस्ट्रेट—बैरिस्टर हो या जो कुछ, कहो, सर से यह चियडा हटा ले। नही तो निकल जाय कचहरी से।

(दूसरा प्रवक्ता)

बैरिस्टर गाँधी पहले ही दिन कचहरी से निकाले गये! और, एक दूसरे दिन एक यात्रा मे फर्स्ट क्लास का टिकट कटाकर रेल-गाडी के डब्बे मे बैठे थे कि —

गार्ड—चलो, तुमको दूसरे डब्बे मे जाना होगा।

बै० गाँधी—लेकिन मेरे पास फर्स्ट क्लास का टिकट है।

गार्ड—कोई मुजायका नही। मै कहता हूँ, तुम्हे सबसे आखिरी डब्बे मे बैठना होगा।

बै० गाँधी—मै कहता हूँ, मै इसी डब्बे मे डरबन से आ रहा हूँ और इसी मे. .

गार्ड—नही, नही। ऐसा नही होगा। तुम्हे उतरना पडेगा, नही तो सिपाही को तुम्हे उतारना पडेगा।

बै० गाँधी—सिपाही मुझे भले उतार दे, मै अपनेसे नही उतरता . . . .

गार्ड—नही उतरते, तो यह ले लो—
(ट्रक, बेडिंग आदि के गिरने का स्वर, फिर बूटों की ठोकर का स्वर)

बै० गांधी—(दर्द से) उफ!
गार्ड—(हँसता हुआ) हा, हा, हा, हा,!

(पहला प्रवक्ता)

और ट्रेन चल पडती है। यो ही एक दिन एक घोडा-गाडी से भी बैरिस्टर साहव नीचे घसीटे जाते है।

जव उन्ही की यह हालत, तो फिर वालासुन्दरम् की दुर्गत का क्या पूछना ? वालासुन्दरम्—मद्रास का रहनेवाला सीधा-सादा किसान—रुपये कमाने की लालच दिलाकर उसे यहाँ लाया गया और अव—

(कोडे की चटाचट)

वाला सुन्दरम्—वापरे, वापरे, वापरे ....

(कोडे की चटाचट)

वाला सुन्दरम्—मरे रे, मरे रे। उफ। उफ।———

(गिरने का स्वर—बूट की ठोकरो का स्वर)

आह। आह। . आह। ...

(दूसरा प्रवक्ता)

वेचारे वालासुन्दरम् के अग-अग लहूलूहान हुए ही—उसके आगे के तीन दाँत भी टूट गये। किन्तु गोरे साहव को कौन पकडे, कौन सजा दे।

(पहला प्रवक्ता)

वैरिस्टर गाँधी तयकर लेते है—नही, मै देश-भाइयो को इस हालत मे छोडकर नही जाऊँगा। मै यही रहकर उसकी सेवा करूँगा ! हिन्दोस्तान आते है अपने वाल-वच्चो को ले जाने के लिए, क्योकि अव तो जमकर रहना है। वच्चो के साथ जव डरवन के वदरगाह मे पहुँचते है, तो—

(हल्ला . शोर . . हल्ला)

पहला स्वर—गाँधी को वापस करो—जहाज को लौटाओ।

(हल्ला . हल्ला)

दूसरा स्वर—गाँधी को हमे दे दो,—हम उसे फाँसी देगे—हम उनका खून पीयेगे . .

(हल्ला .... हल्ला)

तीसरा स्वर—वह कुलियो को वगावत सिखाने लौटा है लाओ हम उसे वगावत का सवक सिखा दे

(हल्ला . . . हल्ला)

पहला स्वर—देखो, वह गाँधी उतर रहा है—गाँधी—सूअर !

(हल्ला . . . हल्ला)

दूसरा स्वर—हाँ, हाँ, अडे से ही उसका स्वागत हो सकता है। लो यह . . .

(अडे फूटते है जोरो का अट्टहास)

तीसरा स्वर—गाँधी ! अपना चेहरा आईने मे देखो—अडे की जरदी ने तुम्हारे काले चेहरे को कैसा सुन्दर बना दिया है . . . .

(अट्टहास अट्टहास)

पहला—और यह भी लो—यह घूँसा तुम्हारे नाम पर !

दूसरा—और यह ठोकर तुम्हारे देश के नाम पर !

तीसरा—और यह . (घूँसे की आवाज)

दूसरा—और यह (घूँसे की आवाज)

पहला—और यह (घूँसे की आवाज)

(दूसरा प्रवक्ता)

घूँसे और ठोकरो से बैरिस्टर गाँधी बेहोश हो चले—पुलिस ने किसी तरह उन्हे बचाया ! हाँ, किसी तरह ! और थाने मे रखा, फिर भेष बदलवाकर घर पहुँचा दिया

यह तूफान। यह आँधी ! किन्तु 'अमर ज्योति' क्या बुझने को आई थी ? वह निर्लिप्त, निर्विकार किस प्रकार जलती रही, इसका पता तब चला, जब चेम्बरलेन ने तार दिया कि मुजरिमो पर मुकदमे चलाये जायँ, किन्तु गाँधी ने स्पष्ट कह दिया—

(गांधीजी के कंठ से)

"नही, मै उनपर मुकदमा नही चलाना चाहता ! वे भटके नही, भटकाये गये लोग थे।"

(पहला प्रवक्ता)

सत्य का तेज, अहिंसा की बाती—अमर ज्योति जलती रहे, प्रकाश देती रहे—अफ्रीका की उस काली भूमि को, यहाँ के काले आदिवासियो को और उन गोरो को भी जिनके हृदय काले बन गये है !

०○

५

(पहला प्रवक्ता)

यह अपमान, यह अत्याचार ! अहिंसा कहती है, इसे क्षमा कर दो। क्षमा दे दी गई। लेकिन सिर्फ क्षमा से ही इसका प्रतीकार हो जायगा ?

उफ, जिन भारतीयो ने इस दुर्गम जगल को आवादी के योग्य वनाया, उन्ही के लिए कैसे-कैसे बुरे कानून वनाये जा रहे है— हर भारतीय तीन पौड का टैक्स दे, हर भारतीय अपनी दसो उँगलियो की छाप देकर अपनी रजिस्ट्री करा ले, हर भारतीय को अपनी वस्ती की सीमा के अन्दर ही रहना पडेगा; गोरो की वस्तियो मे घुसना उनके लिए गुनाह है !

यह तो अत्याचार की पराकाष्ठा है। क्या इसे वर्दाश्त कर लिया जा सकता है ? क्या इसे वर्दाश्त कर लिया जाना चाहिये ?

(दूसरा प्रवक्ता)

गाँधी के हृदय मे तूफान उठा है। वह अधकार मे टटोल रहे है। इसका मुकावला कैसे किया जाय ? गोरो के हाथ मे सभी साधन है। भारतीय साधन-हीन है ! वे कोई प्रतीकार कैसे कर सकते है ?

जिन ढूंढा तिन पाइयाँ। टाल्स्टाय की एक किताव उनके हाथ मे आती है। प्रतीकार का एक रास्ता मिल जाता है—पैसिव रेजि-स्टेस।

अत्याचार के सामने सर मत झुकाओ ! दवो नही, पर हाथ भी मत उठाओ ! यदि इस प्रतिज्ञा के साथ एक भी आदमी डट कर खडा हो जाय, तो अत्याचारी को ही एक दिन झुकना पडेगा !

पैसिव रेजिस्टेस ! किन्तु इसे भारतीय भाषा में क्या कहेगे ? मोहन के अनन्य सखा मगनलाल जी ने कहा—इसे 'सदाग्रह' कहेगे—सद्-आग्रह-सदाग्रह ! मोहन ने कहा, नही, जरा और साफ कर दो—सत्य-आग्रह-सत्याग्रह !

सत्याग्रह ! सत्याग्रह ! अफ्रीका के भारतीयो ने आवाज वुलद की—

एक—हम पोल टैक्स नही देंगे !

सब (मिलकर)—पोल टैक्स नहीं देंगे !
पोल टैक्स नहीं देंगे !

एक—हम बस्ती के घेरे में नहीं रहेंगे !

सब (मिलकर)—घेरे में नहीं रहेंगे !
घेरे मे नही रहेंगे !

एक—हम उँगलियों की छाप नहीं देंगे !

सब (मिलकर)—उँगलियों की छाप नहीं देंगे !
उँगलियों की छाप नहीं देंगे !

(पहला प्रवक्ता)

अहा ! अफ्रीका-प्रवासी भारतीयों में कैसा उत्साह है ! चारों ओर हलचल है। सबके हृदयों में अपने अधिकारों के लिए, अत्याचार के खिलाफ खड़े होने के लिए, उमंग का सागर लहरा रहा है। वे एक बड़ी सभा में एकत्र होते हैं। वह देखिये, उनके बीच में वह कौन बोल रहा है—

(सत्याग्रही गांधी का स्वर)

भाइयो, आज मेरा दिल भरा आ रहा है। आप लोगों में यह अपूर्व उत्साह देखकर मैं फूला नहीं समाता। आप सब सत्याग्रह करने को तैयार हैं। लेकिन याद रखिये, सत्याग्रह का रास्ता सुगम नहीं है। यह तो तलवार की धार पर चलना है। आपको जेल में जाना होगा। आपकी जायदादें जब्त की जा सकती हैं। आप पर लाठियां पड़ सकती हैं, आप पर गोलियां बरस सकती हैं। हां, हां, सत्याग्रह का रास्ता फूल से बिछा नहीं होता। यह तलवार की धार पर चलना है। इसलिए वे ही लोग अपने नाम लिखावें, जिनका हृदय मजबूत हो। जो सारी तकलीफें हँस-हँस कर झेल सकते हैं ! जो कमजोर हैं, वे अलग ही रहें। महात्मा [illegible] ने कहा है, जो प्रतीक्षा करते हैं, वे भी सेवा करते हैं। आप अलग रह कर भी हमारी मदद कर सकते हैं। उनके भी मौके आयेंगे। अब वे लोग जो सत्याग्रह-सेना में नाम लिखाना चाहते हैं, वे नाम लिखावें। फिर कहता हूँ, सोच-समझ कर ही आप नाम लिखावें, खूब सोच-समझ कर—

(चारो ओर से आवाजे आती है)

मेरा नाम लिखिये !

मेरा नाम लिखिये !

मेरा नाम लिखिये !

(दूसरा प्रवक्ता)

देखिये, यह आपके सामने सत्याग्रहियो की सेना खडी है ! न अस्त्र, न शस्त्र ! न जिरह, न वख्तर। यह मारनेवालो की नही, मरनेवालो की सेना है।

इसमे हिन्दू है, मुसलमान हैं, पारसी है, ईसाई है। इसमे गुजराती है, मद्रासी है, अवधी है, विहारी है। इसमे स्त्री है, पुरुष है, बूढे है, वच्चे है ! हाँ, कुछ उदार हृदय गोरे भी तो है इस सेना मे !

यह सत्याग्रह की महिमा है ! सत्याग्रह सब भेदभाव को मिटा देता है। वह सभी मनुष्यो को भाई-भाई के रूप मे परिणत कर देता है।

वह देखिये, वह सेना वढी——

(नारे लगाते है)

पोल टैक्स . नही देगे, नही देगे !

घेरे के अन्दर. नही रहेगे, नही रहेगे !

उँगलियो की छाप नही देगे, नही देगे !

(पहला प्रवक्ता)

सत्याग्रह का श्रीगणेश होता है। अफ्रीका का जर्रा-जर्रा हिल रहा है। वहाँ की गोरी सरकार दमन की चक्की चलाती है। गिरफ्तारियाँ शुरू होती है। अफ्रीका के जेल सत्याग्रहियो से—पुरुष, स्त्री और वच्चो से भर जाते है।

जेल मे तरह-तरह की तकलीफे है—किन्तु सत्याग्रही कितने मगन है।

(दो सत्याग्रहियो मे वार्त्तालाप हो रहा है)—

क—क्यो भाई, कैसे कट रही है !

ख—वडे मजे मे भाई !

क—मकई की लपसी कैसी लग रही है !

ख—अरे, इसमें इतना स्वाद कहाँ से आ गया भाई !

क—ओहो, उधर देखो, वह देखो, वह कौन आ रहा है?

ख—वह तो गाँधी-भाई मालूम पड़ते हैं!

क—उनके सर पर वह क्या है?

ख—अरे रे, यह टोकरी—उसमें क्या है भाई!

क—गाँधी-भाई, गाँधी-भाई! अरे, यह टोकरा और आप उठावें! ओह!

(दूसरा प्रवक्ता)

लेकिन गाँधी उन्हें समझाते हैं। हम सत्याग्रही हैं। हमें सब काम करना चाहिए। फिर पाखाना ढोना क्या कोई छोटा काम है? नीच काम है? बिना सफाई के हम कैसे जी सकते हैं? हम गंदा करें और दूसरे लोग ढोयें, यह क्या उचित है? नहीं भाई, नहीं। सत्याग्रही के लिए सब काम बराबर हैं!

हाँ, उन दिनों न गाँधी महात्मा बने थे, न बापू। वह सबके भाई थे—मोहनभाई, गाँधीभाई!

बार-बार जेल। जेल में भी सब प्रकार के काम करते—पाखाने की सफाई करते, पाखाने का टोकरा ढोते। अन्त में सत्याग्रह की विजय हुई। तानाशाह स्मट्स को झुकना पड़ा, झुकना पड़ा!

(पहला प्रवक्ता)

सत्य का तेल, अहिंसा की बाती—सत्याग्रह उनकी देन, उनकी शिखा! निर्धूम, निर्विकार! अमर ज्योति जलती रहे जलती रहे!

००

६

(पहला प्रवक्ता)

सत्य मिला, अहिंसा मिली, सत्याग्रह मिला! एक दिन एक अँग-रेज मित्र ने गाँधी को एक पुस्तक दी। वह पुस्तक थी रस्किन की—अनटू दि लास्ट! उस पुस्तक ने इन बातों को पुष्ट कर दिया। उसने 'सर्वोदय' दिया! अपनी "आत्मकथा' में गाँधीजी लिखते हैं—

(गांधीजी के स्वर में)

"मेरा यह विश्वास है कि जो चीजें मेरे अन्तस्तल में बसी हुई थी, उनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने इस ग्रन्थ में देखा और इस कारण उसने मुझपर अपना साम्राज्य जमा लिया।

'सर्वोदय' के सिद्धान्त को मैने इस प्रकार समझा—

(१) सबके भला मे अपना भला।

(२) वकील और नाई दोनो के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिये, क्योकि जीविका का हक दोनो को है।

(३) मजदूर और किसान का सादा जीवन ही सच्चा जीवन है।

उस पुस्तक को मैने जो एक वार पढना शुरू किया, तो खत्म किये विना नही छोडा। रात-भर नीद नही आई। सुवह होते ही मै उसके अनसार अपना जीवन विताने की चिन्ता मे लगा।"

(दूसरा प्रवक्ता)

गाँधीजी शहर छोडकर देहात मे चले गये। वही एक आश्रम वना। उसका नाम रखा गया– टाल्स्टाय-आश्रम। वहाँ सव मिलकर रहते, सब सर्वोदय के नियमानुसार चलते। ऋषियो का-सा तपस्वी जीवन विताया जाता। मास तो वचपन से ही छूट गया था। नमक भी छोड दिया; दूध भी छोड़ा और अन्त मे अखड ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ले ली। घर में रहते हुए भी पूरे वैरागी—

"त्याग न टिके रे वैराग विना!"

(पहला प्रवक्ता)

सत्य का तेल, अहिसा की वाती, सत्याग्रह उसकी शिखा और सर्वोदय उसका प्रकाश! अफ्रीका की काली भूमि जगमग कर उठी! अव 'अमर ज्योति' अपने दिव्य प्रकाश से अपनी पवित्र मातृभूमि को जगमग करने के लिए अपने देश की ओर चली! अमर ज्योति की जय!!

००

पधारे आज चम्पारण में मोहन दास गाँधीजी !
मदनमोहन, तिलक, लाला, बनर्जी, शास्त्री, आइय्यार
सबो की शान से बढ़कर है तेरी शान गांधीजी !

हाँ, शान लम्बी धुआँधार वक्तृता या सजधज की पोशाक में नहीं ! शान वह जिसके सामने दुश्मन भी झुक जाय ! चम्पारण के नीलहे साहब झुके, बिहार की गोरी नौकरशाही झुकी ! नीलहे साहबों के अत्याचार समाप्त हुए ! चम्पारण के गाँव-गाँव में जयजयकार होने लगा—

बोलो—कर्मवीर गाँधीकी—जय !

बोलो—मोहनदास गाँधीकी—जय !

(पहला प्रवक्ता)

अमर ज्योति का पहला प्रकाश उसके अपने देश ने पहली बार देखा—सब आँखें मलने लगे, सबने इस प्रकाश को आनेवाले दिन की सूचना के रूप में स्वागत किया ! भारत के किसानों के चेहरों पर एक नई आशा की छटा छहराने लगी ! अब उनके दिन फिरेंगे, यह विश्वास उनकी आँखों में जगमगा उठा।

००

८

(पहला प्रवक्ता)

किसान और मजदूर—राष्ट्र शरीर की ये दो भुजायें ! चम्पारण में किसानों ने राह पाई और अहमदाबाद में मजदूरों ने।

अहमदाबाद—गुजरात का सबसे बड़ा व्यापारकेन्द्र, उद्योगकेन्द्र ! स्वदेशी की भावना ने कपड़े के उद्योग में सबसे बड़ी प्रगति दी। अहमदाबाद कपड़े का प्रमुख उद्योग केन्द्र बना। वहाँ के पूँजीपति मालामाल बनने लगे। किन्तु बेचारे मजदूर ! वे पिसते रहे, कराहते रहे। उनकी सहायता में बढ़ी, वहाँ के पूँजीपतियों के नेता की बहन।

गाँधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—

(गांधीजी का स्वर)

मेरी स्थिति बहुत नाजुक थी। मजदूरों का पक्ष मुझे मजबूत जान पड़ा। श्री अनुसूइया बहन को अपने सगे भाई से लड़ना था। मिलमालिकों से मेरा सम्बन्ध भी प्रेम का था। उनके साथ लड़ना टेढ़ा काम था। उनके साथ बातचीत करके

मजदूरों की मांग के बारे में पंच चुनने की प्रार्थना की। पर मालिकों ने पंच के निर्णय करने का औचित्य स्वीकार नहीं किया। मजदूरों को मैंने हडताल की सलाह दी!

(दूसरा प्रवक्ता)

हडताल—मजदूरों का अन्तिम अस्त्र, अमोघ अस्त्र। किन्तु यह अस्त्र जो सावधानी से प्रयोग नहीं किये जाने पर, प्रहारक के ही सिर से आ टकराता है उसे चूर-चूर कर डालता है। फिर इस अमर-ज्योति के साथ सत्य और अहिंसा की मर्यादा भी तो थी। मजदूरों को आज्ञा हुई—हडताल करो! किन्तु यह मर्यादा रख दी गई—

(गांधीजी का स्वर)

१ किसी भी दशा में शान्ति का भंग नहीं करना।
२ जो काम पर जाना चाहे, उस पर जबर्दस्ती नहीं करना।
३ मजदूर भीख पर न जीयें।
४ हडताल जितने दिन चले वे दृढ रहें और अपने पास पैसा नहीं रहे तो दूसरी मजदूरी करके खाने भर कमा लें।

(दूसरा प्रवक्ता)

हडताल इक्कीस दिन चली। पूँजीपति टस-से-मस नहीं हुए। इधर मजदूरों का धीरज टूटने लगा। काम नहीं, पैसे नहीं। भूखों मरने की नौबत! तुम भूखों मरो और मैं खाऊँ! एक नया नेतृत्व—जब तक तुम्हारा मामला सुलझ नहीं जाता, मेरा भी उपवास रहेगा!

गाँधी का उपवास! सारा अहमदाबाद डोल उठा। पूँजीपतियों ने पंचायत मान ली। मजदूरों की विजय हुई! अहमदाबाद में मजदूर-संगठन की वह दृढ नींव पड़ी, जो भारत में एक दिन अनन्य सिद्ध हुई!

(पहला प्रवक्ता)

सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, सर्वोदय—सबकी एक झलक पेश की अमरज्योति ने अपनी जन्मभूमि के प्रान्त में! मजदूरों ने एक नया नेतृत्व पाया—वह नेतृत्व जो अनुयायियों के पहले अपने को ही मृत्यु के मुख में झोंकने को तत्पर हो! जहाँ आत्मबलिदान, वहाँ विजय क्यों न मिले!

६

(पहला प्रवक्ता)

जिस समय कर्मवीर गाँधी चम्पारण के किसानो का, अहमदावाद के मजदूरो का, उद्धार करने मे लगे थे, इतिहास-प्रसिद्ध प्रथम विश्व-युद्ध चल रहा था। जर्मनी की सेना मित्रराष्ट्रो को तवाह किये हुई थी। इस विश्वयुद्ध मे मित्रराष्ट्रो की विजय के लिए आवश्यक था, भारत से उन्हे धन-जन की अपार सहायता मिले।

अँगरेजो ने घोषणा की, हमारी मदद करो। युद्ध के वाद हम तुम्हे स्वराज्य देंगे।

कुछ नेताओ ने कहा, यह अँगरेजो का मायाजाल है, हम इसमे नही फँसेगे।

(दूसरा प्रवक्ता)

किन्तु, सत्य के उपासक गाँधीजी उनके कथन को झूठ कैसे मान लेते। उन्होने कहा—वे सकट में है, उनकी मदद करो। कर्मवीर कह कर ही नही रह जाता, उन्होने घूमघूम कर अँगरेजी सेना के लिए रगरूट भर्ती करना शुरू किया। इसी सिलसिले में उन्होंने अपने ऊपर ऐसा संकट मोल लिया कि मरते-मरते वचे।

मित्रराष्ट्रो की विजय हुई, जर्मनी हार गई। किन्तु भारत को उपहार मिला स्वराज्य के वदले रौलट ऐक्ट। न वकील, न दलील, न अपील। जिसे जव चाहो, जेल मे वद कर दो।

फिर पजाव-हत्या-काड।

(गोली की वौछार)

धायँ! धायँ! धायँ!
धायँ! धायँ! धायँ!
धायँ! धायँ! धायँ!

(घायलो की पुकार)

आह! आह! आह!
हाय! हाय! हाय!
ओह! ओह! ओह!

परिणत हुआ। साबरमती नदी के किनारे पर आधुनिक ऋषि ने एक नई दुनिया बना दी। उसके तट से उठा स्वर-गुंजार देश के कोने-कोने को गुंजायमान करने लगा—

वैष्णव जन तो तेने कहीये जो पीड पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोकमा सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धनधन जननी तेनी रे।
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन न झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहि जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमा रे।
रामनामाशु ताली लागी, सकल तीरथ तेना मनमा रे।
वणलोभी के कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे।
भणे नरसैयो तेनु दरसन करतॉ कुल एकतेर तार्यॉ रे।

(दूसरा प्रवक्ता)

प्रेम की, त्याग की, शान्ति की इस झकार के बीच रचनात्मक कार्यो की एक लम्बी साधना। चरखा उसका केन्द्रबिन्दु। किन्तु देश को तो अभी बहुत-से पाप धोने थे। हिन्दू और मुसलमानो के बीच भयानक विग्रह प्रारम्भ हुआ। जगह-जगह दगे—मारकाट।

गाँधीजी ने फिर जान की बाजी लगाई—इक्कीस दिनो का अनशन। सारा देश कॉप उठा। सब धर्मो के नेताओ ने प्रतिज्ञा ली, हम इसे रोकेगे। वह रुका भी। किन्तु, कब तक।

जबतक अँगरेजी राज्य है, तब तक हममे फूट रहेगी ही—हमे इस अभिशाप को दूर करना ही चाहिये।

(पहला प्रवक्ता)

स्वराज्य की लडाई एक मुट्ठी नमक से। लोगो को आश्चर्य। किन्तु सबको उस जादूगर पर विश्वास है। गाँधीजी की डाडी-यात्रा। ७९ सत्याग्रहियो को लेकर वह समुद्र-किनारे नमक-कानून तोडने पॉव-पियादे चले। चलते समय प्रतिज्ञा की—या तो मै स्वराज्य प्राप्त करके लौटूँगा, या मेरी लाश समुद्र मे उतराती नज़र आयगी।

देखिये, वह अनोखी टोली, किस वेग से बढ रही है। गर्मी के दिन, धूप, धूल। गाँधीजी के सिर पर गीली अँगोछी, हाथ मे एक लकुटी। हरएक की जिह्वा पर एक ही रट——

विदेशी कपडे को जला दो, खादी पहनो, चरखा चलाओ! नशा छोडो–शराव शैतान की बोतल है, उसे फोडो! छूआछूत—ओहो! आदमी आदमी को अछूत समझे? इस पाप को धोओ! स्वराज्य चाहते हो, तो हिन्दू-मुसलमान एक हो! कवि की वाणी फूटी—

मन्दिर मे हो चाँद चमकता मस्जिद मे मुरली की तान!
मक्का हो या हो वृन्दावन आओ मिलकर हो वलिदान!

वलिदान का वह गरूर! दमन-चक्र जोरो से चलने लगा। एक-एक कर नेता पकडे जाने लगे—कार्यकर्त्ताओ से जेल पटने लगे। अली-वँधु, शंकराचार्य, देशवन्धु दास, मोतीलाल नेहरू, लाजपतराय—सव-के-सब जेल मे। गाँधीजी वारडोली मे सत्याग्रह करने की तैयारी मे लगे। दूसरे कवि की वाणी फूटी—

ओ वारडोली! ओ वारडोली!
ओ भारत की थरमापोली!

किन्तु, वारडोली को थरमापोली वनने का सौभाग्य उस समय प्राप्त नही हो सका। चौरीचौरा-काड—उत्तेजित जनता ने हिंसा कर दी। अहिंसा के पुजारी इसे कैसे वर्दाश्त करता। सत्याग्रह स्थगित। सरकारी शेर ने झपट्टा मारा। गाँधीजी को छ वर्षो के लिए यरवडा जेल मे वद कर दिया गया।

(पहला प्रवक्ता)

अमरज्योति यरवडा-जेल की चहारदिवारियो के अन्दर वद है। किन्तु क्या प्रकाश को भी कैद रखा जा सकता है। एपेंडिसाइटिस—अमरज्योति फिर वाहर। शरीर क्षीण। किन्तु ज्योति वही पुरानी—जगमग, झलमल!

० ०

१०

(पहला वक्ता)

वडे वेग से चलती गाडी अचानक रुक गई—एक जबर्दस्त धक्का! कुछ लोगो ने वैधानिक राह पकडी—कौसिलो, असेम्बलियो, बोर्डों की कुर्सियाँ गरम होने लगी। कुछ लोगो ने बम-पिस्तौल पकडे—बम, धडाके! किन्तु गाँधीजी सावरमती-आश्रम मे अपना चरखा-चक्र चलाते रहे!

अफ्रीका का टाल्स्टाय आश्रम, भारत मे सत्याग्रह-आश्रम मे

देखिये, छात्र मोनिम्नी का रस पी रहे हैं और कवीन्द्र के मुँह से रस का यह सोता उमड रहा है—

अन्तर मम विकसित कर अन्तरतर हे।
निर्मल कर, उज्वल कर, सुन्दर कर हे।
जाग्रत कर, उद्यत कर, निर्भय कर हे।
मगल कर, निरलस कर, नि शसय कर हे।
अन्तर मम विकसित कर हे।

(पहला प्रवक्ता)

क्या कवीन्द्र की यह वाणी अमर ज्योति की ही वन्दना नही थी? निर्मल, उज्वल, सुन्दर अमरज्योति जलती रहे, वलती रहे, हमे जाग्रत और उद्यत करती रहे।

० ०

११

(पहला प्रवक्ता)

वापू का यरवडा-चक्र फिर चल रहा है। किन्तु, अब सावरमती के किनारे नही, सेवाग्राम मे। छोटा-सा गाँव—सेगाँव। ऋषि को पाकर वह सेवाग्राम वन गया। वडे-वडे लोग वहाँ तीर्थ करने जाते है।

और ससार का चक्र भी अनवरत चल रहा है। जो जेलो मे पडे थे, वे सिहासनो पर आसीन हैं—भारत के आठ प्रान्तो पर बापू के सपूतो का राज्य है।

कि दूसरा महायुद्ध।

फिर अँगरेजो की माँग—हमे सहायता दो। सहायता देगे, किन्तु पहले हमे स्वतत्र करो। स्वय पराधीन, दूसरो की स्वाधीनता के लिए क्या लडेगा?

नही, अभी नही।

चेलो से—सिंहासन छोडो, वाहर आओ, जेल जाओ।
अँगरेजो से—भारत छोडो।

(नारे)

अँगरेजो—भारत छोड़ो।
अँगरेजो—भारत छोडो।

रघुपति राघव राजा राम !
पतित पावन सीता राम !
सीता राम जय सीता राम !
पतित पावन सीता राम !

(दो सत्याग्रही बातें कर रहे हैं)

एक—देखा है, बापू के तलवों में कैसे छाले निकल आये हैं !

दूसरा—देखा ही नहीं, उन्हें अपने हाथों धोया है। छाले फूट गये हैं। उनमें कंकड़ों ने खराब कर दिया है। छालों से पीब-पानी की जगह अब खून बहा करता है।

पहला—धरती-माता ! इतना पवित्र रक्त तुम पर शायद ही कभी गिरा हो !

दूसरा—उफ, यह बुढ़ापा। यह गरमी ! तो भी इस तरह दनादन बढ़ते हैं कि हमलोगों के लिए उनका पीछा करना भी मुश्किल पड़ जाता है ! बापू शक्तियों के असीम पुंज हैं।

पहला—भारत माता ! बापू ने तुझे स्वतंत्र करने के लिए ही अवतार लिया है। धन्य बापू, धन्य !

(दूसरा प्रवक्ता)

गाँधीजी की यह सत्याग्रही सेना डांडी पहुँची। नमक-कानून तोड़ा गया। बापू गिरफ्तार किये गये। देश के कोने-कोने में नमक कानून की धज्जियाँ उड़ीं। दिल्ली का ही नहीं, लंदन का सिंहासन भी डोला। भारत का अधनंगा फकीर दिल्ली के ही नहीं, लंदन के राज-भवन में भी आमंत्रित किया गया !

किन्तु गाँधीजी क्या वहाँ से स्वराज्य लेकर लौटे ! फिर गिरफ्तारी। फिर यरवदा।

जले पर नमक छिड़का गया। मुसलमानों की ही तरह अछूतों के लिए अलग सीटों का, चुनाव का प्रबंध किया गया ! नहीं, यह हो नहीं सकता ! यदि यह प्रबंध नहीं बदला गया, तो मैं आमरण अनशन करके प्राण विसर्जन करूँगा।

केवल ९० पौंड का वह मानव-ढाँचा मृत्यु-शय्या पर पड़ा है ! फिर सिंहासन डोला ! अँगरेजी सरकार को फिर झुकना पड़ा ! या

यह तो कर लिया—अब मरने को तैयार हो! देखो, वह अंगरेजी फौज आ रही है! आ रही है! आ गई—

(मोटरो के भोंपू के शब्द सैनिको के पद-चाप फिर धायँ! धायँ! धायँ!)

तो भी नारे लग रहे हैं—

अँगरेजो—भारत—छोडो!

करेंगे—या—मरेंगे!

इन्कलाब जिन्दाबाद!

भारत आज़ाद!

देश मे विद्रोह का यह अभूतपूर्व दृश्य। उधर आगाखा-महल मे, जहाँ बापू कैद है —कैसा विधि-विधान—

बापू के महादेव नही रहे!

पूजनीया बा भी चल बसी!

हेराम

ॐ

दो समाधियाँ बनी है वहाँ पर!

बापू ध्यानमग्न बैठे इन दो समाधियो को देख रहे है! किन्तु देश मे तो ऐसी कितनी समाधियाँ बन चुकी है। बापू कब तक ध्यान-मग्न रह सकते थे? उनका गम्भीर निर्णय! मै इक्कीस दिन का उपवास करूँगा!

सारे देश मे हलचल! वृद्ध, जर्जर बापू क्या इतने लम्बे उपवास मे बच सकेगे?

अँगरेजी सरकार ने उनके शव को जलाने के लिए चदन की लकडियाँ भी इकट्ठी कर ली है!

(पहला प्रवक्ता)

किन्तु क्या अमरज्योति इस रूप मे बुझने आई थी? डाक्टरो की बुद्धि को चकराते हुए बापू इस अग्नि-समाधि से भी हँसते हुए बाहर आये! अमरज्योति का अमर प्रकाश फिर जगमग करने लगा! ससार चिल्ला उठा—अमरज्योति, तेरी जय हो! जय हो!

० ०

अँगरेजो—भारत छोडो !

(दूसरा प्रवक्ता)

जैसे हिमालय की बर्फीली चोटी से एकाएक ज्वालामुखी फूट पडी ! गाँधीजी ने घोषणा की, इस बार का आन्दोलन खुला विद्रोह का रूप लेगा। हमे इस अँगरेजी राज्य को खत्म कर देना है, या स्वय खत्म हो जाना है। उन्होने एक अद्भुद नारा दिया—डू और डाई—करो, या मरो !

(नारे)

करेगे—या—मरेगे !
करेगे—या—मरेगे !
करेगे—या—मरेगे !

(पहला प्रवक्ता)

खुला विद्रोह ! और लोग कर रहे है। क्या कर रहे है ?

तार काटे जा रहे है। पटरियाँ उखाडी जा रही है। पुल तोडे जा रहे है। सडके खोदी जा रही है।

थाने जलाये जा रहे है। डाकखाने जलाये जा रहे है !

अँगरेजी सरकार का कही नाम निशान नही रहे—बोलो, जवानो,—बोलो !

(नारे)

करेगे—या—मरेगे !
करेगे—या—मरेगे !
करेगे—या—मरेगे !

(हथौडो का—धम्म ! धम्म ! कुदालो को—खट ! खट !)

(नारे)

बम्बई मे आई आवाज ! इन्कलाब जिन्दाबाद !
गाँधीजी की यही पुकार ! इन्कलाब जिन्दाबाद !

अँगरेजो—भारत—छोडो !
अँगरेजो—भारत—छोडो !
इन्कलाब जिन्दाबाद !
भारत आजाद !

ईश्वर अल्ला तेरे नाम।
सबको सन्मति दे भगवान।
सीताराम। सीताराम। सीताराम। सीताराम।

१२

(पहला प्रवक्ता)

और अमरज्योति की विजय होकर रही! १५ अगस्त १९४७ अँगरेजो ने भारत छोड दिया! शताब्दियो की गुलामी छूटी—लोहे की ज़ंजीरे आपही आप टूटी!

किन्तु, गुलामी अपनी अन्तिम नरक-लीला दिखा ही गई! देश दो टुकडो मे बँटा। देश ही नही बँटा, हृदय भी बँटे!

चारो ओर दगे — मारपीट — खूनखराबी — अगलगी — नृशस काड—दानवी काड! क्या इस गृह-दाह में ही जल मरना हमारे भाग्य में बदा था?

बापू के कदम आगे बढे! नोआखाली—बिहार—दिल्ली—मैं लाहौर भी जाऊँगा—बापू ने गम्भीर घोषणा की!

बापू जहाँ-जहाँ गये, आग पर जैसे शीतल पानी पडा। लगा, अब स्थिति सुधरी, कि

"इस घर को आग लग गई घर के चिराग से!"

(दूसरा प्रवक्ता)

१९४८। जनवरी। सध्या। बापू प्रार्थना-सभा में जा रहे है। कुछ देर हो गई है। तेज़ी से बढ रहे है कि अरे, यह क्या

धायँ! धायँ! धायँ!

हेराम!

बापू नही रहे! हिमालय तिरोहित हो गया!
सारा ससार चीख उठा! सारा ससार रो उठा!

(पहला प्रवक्ता)

अमरज्योति अमरज्योति में लीन हो गई, किन्तु उसका शान्ति-दायक प्रकाश आज भी चारो ओर प्रभासित हो रहा है, उद्भासित हो रहा है—सारे ससार को प्रेरणा दे रहा है, नई चेतना दे रहा है! उसके सामने मानव-मात्र का सर अवनत हो रहा है!

(समवेत स्वर)

रघुपति राघव राजा राम!
पतित-पावन सीता राम!

गाँधी, बापू, तुम अमर हो! अपनी अमरता पर तुमने अपने पवित्र रक्त की मुहर लगा दी! कोई भी विनाशक शक्ति इस अमरता की ओर आँख उठाकर भी नही देख सकती!

इस धरा धाम पर बड़े-बड़े लोग आये—बुद्ध, ईसा, महम्मद, मार्क्स! किन्तु, तुम इन सब मे निराले थे! निराले थे तुम, और निराली थी तुम्हारी राह!

बुद्ध की करुणा, ईसा का बलिदान, महम्मद की हक-परस्ती और मार्क्स का अनुसधान—सब का समन्वय हुआ था तुम्हारे अलौकिक व्यक्तित्व मे!

वह पुश्त धन्य है, जिसने तुम्हे धरती पर चलते-फिरते देखा, आँधी उठाते और तूफान बरपा करते देखा, आँधियो और तूफानो मे भी मुस्कराते देखा और फिर एक मुस्कान-भरी चितवन मे शाति की असंख्य किरणे बिखेरते देखा।

तुम इतने बडे थे, इतने निराले थे कि हम तुम्हे समझ नही सके, समझ भी नही सकते थे!

किन्तु, तुम नही रहे—तुम्हारे चरण-चिन्ह तो हमारी आँखो के सामने अब भी चमकते नजर आ रहे है!

वे चरण-चिन्ह हमारा पथ-प्रदर्शन करेगे!

उन्हे देखते हुए हम आगे बढेंगे और ससार में एक ऐसा समाज बनायेगे, जिसमे हिंसा न हो, युद्ध न हो, जिसमे छोटे-बडे का भेद-भाव न हो, जिसमे दरिद्रता न हो, विलासिता न हो। जहां सब समान हो, सब भाई-भाई हो! जहाँ प्रेम हो, सत्य हो, शांति हो!

राष्ट्र-पिता, तुम अमर थे, अमर हो गये! हम अपराधी अनाथ बच्चो को आशीर्वाद देते जाओ कि इस पवित्र आदर्श पर हम बढते चले, बढते चले।

बापू आज चारो ओर अन्धकार है। अन्धकार है—उपनिषद के ऋषियो के शब्दो में हम तुमसे प्रार्थना कर रहे है—

तमसो मा ज्योतिर्गमय!

—०—

तथागत

[नाटक]

हाँ, दो शब्द !

अपने मूलरूप मे यह नाटक पटना-रेडियो-स्टेशन से गत बुद्ध-जयन्ती के अवसर पर चार किश्तो मे प्रसारित किया गया था।

भगवान बुद्ध का चरित महान है। फिर वह सिर्फ ऐतिहासिक व्यक्ति नही, धर्म-प्रवर्त्तक भी है। किन्तु, मैने, मुख्यतः, उनके चरित-भाग से ही अपने को सम्वद्ध रखा है, जो वहुत ही उदात्त और वहुत अशो मे नाटकीय भी है।

वैभव-विलास मे डूवा हुआ एक राजकुमार ससार के दुख-दर्द से क्षुभित-पीडित होकर घर छोडता है, घोर तपस्या करता है, निराशाओ पर निराशाये पाता है, अन्त मे ज्ञान की किरणे उसे प्राप्त होती है और फिर उसके प्रचार-प्रसार मे वह लग जाता है। वहाँ भी तरह-तरह के विघ्न, उत्पीडन, लाछन! किन्तु अन्त में सत्य की विजय होती है। आज भी ससार मे वुद्ध के अनुयायियो की सख्या असख्य है।

जव मै 'तथागत' लिख रहा था, मालूम होता था, महात्मा गाँधी के चरित के प्रभावमडल के वीच से मै गुजर रहा होऊँ! एक विदेशी लेखक ने कहा भी था कि वुद्ध के वाद वापू का ही व्यक्तित्व उतना महान है।

पात्र-पात्रियाँ

पात्रियाँ

माया	बुद्ध की माता
यशोधरा	बुद्ध की पत्नी
प्रजावती	बुद्ध की सौतेली माँ और मौसी
सुजाता	उरुवेला की एक महिला
पूर्णा	सुजाता की दासी
गौतमी	राजगृह की एक वृद्धा
माणविका	श्रावस्ती की एक स्त्री
अम्बपाली	वैशाली की राजनर्तकी

नागरिका, परिचारिका आदि

पात्र

शुद्धोदन	बुद्ध के पिता
सिद्धार्थ=बुद्ध	नाटक के नायक
राहुल	बुद्ध का पुत्र
कौंडिन्य	ज्योतिषी
उदय	बुद्ध का सखा
आनन्द	बुद्ध के प्रधान शिष्य
देवदत्त	बुद्ध का प्रतिस्पर्द्धी चचेरा भाई
छंदक	बुद्ध का सारथी
बिम्बसार	राजगृह का सम्राट्
अजातशत्रु	बिम्बसार का बेटा
भद्रजित	बुद्ध का तपस्वी साथी
यश	वाराणसी का श्रेष्ठिपुत्र

सचिव, नागरिक, पुरोहित, गरेडिया, भिक्षुक आदि

ऐसे महापुरुष पर नाटक लिखना कितना कठिन है, इसे पद-पद पर मैं अनुभव करता रहा। इसके लिए मुख्यतः बौद्ध-ग्रन्थो का छोर पकड़कर ही मुझे बढ़ना था और अपनी कल्पना पर तो हमेशा अकुश रखना था ही। मेरी लेखनी अन्य नाटको की तरह यहाँ स्वतत्र न थी। लेकिन इसका आधार ही इतना महान है कि मित्रो का कहना है, नाट्यकला इसमे परिपुष्ट हुई है!

मैं अपना यह 'तथागत' मुख्यत देश के किशोरो और नवयुवको के हाथो में इस आशा से अर्पित करता हूँ कि वे इससे प्रेरणा पाकर सत्य के अनुसंधान की ओर प्रवृत्त हो, उसके लिए कष्ट उठाना सीखें और सारी विघ्नबाधाओ के बीच भी अपनी मशाल लेकर बढते हुए विजय प्राप्त करें। यह नाटक मुख्यत उन्ही के लिए लिखा भी गया है।

पटना

दीपावली, १९४८ श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

पात्र-पात्रियाँ

पात्रियाँ

माया	:	बुद्ध की माता
यशोधरा	:	बुद्ध की पत्नी
प्रजावती		बुद्ध की सौतेली माँ और मौसी
सुजाता		उरुबेला की एक महिला
पूर्णा	:	सुजाता की दासी
गौतमी	:	राजगृह की एक वृद्धा
माणविका		श्रावस्ती की एक स्त्री
अम्बपाली	·	वैशाली की राजनर्तकी

नागरिका, परिचारिका आदि

पात्र

शुद्धोदन		बुद्ध के पिता
सिद्धार्थ=बुद्ध		नाटक के नायक
राहुल		बुद्ध का पुत्र
कौंडिन्य	·	ज्योतिषी
उदय	·	बुद्ध का सखा
आनन्द	·	बुद्ध के प्रधान शिष्य
देवदत्त		बुद्ध का प्रतिस्पर्द्धी चचेरा भाई
छंदक		बुद्ध का सारथी
बिम्बसार		राजगृह का सम्राट्
अजातशत्रु		बिम्बसार का बेटा
भद्रजित	.	बुद्ध का तपस्वी साथी
यश		वाराणसी का श्रेष्ठिपुत्र

सचिव, नागरिक, पुरोहित, गरेड़िया, भिक्षुक आदि

तथागत

अन्तिम शृंगार

१

[जन्म :: लुम्बिनी वन]

माया—कितना सुन्दर लग रहा है, आर्य!

शुद्धोदन—हाँ, वहुत ही सुन्दर! ये पेड, ये लतायें, ये पौधे, ये मंजरियाँ, ये कलियाँ, ये फूल—सुन्दर, अतिसुन्दर माया!

माया—इच्छा होती है, कुछ दिन यही रहूँ आर्य! नगर देखते-देखते आँखे ऊव उठी है।

शुद्धोदन—और, यहाँ अपने से कुछ समता भी तो पा रही हो प्रिये! अपनी मजरियो के वोझ से आप ही व्याकुल ये पेड, अपनी कलियो की दवाव से आप ही काँपती ये लताये, अपने फूलो की शोभा मे आप ही गुम हुए-से ये पौधे—तुम्हारा भी तो कुछ ऐसा ही हाल है माया!

माया—लज्जित न कीजिये आर्य! कितने दिनो के वाद ..

शुद्धोदन—हाँ, कितने दिनो के वाद भगवान ने हमे यह दिन दिखलाया है। मै समझता था, सारा जनपद समझता था कि शाक्य-वश का सूर्य शायद सदा के लिए अस्त होने जा रहा है, कि अचानक ...

माया—अभी वह रात नहीं भूली है आर्य, जब मैंने वह स्वप्न देखा। वह स्वप्न! कैसा सुन्दर था हाथी का वह बच्चा—उजला रंग, जैसे अभी दूध में नहाकर आया हो। छोटी-सी सूंड को उछालता, डुलमुल चलता, वह मेरी ओर बढ़ा आ रहा था। इच्छा होती थी, वह निकट आये और उसे गोद मे ले लूं. .

शुद्धोदन—कि तुमने पाया, तुम्हारे शरीर में वह जैसे विलीन-सा हो गया। इसके क्या मानी, समझीं?

माया—ओह, मुझे लज्जित न किया कीजिये, नाथ!

शुद्धोदन—यह लज्जित होने का नहीं; आनन्दित, उच्छ्वसित होने का प्रसंग है, प्रिये! इसका मानी है, भगवान हमें एक प्रतापी पुत्र देंगे।

माया—(प्रसंग बदलने के लिए) आर्य, सामने का वह पेड़ कितना घना है।

शुद्धोदन—बहुत ही घना, मानो हरा वितान तना हो।

माया—और ये मंजरियाँ उसकी झालरें हैं! जरा हम निकट से क्यों न देखें आर्य!

शुद्धोदन—अवश्य देखें, चलो! (दोनों पेड़ के निकट जाते हैं)

माया—अहा! मंजरियों के ये गुच्छे! इच्छा होती है, मंजरियों के इन गुच्छों को गले से लगा लूं। (वह उचक कर पकड़ना चाहती है)

शुद्धोदन—अरे, उचको मत माया! प्रिये, तुम भावावेश में अपने शरीर की अवस्था भी भूल जाती हो!

माया—(हाँफती हुई) गलती हुई आर्य! किन्तु कितनी अच्छी लगती है मंजरियों से भरी ये डालियाँ!

शुद्धोदन—डालियों की शोभा तब, जब वे मंजरियों से लदी हों, नारियों की शोभा तब, जब वे ....

माया—आर्य, आर्य! मुझे बार-बार क्यों लज्जित किया करते हैं! अहा, मैं इन डालियों को छू सकती?

शुद्धोदन—क्यों नहीं, मैं अभी झुकाये देता हूँ! (एक डाली की फुनगी पकड़कर झुका रहे हैं, माया भावातुरता में उचक कर डाली पकड़ना चाहती है) अरे, यह क्या? जल्दी न करो माया! उचकने की आवश्यकता नहीं। बौरी हुई डाली है, इसलिए धीरे-धीरे नीचा कर रहा हूँ इसे।

माया—कितनी सुन्दर लग रही है यह आर्य! (डाली नीचे आती-जाती है, वह उचककर पकड लेती है, फिर दबी हुई आवाज से कराह उठती है) आह!

शुद्धोदन—अरे, यह क्या? (डाली छोडकर माया को पकडते हुए) तुम्हे क्या हुआ जो यो कराह उठी माया!

माया—आह! नाथ! आह! (शुद्धोदन के बदन से लिपट जाती है)

शुद्धोदन—माया, माया! तुम्हे यह क्या हो गया माया! परि-चारिके, परिचारिके, शिविका! कोई है, जल्द शिविका लाओ! शिविर मे चलो माया!

माया—जा नही सकती नाथ, जा नही सकती! ओह!

शुद्धोदन—माया!

माया—नाथ! नाथ! आह!

शुद्धोदन—तुम्हे यह यह क्या हो रहा है माया! कैसा जी है? वताओ—वताओ!

माया—उफ, मै वैठ नही सकती चल नही सकती. मै हिल भी नही सकती ओह

शुद्धोदन—(समवेत दास-दासियो से) तुम लोग क्या मुँह देख रहे हो? चारो ओर से कनाते खडी कराओ—धाइयो को बुलाओ। जल्दी करो, जल्दी!

माया—आह, ओह!

(थोडी देर मे नेपथ्य से मगल-वधैया)

२

[भविष्यवाणी : : कपिलवस्तु का राजप्रासाद]

कौंडिन्य—जय हो महाराज की!

शुद्धोदन—शतश प्रणाम महर्षि! आसन ग्रहण कीजिये। वच्चे की कुडली देख ली?

कौंडिन्य—देख ली! यो तो कुडली के पहले वच्चे की आकृति

ही सब बता चुकी थी, महाराज!

सचिव—महर्षि कौंडिन्य ठीक कह रहे हैं। इतना सुन्दर शिशु बढ़ने पर प्रतापी हुए बिना नहीं रह सकता।

कौंडिन्य—महाराज! शिशु का चौड़ा ललाट, नयन भवें, लम्बी पपनियाँ और स्थिर पुतलियाँ डंका पीट-पीट कर कहती हैं—यह बच्चा साधारण बच्चा नहीं। फिर उसकी हथेलियाँ और उंगलियाँ रेखा-जालों से आवृत हैं और पैरों में चक्र के चिह्न हैं।

सचिव—मैंने भी इनपर ध्यान दिया है, ऋषिवर!

कौंडिन्य—इन लक्षणों को कुंडली से मिलाकर देखिये, तो बातें और स्पष्ट हो जायँ।

शुद्धोदन—हमें शीघ्र बताया जाय महर्षि!

कौंडिन्य—इस शिशु के भाग्य में चक्रवर्ती होना लिखा है।

शुद्धोदन—यह चक्रवर्ती होगा?

कौंडिन्य—उससे भी बड़ा! भरत-खंड और जम्बूद्वीप पर ही नहीं, विश्व के कोने-कोने में इसका आधिपत्य फैलेगा।

शुद्धोदन—आह, आज माया न रही! अपने बच्चे की यह भविष्यवाणी सुनकर आज उसे कितनी प्रसन्नता होती!

कौंडिन्य—और भी सुनिये महाराज! कोई शत्रु इसके सामने टिक नहीं सकेगा। जो कोई भी इसके सामने आयगा, उसका सिर झुककर रहेगा। बड़े-बड़े सम्राटों के मुकुट इसके चरणों की धूल चाटेंगे!

सचिव—चरणों की धूल! ऋषिवर, आप कहने में गलती कर गये हैं। राजपुत्र के पैरों में धूल क्यों आये? पादुका या चरणाग्र कहिये।

कौंडिन्य—मैं ज्योतिष की गणना की बात कह रहा हूँ, गल्प नहीं कर रहा, सचिववर! (शुद्धोदन से) हाँ बड़े-बड़े सम्राटों के मुकुट इसके चरणों की धूल चाटेंगे और इसके पास ऐसी और इतनी बड़ी सेना होगी, जिस तरह की और जितनी बड़ी सेना संसार में कभी नहीं देखी गई।

सचिव—जितनी बड़ी तो समझा, पर कैसी न समझ सका, ऋषिवर।

कौंडिन्य—अर्थ लगाना आपका काम है! मैं लिखनेवाला नही, पढनेवाला हूँ। जो लिखा है, मैं पढ रहा हूँ, आप अर्थ लगाते जाइये। (शुद्धोदन से) तो महाराज, इसकी यह अपूर्व सेना जहाँ जायगी, विजय-ही-विजय प्राप्त करेगी। दसो दिशाओ मे अपनी विजय-वैजयन्ती फहरानेवाला आपका यह प्रतापी पुत्र दीर्घायु प्राप्त करेगा और अन्तत जिस परिस्थिति मे उत्पन्न हुआ है, उसी परिस्थिति मे, उसी प्रकार, सुख से स्वर्गारोहण करेगा।

सचिव—जिस परिस्थिति मे उत्पन्न हुआ उसी परिस्थिति मे, सुख से . ?

कौंडिन्य—हाँ-हाँ, सचिव! कुडली मे यही लिखा है। जिस परिस्थिति मे, जिस प्रकार सुख से उत्पन्न हुआ, उसी तरह की परिस्थति मे, उसी प्रकार सुख से स्वर्गारोहण करेगा।

सचिव—आप कुछ अद्भुत भविष्यवाणी कर रहे है ऋषिवर।

कौंडिन्य—कह दिया, मै भविष्यवाणी नही कर रहा, जो कुडली कहती है, मै दुहरा भर रहा हूँ।

सचिव—लक्षण विचित्र है!

कौंडिन्य—हाँ, लक्षण विचित्र है। यह चक्रवर्ती सम्राट् पर भी लागू है और . .

शुद्धोदन—
सचिव— } और . . . .

कौंडिन्य—इतना अधीर हो रहे है आपलोग! तो सुनिये—यह बच्चा प्रतापी सम्राट् होगा या विश्व-विश्रुत धर्म-प्रवर्तक!

शुद्धोदन—धर्म-प्रवर्त्तक ?

सचिव—तपस्वी, भिक्षु!

(प्रजावती का प्रवेश)

प्रजावती—महर्षि, महर्षि! यह क्या कह रहे है आप? माया का पुत्र और भिक्षु! माया प्रसूतिगृह में ही चल बसी, क्या मुझे

कौंडिन्य—(हँसते हुए) रानी प्रजावती, मायारानी अकेली गईं, किन्तु आप अकेली नही जायँगी, एक पूरा महिला-समाज आपका अनुसरण करेगा। अच्छा, मैं चला महाराज!

शुद्धोदन—यह आप क्या कहे जा रहे है!

कौंडिन्य—जो लिखा हुआ है, वही। नमस्कार सचिववर!

३

[प्रथम आखेट कपिलवस्तु के निकट की वनस्थली]

उदय—मारिये तीर कुमार, वह. .....

सिद्धार्थ—वह ? किधर उदयी !

उदय—वह देखिये, वह एक मृग-छौना खडा है !

सिद्धार्थ—कितनी बडी-बडी उसकी आँखे है उदयी ! इतनी सुन्दर आँखे आदमी को क्यो नही दी गई ?

उदय—भाग जायगा कुमार, भाग ! जल्दी निशाना लीजिये।

सिद्धार्थ—निशाना ? इसपर तीर ? उदयी, इच्छा होती है, दौडकर इसके गले से लिपट जाऊँ और इसकी आँखे चूमूँ—इसकी सुन्दर आँखे, मासूम आँखे, डरी हुई आँखे ! हाँ-हाँ, इसकी आँखो में कितना डर है, उदयी ! आदमी से ये इतना डरते है क्यो भला ?

उदय—और लीजिये, वह भाग गया।

सिद्धार्थ—उफ, भाग गया ! थोडी देर और क्यो न ठहरा उदयी !

उदय—गया, किन्तु आपका भाग्य ! देखिये-देखिये, एक गया, दूसरा आया ! वह देखिये

सिद्धार्थ—कहाँ, ? वह ? वह कौन-सा जानवर है उदयी !

उदय— खरहे का बच्चा !

सिद्धार्थ—ओहो, कितने सुन्दर कान है इसके ! उजले-उजले ये कान उस झाडी मे भी प्रकाश फैला रहे है मानो !

उदय—यह भी भागा, नही तो मारिये !

सिद्धार्थ—थोडा और देख लेने दो भाई ! अब मै रोज शिकार को आऊँगा। कितने सुन्दर जानवर होते है जगल मे ! आदमी इन्हे क्यो नही पालता ? पाला है उसने घिनौने कुत्ते को, नोन्ची बिल्ली को ! उदयी, इन्हे पकडकर हम घर ले चले। चलो .

(आगे बढते है. खडखडाहट शशक-शावक भाग जाता है)

उदय—वह भी गया ! आपको महाराज ने फिजूल साथ मे लगाया। आपसे शिकार न होगा।

सिद्धार्थ—नही-नही, मै अब प्रतिदिन शिकार मे आऊँगा उदयी ! आऊँगा, इन खूबसूरत जानवरो को देखूँगा। किन्तु, ये हमारे निकट

क्यो नही आते ? क्यो भाग जाते है उदयी ? (एक पेड से पडुक की आवाज) और यह क्या बोल उठा उदयी ?

उदय—पडुक है। उसपर हाथ आजमाइयेगा ? तो चलिये। (कुछ आगे बढकर) देखिये उस डाल पर !

सिद्धार्थ—ओहो, एक नही, दो-दो ! उदयी खडखड मत करो, कही ये भी न उड जायँ !

उदय—उसके पहले ही तीर मारिये कुमार।

सिद्धार्थ—किस तरह एक दूसरे से सट कर बैठे है दोनो ! एक कुछ कहता है, दूसरा जवाब देता है ! क्या ये दोनो भी हमारे-तुम्हारे ऐसे दोस्त है उदयी !

उदय—मारिये राजकुमार, जल्द तीर मारिये।

सिद्धार्थ—मारूँ ? उदयी, हम-तुम मे से एक को कोई यो ही तीर मारे, तो हमे कैसा लगेगा ?

उदय—फिर वही बाते। नही-नही, आपसे शिकार न होगा !

(पीछे से आवाज 'पकडो, पकडो' !)

सिद्धार्थ—पकड़ो ! (मुड़कर) यह तो देवदत्त है। कहाँ दौडा आ रहा है ? क्या बात है ? अरे. . (एक हस सामने आ गिरता है, उसे देखकर) उदयी, उदयी ! अरे-अरे, इसे क्या हुआ है उदयी !

(हस के निकट पहुँचकर, झपटकर, उसे उठा लेते है)

देवदत्त—(निकट आकर) हस मेरा है, इसे मत छूना सिद्धार्थ।

सिद्धार्थ—तुम्हारा हस है देवदत्त ! ओह, किस दुष्ट ने इसे मार दिया ?

देवदत्त—मैने मारा है, लाओ।

सिद्धार्थ—तुमने मारा है ? अपने हस को ? अपने हस को क्या इस तरह मारा जाता है ? नही-नही, तुमन नही मारा होगा। उफ, बेचारे की गर्दन मे आ लगा है, यह तीर ! उदयी, थोडा पानी लाओ भाई, बेचारा मुँह बा रहा है।

देवदत्त—अभी मुँह बा रहा है, थोडी देर बाद मुँह मे पडेगा।

सिद्धार्थ—मुँह मे पडेगा ? तुमने अपने हस को खुद मारा और अब उसे खाने की तैयारी मे हो ? नही-नही, तब यह तुम्हारा हस नही है। हाय-हाय, कितना रक्त बहा जा रहा है इसकी गर्दन से ! उदयी, जल्द पानी लाना भाई !

देवदत्त—ज्यादा ज्ञान मत बघारो, दो मेरा हस।

सिद्धार्थ—तुम्हारा हस? यह तुम्हारा हंस हो नही सकता देवदत्त! अपने हस को यो नही मारते। देखो, कैसी दुर्गति कर दी है इसकी तुमने!

देवदत्त—तुम्हारा ही जन्म शाक्यकुल मे होना था सिद्धार्थ! 'रक्त', 'उफ,' 'हाय',—मालूम होता है, थोडी देर मे तुम रोओगे।

सिद्धार्थ—मेरा रोआँ-रोआँ तो रो रहा है देवदत्त! क्या इस बेचारे की हालत देखकर तुम्हे दया नही आती?

देवदत्त—क्षत्रिय रक्त देखकर हँसते है, रोना काम तो . .

सिद्धार्थ—क्षत्रिय निरीह प्राणी का रक्त बहाकर हँसते है? क्षत्रिय इतना निर्दय और क्रूर नही हो सकते देवदत्त!

देवदत्त—मै तुमसे बहस नही करना चाहता। निश्चय ही तुम शाक्यकुल मे कलक लगाकर रहोगे!

सिद्धार्थ—कलक और मुझ से? हाँ, निरीह प्राणियो का रक्त बहाकर शाक्यवश पर जितना कलक लगा होगा, मै उसे धोने की कोशिश अवश्य करूँगा।

देवदत्त—कह दिया, ज्ञान मत बघारो! मेरा हस दे दो।

सिद्धार्थ—मै नही देता। (उदय पानी लेकर आता है) पानी ले आये उदयी! इसकी चोच के सामने रखो। अहा, किस तरह घट-घट पी रहा है यह पानी! किन्तु, यह क्या? सारा पानी तो तीर के छेद से निकला जा रहा है। उदयी, उदयी, कोई उपाय करो भाई!

देवदत्त—दे दो मेरा हस।

सिद्धार्थ—कह दिया, यह तुम्हारा हस नही है। मै नही देता। (उदय से) उदयी, जरा इसके पख भी धो दो भाई! उफ! बेचारा खून-खून हो रहा है!

उदय—और, यह आपके सारे कपडे जो खून-खून हो रहे है!

सिद्धार्थ—इन्हे भी धोऊँगा और शाक्यकुल के कलक को भी मुझे ही धोना है उदयी!

देवदत्त—देते हो मेरा हस, या . .

सिद्धार्थ—यह हस तुम्हारा नही है, मै नही देता।

देवदत्त—नही देता! यह धौंस मत दिखलाओ कि तुम युवराज हो!

सिद्धार्थ—जिस कुल मे देवदत्त ऐसे वीर-पुगव हो, उस राजवश का युवराज होना कोई गौरव की वात नही है देवदत्त !

देवदत्त—वढकर मत वोलो। हमारा हस दे दो।

सिद्धार्थ—कह दिया, नही दूंगा।

देवदत्त—देना ही पडेगा, तुम्हे !

उदयी—आप लोग यह क्या कर रहे है ? देखिये, वह महाराज आ रहे है। (शुद्धोदन आते दिखाई पडते है)

देवदत्त—चाचाजी को आज फैसला करना पडेगा।

(शुद्धोदन—निकट आकर)

शुद्धोदन—हाँ-हाँ, फैसला करूँगा वच्चो ! लेकिन तुमलोग वार-वार यो झगड क्यो पडते हो ?

देवदत्त—चाचाजी, सिद्धार्थ मेरा हस नही देते।

शुद्धोदन—तुम तो ऐसे नही थे वेटे .....

सिद्धार्थ—यह झूठ वोल रहे है, पिताजी ! यह इनका हस नही है ! अपने हस को कोई यो मारता है ?

देवदत्त—यह शिकार है, जो मारे उसका शिकार !

सिद्धार्थ—यह जीव है, जो वचावे उसका जीव !

शुद्धोदन—ओहो, मामला तो सगीन मालूम पडता है। और मै किसके पक्ष मे फैसला दूं, वेटे के या भतीजे के ?

देवदत्त—आपको राजधर्म निभाना होगा, न्याय करना होगा, चाचाजी !

शुद्धोदन—राजधर्म ! न्याय ! तव तो सिद्धार्थ जीतेगा। मारनेवाले से वचानेवाले का अधिकार अधिक है !

४

[अन्त.पुर-विहार :: कपिलवस्तु का राजप्रासाद]

प्रजावती—कौडिन्य की वात गलत थी, मेरा सिद्धार्थ तो पूरा घरवारी हो रहा है।

शुद्धोदन—अच्छा, तो घर में पुतोहू का आना सफल हुआ !

शुद्धोदन—हाँ, सुन रहा हूँ, तृप्त हो रहा हूँ प्रज ! मैं तो हमेशा कौडिन्य के भविष्यकथन की याद से मरा जा रहा था। अव मालूम होता है जैसे डूवता प्राणी थाह मे आ गया।

(सचिव का प्रवेश)

सचिव—एक आवश्यक वात आ गई है, महाराज !

शुद्धोदन—आवश्यक वात ? क्या वात है सचिववर !

सचिव—आप भयभीत न हो महाराज ! यो ही एक छोटी, किन्तु आवश्यक वात है।

शुद्धोदन—जव से कौडिन्य कह गये, तव से भय ने मेरा पिड कभी नही छोडा।

सचिव—द्वैध भविष्यवाणियो को इतना महत्त्व देने की आवश्यकता नही महाराज !

शुद्धोदन—आह, ऐसा ही होता ! तो वताइये मन्त्रिवर !

सचिव—आज मै प्रात भ्रमण को निकला, तो पाया सिद्धार्थ कुमार की चारो ओर निन्दा हो रही है !

शुद्धोदन—सिद्धार्थ ऐसे व्यक्ति की भी निन्दा !

सचिव—यो तो कुछ लोगो का स्वभाव ही निन्दक का होता है, किन्तु जो निन्दा मैने सुनी है, उसमे तथ्य है।

शुद्धोदन—तथ्य है !

सचिव—वात यो है, सभी कह रहे है कि सिद्धार्थ कुमार अन्त पुर से निकलते ही नही, वह तो विल्कुल घर-घूसन हो रहे है। उन्हो ने युद्ध-विद्या सीखी नही। सिवा कला के अन्य ज्ञान पर कभी ध्यान नही दिया। भला, उनसे शाक्यकुल का राजधर्म कैसे निभेगा ?

प्रजावती—सचिववर, ये निन्दक हमारा घर उजाडना चाहते है। कितनी चेष्टा के वाद सिद्धार्थ ने सासारिक सुखो मे थोडी आसक्ति दिखलाई है, अव वे फिर ··

शुद्धोदन—इसमे हमे देवदत्त का हाथ मालूम पडता है प्रजे ! उसने सिद्धार्थ के विरुद्ध एक अजीव गुट वना रखा है। न जाने उसे किस वात के लिए चिढ है !

प्रजावती—यदि उसे सिंहासन पर ही वैठने की इच्छा है, तो आप उसे युवराज नियुक्त कर दीजिये महाराज ! किन्तु, हमारे वेटे को वह हमसे क्यो छीने ?

सचिव—शाक्यकुल के सिंहासन देवदत्त ऐसे व्यक्तियों के लिए नहीं है। किन्तु सिद्धार्थ कुमार को अन्तःपुर से अब बाहर निकलना चाहिये। एक बार जब मन रम गया, तो फिर दूसरी कोई आशंका व्यर्थ है, महाराज! हाथों पर का खाया कबूतर खेतों में चारा नहीं चुगता।

प्रजावती—किन्तु मेरा हृदय काँपता है। मालूम होता है, माया का यह धरोहर ज्यों ही आँगन से बाहर गया कि आँखों से हमेशा के लिए दूर हुआ। जंगली हाथी फँस गया है सचिव, किन्तु अभी वन की पुकार नहीं भूला है।

शुद्धोदन—मेरे हृदय में भी कुछ ऐसी ही आशंका है।

सचिव—किन्तु पितृ-कर्त्तव्य से भी ऊँचा राजधर्म है महाराज! सिद्धार्थ कुमार को कल से अन्तःपुर से बाहर जाना ही चाहिए।

५

[विराग की ओर : कपिलवस्तु के अंचल में]

सिद्धार्थ—रोको, रथ को तनिक रोको सारथी!

छंदक—रोक दिया कुमार!

सिद्धार्थ—बाहर की यह हवा! कितनी ठंडक, कितनी ताजगी! फिर यह दृश्यावली! मालूम होता है, मैं सत्य से दूर स्वप्न की दुनिया में जा पड़ा था · · ·और वह—अरे, वह क्या है छन्दक?

छंदक—वह!

सिद्धार्थ—हाँ हाँ, वह! वह आदमी है या भूत या छाया? बाल उजले-उजले, ललाट पर सिकुड़न, धँसी आँखें, जो भौंहों से ढँक रही हैं। गाल की जगह हड्डियों का उभाड़, नाक टेढ़ी हो गई है। मुँह में दांत नहीं। सिर किस तरह हिल रहा है उसका! अस्थि-कंकाल शरीर, झुका हुआ है लाठी पर टेक देकर, जैसे किसीने कमर ही तोड़ दी हो! क्या वह आदमी है! या भूत? या छाया?

छंदक—न वह भूत है, न छाया—वह भी आदमी है कुमार!

सिद्धार्थ—आदमी और ऐसा!

छंदक—हाँ हाँ, आदमी और ऐसा। बचपन मे इसने भी दूध पिया, फिर पृथ्वी पर पेट के वल चला, कालक्रम से सुन्दर युवक हुआ और उसी क्रम से यह वुढापे को प्राप्त हुआ है।

सिद्धार्थ—वुढापे को !

छंदक—हाँ, वुढापे को राजकुमार ! यही वुढापा है, जो रूप का हत्यारा है, वल का शत्रु है, शोक का सगा भाई है, आनन्द का काल है, जो मेवा को मीज डालता है, इन्द्रियो को कुचल डालता है, वही वुढापा कुमार !

सिद्धार्थ—क्या सवको वूढा होना पडता है छदक ?

छंदक—हाँ, सवको। यह सवपर आता है और सवके वालो से कालापन, ललाट से चमक, आँखो से ज्योति, गालो से लाली, होठो से हँसी, मुँह से दाँत और हृदय से उमग छीनकर, लूटकर ले जाता है कुमार !

सिद्धार्थ—मुझे भी वूढा होना पडेगा ?

छंदक—यह प्रजा का सौभाग्य होगा कुमार।

सिद्धार्थ—लेकिन मेरा ? नही नही, मैं वूढा होना नही चाहता ! यह सौभाग्य मैं नही लेना चाहता !

छंदक—जो जवानी लेता है, उसे वुढापा भी लेना ही होता है कुमार !

सिद्धार्थ—उफ, मेरा चित्त उद्विग्न हो रहा है छदक ! रथ को लौटाओ ! लौटाओ !

छंदक—जो आज्ञा, कुमार !

सिद्धार्थ—वुढापा ! वुढापा !! वुढापा !!!—उफ !

(पट—परिवर्तन)

सिद्धार्थ—उस रास्ते से रथ न ले जाना, जहाँ वह वूढा ·

छंदक—महाराज की भी यही आज्ञा है राजकुमार ! किन्तु उसे आप भूल जाइये !

सिद्धार्थ—वुढापा ! वुढापा !! रूप का हत्यारा, वल का शत्रु, शोक का भाई, आनन्द का काल और, अरे-अरे, वह क्या है, सारथी !

छंदक—उधर न देखिये कुमार। देखिये, इस तरफ। पछियो की एक पॉत आसमान मे किस तरह उडी जा रही है!

सिद्धार्थ—मै वच्चा नही रहा छदक, वताओ वह क्या है? उफ, इसका पेट फूला हुआ है, सॉस धौकनी-सी चल रही है, कधे और वॉहुऍ ढीली है, शरीर दुवला और पीला है। क्या यह भी आदमी है? या भूत? या छाया?

छंदक—कुमार, इतनी जिज्ञासा ठीक नही।

सिद्धार्थ—तुम्हे वताना ही होगा सारथी, वताओ।

छंदक—उफ, न जाने क्या होना वदा है। कुमार, यह भी आदमी है, यह वीमारी का शिकार

सिद्धार्थ—वीमारी। वीमारी का शिकार। क्या वह कोई हिंसक जानवर है, जो आदमी का शिकार किये फिरता है।

छंदक—कुमार, महाराज ने हमे मना कर दिया है। मुझे उलझन मे मत डालिये; कहिये, रथ आगे वढाऊँ।

सिद्धार्थ—कहने से मना कर दिया गया है तो उसकी आवश्यकता भी नही रह गई छदक। मै सव समझ गया। आदमी, आदमी। तू वुढापे का शिकार है, तू रोग का शिकार है, तो भी तू हर्ष मनाता है, सैर किया करता है? उफ, आदमी।

(पट-परिवर्तन)

सिद्धार्थ—क्या कहा, यह मुर्दा है? सव आदमी मरते है, यह भी मर गया है। तो मुझे भी मरना होगा, तुम्हे भी मरना पडेगा? और, मरना पडेगा उन सुन्दरियो को भी जो मुझे दिन-रात घेरे रहती है? मृत्यु। मृत्यु। वुढापा, वीमारी, मृत्यु। मानवता के ये ही तीन वरदान है। इन्ही वरदानो को लेकर वह हँस रहा है, खेल रहा है, मौज कर रहा है। और, मजा यह कि वह अपने को वुद्धिमान समझता है। मानव, मानव। तुम्हारे यही वरदान है— वुढापा, वीमारी, मृत्यु। वरदान। इसी वरदान की भट्ठी मे जला करो, मानव। अन्त मे तुम जलोगे, अव भी जला करो। छदक, रथ वापस ले चलो।

(पट-परिवर्तन)

सिद्धार्थ—वुढापे, वीमारी और मृत्यु के वीच यह आदमी इतना आनन्द मे कैसे विचर रहा है, सारथी!

छदक—क्योकि इसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इसने समझ लिया है कि यह ससार क्या है, इसका सार क्या है? वडी तपस्या से यह ज्ञान प्राप्त होता है कुमार।

सिद्धार्थ—तपस्या से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान प्राप्त होने पर आदमी सदा आनन्द से रहता है। वुढापे, वीमारी और मृत्यु के वीच भी आनन्द से रहता हे?

छंदक—हाँ कुमार। ऐसा ही हम देखते-सुनते आये है।

सिद्धार्थ—तो आदमी ज्ञान क्यो नही प्राप्त करता? ज्ञान के लिए तपस्या क्यो नही करता? क्यो तुच्छ भोग मे भूला रहता है, ? छदक। उफ, लौटाओ रथ

६

[अंतिम शृंगार . कपिलवस्तु के राजप्रासाद का शृंगार-कक्ष]

यशोधरा—इधर आप अजीव उदासीन रहने लगे है, आर्यपुत्र। वात क्या है?

सिद्धार्थ—उदासीन? तुमसे मै कभी उदासीन नही हो सकता, यशे।

यशोधरा—मुझसे न सही, अपने से उदासीन तो आप दीखते ही है। इधर आपने स्वर्ण-दर्पण भी नही देखा, नही तो पाते

सिद्धार्थ—रुक क्यो गई? क्या पाता मै?

यशोधरा—ये रुक्ष वाल, जहाँ काले-घुँघराले भौरो-से लट लटकते होते थे, वहाँ ये विखरे, उखडे जटा-ऐसे...

सिद्धार्थ—जटा-ऐसे? क्या मेरे ये वाल अव तपस्वियो की जटा-ऐसे लगते है यशे।

यशोधरा—हाँ, आर्यपुत्र! राजकुमार के वाल और ऐसे?

सिद्धार्थ—तपस्वियो की जटा-ऐसे? यशे, एक वार जगल की ओर चलो न।

परिचारिका—क्या कुमार अपने जन्म की तरह ही अपने पुत्र के जन्म की भी कामना करते है?

सिद्धार्थ—परिचारिके, हाँ, मै भूल गया था, ओहो .

परिचारिका—अव जिस किसी दिन भी शाक्यकुल का नया सूर्य उदय हो सकता है, राजकुमार।

यशोधरा—वाचाल मत बन परिचारिके! जा, आर्यपुत्र के लिए शृंगार-प्रसाधन का आयोजन कर। मुझसे चला-फिरा नही जाता, तो तुमलोगो ने भी आर्यपुत्र का शृंगार-प्रसाधन छोड दिया! ये बाल! क्या देवताओ को भी ऐसे बाल मिले हैं? और, ये जटा-ऐसे हो रहे हैं!

(परिचारिका जाती है)

सिद्धार्थ—जटा-ऐसे! हाँ यशोधरे, क्या जटा-ऐसे?

यशोधरा—मैं इन्हे इस तरह नही रहने दे सकती आर्यपुत्र!

सिद्धार्थ—कब तक?

यशोधरा—क्या मुझसे इतनी बडी अवज्ञा हो गई है, जो आप यों कह रहे हैं?

सिद्धार्थ—अवज्ञा और तुमसे? सिद्धार्थ ने यशोधरा को पाकर अपने को सदा धन्य समझा है, मेरी रानी!

(परिचारिका का प्रवेश)

परिचारिका—शृंगार-प्रसाधन के सारे सामान तैयार हैं, देव!

यशोधरा—तो लाती क्यो नही?

सिद्धार्थ—हाँ-हाँ, ला! (रुक कर) बहुत दिनो पर यह शृंगार हो रहा है और कौन जाने, यह कही अन्तिम शृंगार

यशोधरा—अंतिम शृंगार? फिर यह क्या बोल गये आर्यपुत्र?

सिद्धार्थ—कुछ नही! आज मेरा शृंगार करा रही हो, कौन जाने कल से फिर तुम्हे अपने शिशु से ही अवकाश न मिले!

यशोधरा—आपका बच्चा पितृ-द्रोही हो सकता है और आपकी पत्नी आपके चरणो से दूर रह सकती है—यह आप क्या सोचा करते हैं आर्यपुत्र?

सिद्धार्थ—मेरे कथन का यह तात्पर्य था? तो गलती हुई। मेरा शृंगार-प्रसाधन कराओ यशो!

(गुनगुनाती हुई परिचारिकायें शृंगार-प्रसाधन कर रही, प्रजावती का प्रवेश)

प्रजावती—ओहो, मेरा बेटा आज साक्षात् इन्द्र मालूम हो रहा है।

यशोधरा—आज आपके बेटे को देखकर इन्द्र का सिंहासन हिल रहा होगा अम्मा!

सिद्धार्थ—मै तो उसे हिलता देख रहा हूँ यशो। देखो, वह सिहासन हिला, वह अपनी जगह से हटा, वह उडा आ रहा है।

यशोधरा—अब कवि होने मे थोडी ही कसर रह गई है आर्यपुत्र को।

प्रजावती—कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू। कवि और भगवान एक होते है बेटी।

यशोधरा—तो मै अपने भगवान को प्रणाम करती हूँ। (झुकती है)

सिद्धार्थ—(इससे उदासीन) कविर्मनीषी। कवि और ऋषि।

(उदय का प्रवेश, यशोधरा चली जाती है)

उदय—ओहो, आज तो आप सचमुच कवि, ऋषि और भगवान तीनो मालूम होते हैं। यह सुन्दर रूप, यह अपूर्व श्रृगार। यह दार्शनिको का ललाट और रह-रहकर उसपर खिंच जानेवाली ये चिन्ता-रखाये। फिर चेहरे से जो अपूर्व ज्योति-मडल फूट रहा है—सचमुच, फूट रहा है—सचमुच, कविर्मनीषी परिभू स्वयभूः।

सिद्धार्थ—अरे, बताओ यह श्रृगार मेरा कैसा हो पाया है, उदयी। यशोधरा कहती थी, मेरे बाल जटा-ऐसे लगते थे। अरे, यशोधरा? चली गई क्या?

प्रजावती—वह अधिक देर खडी नही रह सकती बेटा।

सिद्धार्थ—और, मै अधिक देर बैठा नही रह सकता माँ। क्या श्रृगार पूरा हुआ है?

परिचारिका—कधे पर यह चादर डाल लेना रह गया है कुमार।

सिद्धार्थ—यह चादर। ऐसी चादर तो अपने जनपद मे नही बनती। परिचारिके, तुमने इसे कहाँ पाया है?

परिचारिका—अभी-अभी एक व्यक्ति कुमार के लिए उपहार दे गया है, जिसे महाराज ने भेजवाया है।

सिद्धार्थ—यह कहाँ की चादर हो सकती है उदयी?

उदय—मै नही जानता कुमार। शायद अम्मा जाने।

प्रजावती—अपूर्व चादर है उदयी।

सिद्धार्थ—हाँ, अपूर्व चादर। मेरा कवि कहता है, यह चादर इन्द्र ने भेजी है।

उदय—हाँ, यह इस लोक की तो नहीं ही हो सकती।

(दूसरी परिचारिका का प्रवेश)

परिचारिका—(प्रजावती से) अम्मा, आपको पौत्र हुआ है।

प्रजावती—अहा! क्या कहा?

परिचारिका—शाक्यकुल का नया सूर्य उदय हो गया! देवी यशोधरा ने पुत्र-रत्न प्राप्त किया है!

प्रजावती—मै चली बेटा, परिचारिकाओ, उत्सव मनाओ।

(प्रजावती और परिचारिकाओ का प्रस्थान)

सिद्धार्थ—उदयी!

उदय—कुमार!

सिद्धार्थ—एक नया बधन तैयार हुआ, उदयी!

उदय—यह क्या कह रहे है, कुमार!

सिद्धार्थ—हाँ, मै क्या कह गया? नही-नही, चलो, हमलोग भी उत्सव मनावे! राग-रग, धूम-धाम (भीतर से बच्चे के रोने की आवाज)

सिद्धार्थ—(धीमे से) क्रन्दन, बन्धन! बन्धन, क्रन्दन!!

७

[महानिष्क्रमण :: अनोमा नदी के तट पर]

सिद्धार्थ—राजधानी से हम कितनी दूर है, छदक!

छंदक—कुमार, हमलोग कहाँ जा रहे है?

सिद्धार्थ—कहाँ जा रहे है? यह मै भी नही जानता छदक! किन्तु कही जा रहे है, कही जा रहे है। और किनीको . किनीको छोडे आ रहे है! किसको? उफ, सब कुछ मिथ्या है—मिथ्या है छदक! सत्य है सिर्फ बुढापा, बीमारी, मृत्यु!

छदक—आह, उन्हे भूल जाइये, कुमार।

सिद्धार्थ—भूल जाऊँ? क्या यह भूलने की बात है छदक? उफ, किस तरह लार बह रही थी, किस तरह झाग गिर रहे थे! यही सौन्दर्य है? उनकी नाक से साँस निकल रही थी या नागिनी फुफकार मार रही थी। कपडे हट गये थे—पर्दे ने जिन्हे सुन्दरता दे रखा था, वे ही अग किस तरह वीभत्स लगते थे! सब मिथ्या है, [illegible] है, असुन्दर है, अशोभन है! उफ! हम राजधानी से कितनी दूर पर है छदक?

छंदक—कुमार यह सब क्या कह रहे है आप?

सिद्धार्थ—तुमने देखा नही छदक, देखा नही! जिसे तुम सौन्दर्य कहते हो, वह कैसा वीभत्स है। और सगीत!—[illegible]

थी, मृदग लुढके हुए थे, सब साज बिखरे थे। स्वर नही, झकार नही, एक शून्य, एक हाहाकार। हाँ, मौन जैसे चीख रहा हो! वहाँ मै टिक नही सकता था छदक। मै भागा—भागा . .

छदक—ओह, कुमार!

सिद्धार्थ—छदक, घबराओ मत, सब मिथ्या है। राज्य मिथ्या है, राजसिंहासन मिथ्या है, राजा मिथ्या है, प्रजा मिथ्या है। सत्य है सिर्फ—बुढापा, बीमारी, मृत्यु और परम सत्य है ज्ञान—समझे?

छंदक—उफ! उफ!

सिद्धार्थ—हाँ, अफसोस की बात है। यह दुनिया ऐसी है, जिसपर आदमी सिर्फ उफ या आह कर सकता है। इसमे क्रन्दन-क्रन्दन है, बन्धन-बन्धन है! बन्धन—माँ बन्धन, बाप बन्धन, स्त्री बन्धन, पुत्र बन्धन! पुत्र!! छदक, मैने उस नवजात शिशु को देखा है छदक। किस तरह अपनी माँ की गोद मे चिपका पडा था। माँ, यशोधरा, अपने बच्चे के सिर से होठ सटाये, एक हाथ उसपर हौले रखे, वह किस तरह सोई थी? किस तरह सोई थी, कैसी सुन्दर लग रही थी?—उफ बन्धन, बन्धन! छदक, तुम बोलते क्यो नही?

छंदक—कुछ नही समझ रहा कुमार? आप मुझे कहाँ लिये जा रहे है?

सिद्धार्थ—कहाँ लिये जा रहा हूँ? कहाँ से आ रहा हूँ? सब कुछ मिथ्या है, सब कुछ बन्धन है, सत्य है सिर्फ ज्ञान। ज्ञान मे ही आनन्द है। आनन्द की ओर जा रहा हूँ, छदक। बन्धन तोडकर, मिथ्या छोडकर, ज्ञान की ओर, आनन्द की ओर जा रहा हूँ! राजधानी से हम कितनी दूर पर है? रात कितनी बाकी है?

छंदक—कुमार, कुमार! बहुत दूर हम आ गये, अब लौटिये।

सिद्धार्थ—ज्ञान का पथिक चले हुए रास्ते से फिर नही लौटता, छदक। मै लौटूंगा, पिताजी को कह देना, मै लौटूंगा। मौसी को कह देना, मै लौटूंगा। यशोधरा को कह देना, मै लौटूंगा और छंदक, जब वह शिशु बडा हो, उसे भी कह देना—मै लौटूंगा। लौटूंगा, लेकिन इस रास्ते से नही, इस भेष मे नही। लौटूंगा, मिथ्या को दूर कर, बन्धनो को जलाकर, ज्ञान की उपलब्धि कर, आनन्द को प्राप्त कर, लौटूंगा। हाँ-हाँ, लौटूंगा, छदक! अरे, वह कलकल क्या सुन रहा हूँ?

छंदक—निकट ही अनोमा नदी है कुमार !

सिद्धार्थ--नदी है ! राम गंगा-तट तक रथ पर चढ़कर आये थे, सिद्धार्थ अनोमा-तट तक घोड़े पर आया। राम लौटे, मैं भी लौटूंगा। राम लौटे सीता लेकर; मैं लौटूंगा—ज्ञान लेकर ! राम को बाप ने भेजा, मैं बाप से भाग आया। भेद है—कोई बात पूरी तरह दुहरती नहीं है। ओहो, छंदक, वह देखो, पूरब के क्षितिज पर लालिमा छिटक रही है—ज्ञान की किरणें फूटकर रहेंगी छंदक ! छंदक, ज्ञान की किरणें फूटकर रहेंगी ! !

[पटाक्षेप]

सुजाता की खीर

१

[शोकाकुल कपिलवस्तु :: शुद्धोदन का राजप्रासाद]

शुद्धोदन—छदक, छदक ! मेरे बेटे को कहाँ छोडकर आये छदक ? ओह .

छंदक—महाराज, महाराज, मुझपर कलक मत लगाइये महाराज। मै कुमार को छोडकर नही आया, कुमार मुझे छोडकर चल दिये। मैने विनती की, प्रार्थना की, हाथ जोडे, पैर पकडे, हाँ, पैर पकडे, किन्तु

शुद्धोदन—किन्तु वह नही रुका, नही रुका ! आह, कौडिन्य की वात पूरी होकर रही !

प्रजावती—हाय, मेरा वेटा ! उफ, माया की आत्मा स्वर्ग में आठ-आठ आँसू रो रही होगी ! माया-पुत्र सिद्धार्थ और वह जगल-जगल ! ओह, छदक, तुमसे धोखा हुआ हमे ! तुम कहाँ ले गये कुमार को ? कहाँ छोड आये मेरे वेटे को ?

छदक—मै ले गया महारानी ? मै छोड आया महारानी ? जो कलक वदा था, लगा, किन्तु वात कुछ दूसरी ही है, महारानी !

प्रजावती—दूसरी वात ? क्या वात है ? तो वताते क्यो नही हो छदक !

सधान मे जा रहा हूँ और उसे पाकर लौटूंगा। इसी तरह उन्होंने · (गला रुँध जाता है, आँसू आने लगते हैं)

शुद्धोदन—रुक क्यो गये छदक ?

प्रजावती—रो क्यो पडे छदक ?

यशोधरा—मेरे लिए भी कोई सन्देश कहा, क्यो, यही बात है न छदक ?

छंदक—हाँ देवि। उन्होने कहा, यशोधरा से भी कह देना—वह घबराये नही, मै जरूर लौटूंगा और बडा होने पर उस नवजात शिशु से

यशोधरा—नवजात शिशु। आह। एक वार उसे देख भी लिये होते।

छंदक—उन्होने जाने के पहले उसे देखा था, आर्ये।

यशोधरा—(आश्चर्य मे) क्या? देखा था?

छदक—हाँ, देखा था, आप दोनो सोये थे · वह प्रसूतिगृह के द्वार तक गये। आप बच्चे को लिपटाए हुई सोई थी। उन्होने बच्चे को चूमना चाहा ·

यशोधरा—हाय, हाय।

छंदक—वह आगे बढे, झुके। फिर कुछ सोचकर लौट पडे—चल पडे। उन्होने राहुल को देखा था छोटी रानी।

शुद्धोदन—सिद्धार्थ ने राहुल को देखा है, किंतु राहुल बेचारा। आह, माया पुत्र को नही देख सकी, राहुल पिता को नही देख पाया।

यशोधरा—पिताजी, व्याकुल मत होइये। राहुल एक दिन खीच-कर फिर उन्हे कपिलवस्तु लावेगा, पिताजी। मै उन्हे अच्छी तरह पहचानती हूँ

छंदक—और इन सदेशो के साथ ये धरोहर ··

(गठरी खोलता है)

शुद्धोदन—यह मुकुट।

प्रजावती—ये वस्त्राभूषण।

यशोधरा—और ये बाल? आर्यपुत्र के ही हैं ये बाल। (उठा लेती है, चूमती है)

प्रजावती—ये बाल ? छदक !

छंदक—मुकुट और वस्त्राभूषण उतारकर मुझे देने के बाद, अपने ही हाथो, अपनी तलवार से उन्होने बालो के ये लट काटे और कहा—इन्हे भी लेते जाओ छदक, ये बाल यशोधरा के बहुत प्रिय थे....

यशोधरा—आह ! आर्यपुत्र इस दासी पर कितने दयालु रहे ! आर्यपुत्र, आर्यपुत्र ! इस धरोहर को लेकर यह दासी तुम्हारे वियोग के दिन काट लेगी, आर्यपुत्र !

शुद्धोदन—उफ........

प्रजावती—हाय ...

यशोधरा—माँ, पिताजी ! अधीर मत होइये पिताजी !

छंदक—जिसके वियोग मे पशु तक प्राणार्पण कर सकता है, उसके वियोग मे माँ-बाप.. ..

शुद्धोदन—पशु ? कथक ! कथक कहाँ है छदक !

छंदक—कथक ! उस पशु ने वह किया, जो किसी भी मानव के लिए स्पृहणीय है महाराज !

शुद्धोदन—क्या किया, क्या हुआ ?

छंदक—जब कुमार चलने लगे, कथक की आँखो से अविरल अश्रु-प्रवाह जारी हुआ। कुमार ने उसे दुलराया, चुमकारा, उसकी देह पर, पीठ पर हाथ फेरे। इसके बाद जब कुमार आगे बढे, वह जोर से हिनहिनाने लगा—जैसे पुकार रहा हो, तुम मुझे छोडकर कहाँ जा रहे हो ? कुमार ने एक-दो बार घूम-कर देखा, फिर चल दिये। किन्तु यह क्या ! ज्यो ही कुमार आँखो से ओझल हुए, वह जोरो से काँपने लगा, काँपने लगा, फिर थरथरा कर जो गिरा, सो उठा नही !

शुद्धोदन—कथक, कथक ! सच्चे प्रेम का आदर्श तुम्हीने दिखलाया कथक, आह !

छंदक—वह हृदय-विदारक दृश्य था महाराज ! इधर कथक तडफडा रहा था, अन्तिम दम तोड रहा था, उधर भिक्षुओ-सा भेष बनाये, नगे पैर, फटे कपडे, मुडित मस्तक, हाथ में भिक्षा पात्र लिये, राजकुमार आगे बढे जा रहे थे .. ..

२

[प्रथम भिक्षा :: राजगृह में एक घर के सामने]

सिद्धार्थ—माँ, भिक्षा !

नागरिका—अहा, तुम। (चेहरे को घूरती हुई) तुम्हारे योग्य भिक्षा की कोई सामग्री मेरे पास नही है, भिक्षु !

सिद्धार्थ—और कुछ नही माँ, सिर्फ एक निवाला भोजन !

नागरिका—अभी हमारे घर मे भोजन नही वना है भिक्षु ! घर मे वेटा वीमार है

सिद्धार्थ—वीमार ! उफ, वीमारी, वुढापा . .

(लौटने का उपक्रम)

नागरिका—तो, लौटे जा रहे हो भिक्षु ! थोडी वासी खिचडी होगी, किन्तु कैसे खा सकोगे उसे? तुम्हारा यह चाँद-सा चेहरा, कमल-सी आँखें— लम्वी पपनियाँ, सघन भवें—उन्नत ललाट ! वह कौन-सा घर है, जिसे सूना करके आये हो युवक ?

सिद्धार्थ—किसी भरे घर को ही छोडकर आया हूँ माँ ! और, जा रहा हूँ ससार से वुढापा, वीमारी और मृत्यु की विभीषिका को दूर भगाने का उपचार खोजने।

नागरिका—वुढ़ापा, वीमारी, मृत्यु ! हाय, मेरे पतिदेव चल वसे, प्यारा वेटा वीमार है और यह वुढापा मेरी कमर तोड़ने को खडा है। इन तीनो से ससार को जो त्राण दिला सकेगा, वही मानववश का सवसे वडा त्राता समझा जायगा भिक्षु ! इस महान अभियान मे ईश्वर तुम्हें सफलता दें ! ठहरो, आई ! (घर से खिचडी लाती है) लो, यह खिचडी ! उफ, यह वासी खिचडी कैसे खा सकोगे ?

सिद्धार्थ—वस रहने दो; एक कलछी काफी है माँ !

(थोडी दूर हटकर वासी खिचड़ी खा रहे है—खाई नही जाती—रह-रहकर उकवाई आती है—एक नागरिक का प्रवेश)

नागरिक—ओहो, अच्छे तपस्वी है आप ! खिचडी खाई नही जा रही . . .

सिद्धार्थ—हाँ नागरिक, खाई नही जा रही। जब साधना के पथ पर पैर रखो, सारी इन्द्रियाँ विद्रोह करने लगती है! आँख, कान जिह्वा—सभी हमें नीचे ढकेलने को तैयार हो जाते हैं! किन्तु यदि लक्ष्य तक पहुँचना है तो इनपर विजय प्राप्त करना होगा, नागरिक!

(कुछ और नागरिक एकत्र हो जाते हैं)

नागरिक—मालूम होता है आपकी जिह्वा ने तरह-तरह के सुस्वादु भोजन चखे है, जिनकी याद इस बासी खिचड़ी को आपके मुँह से बाहर फेक देना चाहती है।

सिद्धार्थ—जिह्वा हमेशा सुस्वादु भोजन खोजती है, कान हमेशा मधुर स्वर खोजते है और आँखें सौन्दर्य के लिए पागल बनी रहती है। क्या राजा, क्या रक, सभी इन्द्रियों के दास है। मैं इन इन्द्रियो का स्वामी बनूँगा।

(अचानक राजा बिम्बसार आ जाते है—उन्हे देखते ही नागरिक सिटपिटा जाते हैं)

बिम्बसार—इन्द्रियो का स्वामी बनूँगा! युवक, यह दम्भ तुम्हारा सारा पर्दाफाश कर देता है! निस्सन्देह तुम किसी कुलीन ...

सिद्धार्थ—भिक्षु मे कुलीन अकुलीन का कोई भेद नही होता, आर्य! अलग-अलग पेड़—आम, जामुन, कटहल! किन्तु, ज्योही कट गये, सब एक—ईंधन!

बिम्बसार—ईंधन मे भी एक अरंड और एक चदन है, युवक! इस राजगृह मे भिक्षुओ की कमी नही, किन्तु थोड़ी ही देर में तुमने राजधानी भर मे हलचल मचा दी है—सब तुम्हारी चर्चा कर रहे है, मगध-सम्राट को भी तुमने पाँव-पयादे यहाँ घसीटा है....

सिद्धार्थ—तो, आप मगध-सम्राट बिम्बसार है! सम्राट की जय हो।

बिम्बसार—तुम्हे भी जय प्राप्त हो, युवक! इन्द्रियो का स्वामी बनूँगा—यही सिद्ध करता है, तुम क्षत्रिय-कुमार हो! स्वामित्व की, जय की आकांक्षा ही क्षत्रिय को दूसरो से पृथक करती है। किन्तु, युवक, क्षत्रिय-कुमार दसो इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के पहले दसो दिशाओ पर विजय प्राप्त करना चाहता है!

सिद्धार्थ—जिसने अपने पर विजय नही प्राप्त की, वह दिशाओ पर क्या खाकर विजय प्राप्त करेगा सम्राट ?

बिम्बसार—युवक, हर काम के लिए अवस्थाये निश्चित कर दी गई है । जवानी है दिशाओ पर विजय प्राप्त करने के लिए, वुढापा है .

सिद्धार्थ—वुढापा ! वुढापा, बीमारी, मृत्यु !—यही तीन तो मानवता के अभिशाप है, सम्राट ! और वुढापे के अभिशाप से मुक्ति पाने के लिए जवानी से ही तो प्रयत्न करना पडेगा मगधपति !

बिम्बसार—तुम्हे शिक्षा-दीक्षा भी अच्छी मिली है भिक्षु ! तुम्हारी वातचीत, रूप-रग, चालढाल सभी बताते है, तुम किसी राजकुल से आये हो। और, वह राजकुल धन्य है, जिसमे तुम्हारे ऐसे कुमार उत्पन्न होते है ! क्या वहाँ कोई विप्लव हुआ या कोई खटपट

सिद्धार्थ—विप्लव ! हाँ, किन्तु बाहर नही, भीतर ! और, जव अपने से खटपट हो चुकती है, तव घर या बाहर से खटपट होती है सम्राट !

बिम्बसार—शाक्यकुल का कोई राजकुमार गृहत्यागी हुए है, आप वही तो नही है।

सिद्धार्थ—भिक्षु का कोई कुल नही होता, जिस तरह गरुड का कोई घोसला नही होता !

बिम्बसार—छोडिये इन झमेलो को। मै वहस करना नही चाहता। लेकिन मेरी एक वात—वात नही, एक याचना, प्रार्थना ! मगध-साम्राज्य को मै जिस रूप मे विस्तृत और समृद्ध देखना चाहता हूँ, उसमे आपके ऐसे धुनी युवक की सहायता वडे काम की होगी। मगध का यह राज्य आपको अर्पित है, यौवन राज्य-शासन मे विताइये—फिर तपोवन ! तपोवन यहाँ से निकट ही है, शाक्यकुमार !

सिद्धार्थ—राज्य-शासन ! तपोवन ! दोनो में से मैंने पहले हो चुनाव कर लिया है, सम्राट ! वह तपोवन मुझे पुकार रहा है, विदा दीजिये !

विम्वसार—एक वार फिर सोचो युवक !

सिद्धार्थ—सोच चुका हूँ, कितनी बार सोच चुका हूँ! नाव धारा में डाल चुका, अब उसकी लहरियो पर खेलूँगा या सदा के लिए अतल मे विलीन ...मै चला सम्राट!

बिम्बसार—न रुके, तो जाइये! किन्तु साधना की प्राप्ति के बाद इधर ही से लौटने का वचन देते जाइये।

सिद्धार्थ—तथास्तु!

३

[मज्झिम निकाय : : तपोवन में अस्थिकंकाल बने सिद्धार्थ भावावेश में]

सिद्धार्थ—तपोवन, तपोवन! तपस्या, तपस्या! कैसी तपस्या—कितनी तपस्या!....भद्रजित, उफ. ..

कोई पंछियो की तरह गिरे अन्न चुनकर खा रहा, कोई मृगो की तरह घास-पात पर जी रहा; कोई बाँबियो में घुसा साँप की तरह हवा ही पी रहा!

कोई दिनरात पानी में घुसा मछलियो और कछुओ से अपनी चमडी नुचवा रहा; कोई आग के घेरे मे अपने को रखे सारे शरीर को झुलसाये जा रहा!

कोई बारह वर्षों से खडा-ही-खडा; कोई एक जगह इस तरह बैठ गया कि उसके चारो ओर चीटियो ने मिट्टी के अम्बार लगा दिये...

उफ, तपस्या, तपस्या! तपोवन, तपोवन!

अराड-मुनि का उपदेश! तप करो, तप करो! मैंने क्या नही किया? छः वर्षो से तो इस आसन पर बैठा रहा हूँ। अन्न छोडा, फल छोडे, जल तक छोडा! शरीर से बल जाता रहा, आँख से ज्योति जाती रही और मेधा....

हाँ, हाँ, मेघा भी जाती रही मेरी!

कल मैं किस तरह मूर्च्छित होकर गिर गया था, भद्रजित! नही, नही ज्ञान की प्राप्ति का यह मार्ग नही हो सकता! भद्रजित, तुम बोलते क्यो नही!

भद्रजित—जी, आज्ञा?

(भद्रजित जाता है, सिद्धार्थ का ध्यान सगीत की ओर है)

गायक, ठहरो, ठहरो ! मैं आया गायक, आया ! निरजने, निरजने ! धन्य तुम्हारा तट, धन्य यह गाना ! मझ्झिम निकाय, मध्यम मार्ग, बीच की राह (मुडकर) भद्रजित ..

(उसे नही पाकर)

ओहो, अच्छा हुआ कि तुम चले गये, भद्रजित ! सिद्धार्थ अकेले ज्ञान की खोज मे निकला था, वह अकेले ही ज्ञान प्राप्त करेगा—राह मिल गई, फिर मजिल कितनी दूर ! वह ·· वह मजिल, वह ··· · वह · · ··

४

[दिव्य खीर :: बोधिवृक्ष के नीचे]

सुजाता—आज वह शुभ दिन भी आया पूर्णे !

पूर्णा—जिसका सौभाग्य चमकता है, उसका हर तरह से चमकता है, आर्ये ? कितना सुन्दर पति मिले आपको, अब बरस लगते-न-लगते यह सुन्दर पुत्र ।

सुजाता—किन्तु इन वरदानो के लिए कितनी तपस्या की है मैंने ! आखिर इस एक थाल खीर की ही तो बात सोच ।

पूर्णा—इसमे तो आपने हद कर दी ! एक हजार गायो को जेठीमध के जगल मे चराकर उसके दूध से पाच सौ गायो को पालना, फिर उन पाँच सौ गायो के दूध से ढाई सौ गायो को—यो ही दूध से पालते-पालते अन्तत पाँच गायो के दूध से यह खीर बनाई है आपने । वह देवता भी धन्य होगे जो इसे ग्रहण करेगे !

सुजाता—जो मेरा प्रेम सत्य होगा, तो देवता को आज प्रत्यक्ष भोजन ग्रहण करना पडेगा, सखि !

पूर्णा—ऐसा तो कभी नही हुआ है, आर्ये !

सुजाता—जो कभी नही हुआ, वह कभी हो भी नही सकेगा, ऐसा सोचना क्या सही है ? दुनिया मे नित्य नई चीजे होती रहती है, पूर्णे !

पूर्णा—देखिये तो आर्ये, उस तरफ वह क्या प्रकाश हो रहा है ?

सुजाता—हाँ, सध्या की इस धूमिल वला मे मालूम होता है, जैसे कोई प्रकाश-पुज वहाँ उद्दीप्त हो रहा है !

पूर्णा—प्रकाश-पुज ! हाँ, हाँ, प्रकाश-पुज ही तो । देवि, देवि, आपके देवता, देखिये, वह प्रत्यक्ष आपकी प्रतीक्षा मे है । आपने जो अभी कहा, वह होकर रहा !

सुजाता—कोई तपस्वी होंगे शायद। किन्तु शरीर से कैसी ज्योति फूट रही है! अग्नि में तपाये जाकर सोना जैसे कुंदन बन गया हो! अभी शायद निरंजना से स्नान कर लौटे हैं। सारे शरीर पर पानी की बूंदें चमचम कर रही हैं!

पूर्णा—नहीं, आर्ये! यह तपस्वी नहीं, यह देवता हैं, आपके आराध्य देवता! मेरी तो आँखें झिप रही हैं! मैं आगे बढ़ नहीं सकती, जाइये, अपने देवता को इस पवित्र पायस का भोग लगा आइये।

सुजाता—नहीं-नहीं, तू भी चल, पूर्णे!

पूर्णा—मैं जा नहीं सकती आर्ये! उस ज्योति से मेरी आँखें चकाचौंध में पड़ी जाती हैं। अब यहाँ से दस डेग भी मैं नहीं बढ़ूंगी! जिसका देवता होता है, उसकी ज्योति वही सम्हाल पाता है, आर्ये! यही कहा जाता है, यही होता है!

सुजाता—तू पगली है, अच्छा यहाँ से भागना मत, मैं तुरत आई।

(ध्यानस्थ सिद्धार्थ के निकट पहुँच कर)

देव, यह मेरा भाग्य कि आप यहाँ सशरीर बैठे हैं! जिन्दगी भर पुजारिन बनी रही, तब कहीं आपने आज दर्शन दिये। लीजिये, यह श्रद्धा की खीर!

देव, आप बोल क्यों नहीं रहे! क्यों यह बन्द आँखें? यदि इतनी कृपा की, तो यह कृपा भी कर दिखाइये! इन नेत्रों को खोलिये, इस खीर को सद्‌गति दीजिये!

आप हिल भी नहीं रहे। क्यों देव! देवता या तो अदृश्य रहेंगे, या प्रतिमा बनेंगे? क्या यही विधान है? मैं देव-विधान नहीं तोड़ना चाहती हूँ, मेरे देव! किन्तु यह विधान बुरा है। अदृश्य से प्रत्यक्ष हुए, तो आँख, मुँह और हाथ को काम करने दीजिये।

इन आँखों को मंगल बरसाने दीजिये, मुँह को आशीर्वचन देने दीजिये और हाथों को अर्घ्यग्रहण के लिए बढ़ाइये। मैं आपके चरणों पर गिरी हूँ, मेरे देवता!

(सिद्धार्थ का ध्यान टूटता है)

सिद्धार्थ—देवि, मैं देवता नहीं! मैं मनुष्य हूँ, किसी चीज की खोज में हूँ।

सुजाता—मैं आप से तर्क नहीं करना चाहती, देव! आप जो कुछ हैं, मैं प्रत्यक्ष देख रही हूँ! अहा, मेरा भाग्य! ग्रहण कीजिये यह थाल!

सिद्धार्थ—थाल? स्वर्ण-थाल का भोजन तो मैंने कब न छोड़ दिया भद्रे!

सुजाता—देवता को कब किस चीज की कमी। किन्तु भक्त का आग्रह भी कोई चीज है देव!

सिद्धार्थ—मैं फिर कह रहा हूँ, मैं देवता नहीं; मैं किसी चीज की खोज में हूँ देवि !

सुजाता—यही सही। अगर यही बात हो तो जिस तरह मेरा मनोरथ सिद्ध हुआ, आपका मनोरथ भी पूरा हो देव!

सिद्धार्थ—'आपका मनोरथ पूरा हो'—यह तू क्या कह रही देवि ! क्या सच ? अहा, यही होता !

सुजाता—जो होता है यों ही अचानक होता है, देव! जब बादल बहुत घना होता है, बिजली आप-आप चमक उठती है—एक के बाद दूसरी !

सिद्धार्थ—देवि, आपका उपहार स्वीकार! यह खीर बुद्धत्व की जननी सिद्ध हो!

५

[बोधि-प्राप्ति :: बोधिवृक्ष-तले आवेश में सिद्धार्थ]

सिद्धार्थ—उफ, यह क्या स्वप्न था ? स्वप्न या सत्य ? सत्य या स्वप्न ? पहले मालूम हुआ, सारा संसार सुगन्ध से भर गया—सुगन्ध से, फिर संगीत से। तब सारे आसमान में इन्द्रधनुष ही इन्द्रधनुष उग आये; सारी पृथ्वी पर कमल ही कमल खिल उठे! क्या यह स्वप्न था? या सत्य?

अरे, वह मधुर शिंजिनी; वह मधुमय स्वर-लहरी। वह छून-छननन, फिर भुज-वलय-वेष्टन! उफ, क्या वह सत्य था, या स्वप्न?

कोई चीज हृदय पर आई, टकराई। सारे शरीर में रोमांच, सिहरन! 'सिद्धार्थ, यह मार का पुष्प-शायक है, सम्हलो'—यह कौन बोला ? मार-मार, तुम मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते मार?

किन्तु यह तो स्वप्न था। क्या यह सत्य था?

पलक लगते, पल में, कैसा पट-परिवर्तन!

आसमान में उल्कायें दौड़ने लगीं; दिशाओं में नागिनें फुफकारने लगीं; वह ग्रह टूटे, वह वज्र गिरा, वह धरती डोली—भूकम्प ! सारे भूमण्डल को कोई गेंद-सा उछाल रहा हो जैसे। कुछ भी स्थिर नहीं, कोई भी स्थिर नहीं ! 'किन्तु सिद्धार्थ, तुम्हारा आसन नहीं डोलना चाहिए'—क्या यह देवता बोले ?

गजराजों ने सूंड़ से लपेटा; वाराहों ने दांतों पर उछाला, वज्रदंष्ट्रा मृगेन्द्रों ने जबड़ों के नीचे दबाया—मार-मार! यह सब तेरी माया थी मार, किन्तु सिद्धार्थ का तुम कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे मार!

फूल से शूल पर, शूल से फूल पर, कभी स्वर्ग के आनन्द-हिल्लोल पर, कभी नरक की रौरव-ज्वाला मे, आग से पानी मे, पानी से आग पर!

कभी नसो मे सनसनी, गुदगुदी, कभी बिच्छुओ के डंक, विद्युत-शलाका की तडप!

उफ! अरे यह स्वप्न था या सत्य? सत्य था या स्वप्न? किन्तु सिद्धार्थ तो इस प्रतिज्ञा के साथ बैठा था, इस अश्वत्थतले, इसे ही साक्षी रख कर—

'चाहे मेरी चमडी, नसे और हड्डी ही क्यो न बाकी रहे, चाहे शरीर, मास, रक्त क्यो न सूख जायँ—लेकिन सम्यक् सम्बोधि प्राप्त किये विना मै इस आसन को नही छोडूँगा, नही छोडूँगा!'

मार, मार! तुमने एक भी प्रयत्न नही छोडा; किन्तु क्या तुम मेरा कुछ बिगाड़ सके?

अहा, अहा! वह पूरब मे किरणें छिटक रही है। निशा दूर हुई, अंधकार दूर हुआ। स्वप्न भागा, सत्य जागो! सत्य जागो! उठो, सिद्धार्थ उठो! कहाँ है अराड मुनि, कहाँ हो भद्रजित, कहाँ है तुम्हारे चारो साथी? आओ, देखो, सिद्धार्थ ने बोधि प्राप्त कर ली! सिद्धार्थ ने बुढापा, बीमारी और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का मार्ग जान लिया। श्रोतिय की आठ पुल्लियो से बना आठ कोण का मेरा यह आसन! बुद्धत्व के आठ स्तम्भ—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

आओ—देखो। ओ, कहाँ है अराड मुनि? कहाँ हो भद्रजित? आइये, आओ—सिद्धार्थ ने बुद्धत्व प्राप्त कर लिया! बुद्धत्व प्राप्त कर लिया! बुद्धत्व का अष्टाग मार्ग, मध्यम मार्ग—बीच का पथ—मज्झिम निकाय। आओ, यह मार्ग, देखो!

देखो, अब किरणे सारी पृथ्वी को जगमग करती जा रही है। कहाँ गई निशा, कहाँ गया अधकार, कहाँ गया स्वप्न? सत्य प्रकाशित हुआ, ज्ञान प्रभासित हुआ। मानवो, बढो ज्ञान की ओर, निर्वाण की ओर!

६

[यशोधरा का स्वप्न :: कपिलवस्तु का राजप्रासाद]

यशोधरा—परिचारिके, परिचारिके! माताजी को बुलाओ परिचारिके!

परिचारिका—जो आज्ञा छोटी रानीजी, किन्तु आज आपमें इतनी प्रसन्नता क्यों पा रही हूँ? कितने वर्षों के बाद······

यशोधरा—हाँ-हाँ, कितने वर्षों के बाद! कितने वर्षों के बाद उन्हें देखा है परिचारिके!

परिचारिका—उन्हें! क्या राजकुमार को? उन्हें कहाँ देखा है रानीजी? कहा····

यशोधरा—माताजी को बुलाओ परिचारिके, माताजी को! अभी-अभी देखा है वह आ रहे हैं! आ रहे हैं····

(प्रजावती का प्रवेश)

प्रजावती—कौन आ रहा है बेटी, यह शोर-शोर क्या सुन रही हूँ? क्या सचमुच मेरा बेटा आ रहा है?

यशोधरा—हाँ, सचमुच वह आ रहे हैं माताजी! मैंने अभी-अभी सपना देखा है, वह आ रहे हैं!

प्रजावती—सपना देखा है? सपने से मैं बहुत घबराती हूँ बेटी! बहिन माया ने भी एक सपना····

यशोधरा—लेकिन मेरा सपना सत्य होकर रहेगा माताजी, वह जरूर आयेंगे। मैंने देखा है, एक विशाल उजला हाथी..

प्रजावती—उजला हाथी? माया ने भी....

यशोधरा—हाँ-हाँ, माताजी, मैंने देखा है, एक विशाल उजला हाथी है, उसके आठ दाँत हैं, सुफेद-सुफेद, सुन्दर-सुन्दर! वह अपनी सुन्दर सूँड़ को हवा में उछालता, न ज्यादा तेजी से न बहुत धीरे-धीरे, बल्कि मद्धिम चाल से चला आ रहा है, और उसके ऊपर आर्यपुत्र.. ....

प्रजावती—बेटी यशोधरे! हाथी का सपना मत सुनाओ, हाथी का सपना हमारे लिए अच्छा नहीं होता बेटी!

यशोधरा—अच्छा नहीं होता? क्या इससे भी अच्छी कोई बात हो सकती है माँ कि आर्यपुत्र उस विशाल हाथी पर अपनी राजधानी में प्रवेश कर रहे हैं और सारी राजधानी उनके स्वागत को उमड़ रही है। आर्यपुत्र के मुखमण्डल से एक विचित्र आभा प्रस्फुटित होकर एक विशाल वृत्त बना रही थी माँ जिस वृत्त में मालूम होता था,

सारा भूगोल, खगोल तुच्छ कणिकाओ की तरह चक्कर काट रहे हो! माताजी, माताजी, क्या कहूँ, आपने यह दृश्य नही देखा! मै आपको किस तरह समझाऊँ

प्रजावती—बेटी, फिर कहती हूँ, हाथी का सपना न सुनाना! यह हमारे लिए अच्छा नही होता। इसी हाथी के सपने ने हमसे सिद्धार्थ छीना, अब राहुल पर ही हमारी सारी आशा केन्द्रित है बेटी!

(राहुल का प्रवेश)

राहुल—माँ, माँ!

यशोधरा—बेटे, बेटे, मै समझ गई बेटा, तू क्या पूछ रहा है? जब कभी अपने दोनो हाथ उठाकर मुझसे लिपटते हुए निरीह आँखो से तू मेरी ओर देखता है, मै समझ जाती हूँ, तुम मुझसे क्या पूछेगा? 'पिताजी कब आयँगे, पिताजी कब आयँगे'—अब यह रट तुम्हे नही लगाना होगा बेटे! अब तेरे पिताजी आ रहे है।

राहुल—(आनद से) माँ-माँ!

यशोधरा—कैसी आँखे चमक गई तेरी? कैसा चेहरा खिल उठा तेरा? तेरे पिताजी आ रहे है, मेरे आर्यपुत्र आ रहे है। माताजी का प्यारा (प्रजावती से) माताजी, आप क्यो न आनदित हो रही है माताजी? ओहो हो—आपकी आँखो मे यह आँसू. . .

प्रजावती—राहुल, बेटे राहुल! आ बेटा, तुझे गोद लूँ, तेरी बलैया लूँ। मेरा जो बेटा गया, वह लौट नही सकता। तेरे रूप मे जो नया बेटा मुझे मिला है, हे भगवान! यशोधरे, बेटी, तुमने यह बुरा सपना देखा!

यशोधरा—माताजी, इससे बढकर अच्छा कोई दूसरा सपना हो नही सकता। वह आ रहे है, आर्यपुत्र आ रहे है! आठ दाँतवाले मद्धिम मस्तानी चाल से चलनेवाले श्वेत गजराज पर आ रहे है! उनके मुखमडल से आभा फूट रही है! उस आभा से वृत्त बन रहा है, जिसमे सारा भूगोल, खगोल तुच्छ कणिकाओ की तरह बहते-तैरते से दीख पडते है! माताजी, इससे बढ़कर सुन्दर कोई सपना हो नही सकता है!

राहुल—(उदासी के स्वर मे) माँ-माँ!

यशोधरा—उदास मत हो बेटा! दादी की बातो मे न आ, प्रसन्न हो, उछलो, कूदो, सारे राजमहल के कोने-कोने को, सारी राजधानी की गली-गली को अपने कलरव से गुँजा दो कि तुम्हारे पिताजी आ रहे है। आठ दाँत वाले मद्धिम मस्तानी-चाल से चलनेवाले गजराज पर तुम्हारे पिताजी . . . हाँ-हाँ, जाओ—उछलो, कूदो, प्रसन्न हो!

बहुजन हिताय बहुजन सुखाय

१

(पचवर्गीय भिक्षु : ऋषिपत्तन—मृगदाव)

बुद्ध——मैं देख रहा था भद्रजित, ज्यों-ज्यों मैं तुमलोगो के निकट पहुँच रहा था, त्यों-त्यों तुम्हारी आँखो मे आशंका, उपेक्षा, घृणा सघन होती जा रही थी।

भद्रजित——हमे लज्जित न कीजिये, भन्ते!

बुद्ध—मुझ वह दिन भूला नही था, जब मैं उग्र तपस्या को त्याग कर खाने-पीने लगा तो तुमलोगो ने कटु वचन कहे, गालियाँ दी और अभिशाप देकर चलते बने। तुमलोगो न मुझे छोड दिया, किन्तु मैंने ज्ञान के अनुसंधान को न छोड़ा और अन्ततः सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करके ही रहा। किन्तु तुम तो समझते थे, सिद्धार्थ पतित .....

भद्रजित—हाँ भन्ते! यह लज्जा की बात है, किन्तु सत्य है। आपको देखकर आज भी हमारी पुरानी घृणा सौगुनी वेग से जाग उठी थी और हमने यह तय कर लिया था कि आपके निकट आजाने पर भी हम न उठेंगे, न अभिवादन करेंगे, यहाँतक कि आसन तक नहीं देंगे। किन्तु ज्यों-ज्यो आप नजदीक आते गये ...

बुद्ध—हाँ आदमी ज्यो-ज्यो सत्य के नजदीक आता है, त्यो-त्यो अविद्या हटती जाती है, अन्धकार दूर होता जाता है। मेरे साथ भी

ऐसा ही हुआ था भद्रजित! प्रकाश के पहले अधकार भीषणतम हो उठता है। बोधि-प्राप्ति के पहले मार के क्या-क्या न प्रहार सहने पडे मुझे। किन्तु उस प्रहार के बाद तथागत .

भद्रजित—तथागत!

बुद्ध—हाँ भद्रजित, तथागत! यह तो जो तुम्हारे सामने खडा है, वह शाक्यकुल का सिद्धार्थ गौतम नही है। वह जो टलहा था, मार की भट्ठी मे जलकर भस्म हो गया। यह जो तुम्हारे सामने खडा है—यह तथागत है, यथार्थ सत्य है, खरा सोना है। ससार मे जिसे अबतक किसी ने न प्राप्त किया था मैंने उस सत्य को प्राप्त कर लिया है भद्रजित!

भद्रजित—भन्ते! आपसे बिछडकर हमलोगो ने कौन-कौन-सी तपस्याये न की, किन्तु हमे हमेशा ऐसा बोध होता रहा कि हम जहाँ से चले थे, घूम-फिर कर फिर वही पहुँच गये है। कभी-कभी प्रकाश की जो किरणे दिखी, वे तुरत सिद्ध हुई जुगनू की भुकभुक। सत्य का सूर्य, आह! न जाने हमसे कहाँ छिपा हुआ

बुद्ध—दो अन्तो से बचकर ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है, कौडिन्य! शरीर को सुख से लपेटे रहना और शरीर को दुख मे तपाना, दोनो ही अनार्य है, वर्ज्य है। विषयो की आसक्ति ज्ञान को जिस तरह ढँक लेती है, तप की दुर्बलता और शक्तिहीनता उसे अधिक ढँक लेती है। सत्य का रास्ता इन दोनो के बीच मे है। मध्यम प्रति-पद—मज्झिम निकाय—मध्य का मार्ग ही सत्य का मार्ग है। यही आर्य-मार्ग है। यही बुद्धत्व का मार्ग है। यही मार्ग आँख देनेवाला, ज्ञान देने वाला, शान्ति देनेवाला, सम्बोधि देनेवाला, निर्वाण देनेवाला है।

भद्रजित—मध्यम प्रतिपद! मज्झिम निकाय! मध्य का मार्ग! (साश्चर्य) यही सत्य का मार्ग है, बुद्धत्व का मार्ग है .

बुद्ध—हाँ-हाँ भद्रजित! मध्य का मार्ग ही सत्य का मार्ग है। यही आर्य-मार्ग है, यही आर्य आष्टागिक मार्ग है। आष्टागिक मार्ग अर्थात् अपनी दृष्टि ठीक रखो, अपने सकल्प ठीक रखो, मुँह से ठीक-ठीक बोली गई वाणी निकले, कर्म भी ठीक ही ठीक हो, आजी-विका ठीक रहे—ठीक तरह से प्रयत्न होते चले। फिर सतत जागरू-कता आयगी और अन्तत. सम्यक् समाधि प्राप्त होकर रहेगी।

ज्योंही सम्यक् समाधि प्राप्त हुई, बीमारी, बुढ़ापे और मृत्यु से छुटकारा मिला। जन्म दुख है, बुढ़ापा दुख है; बीमारी दुख है, मृत्यु दुख है। अप्रियों का संयोग दुख है; प्रियों का वियोग दुख है। इच्छित वस्तु का न प्राप्त होना दुख है और उसका खोना भी दुख है। दुख आर्य सत्य है और आर्य सत्य है इन दुखों का कारण। दुखों का कारण क्या है? तृष्णा! कामतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा। और जिस तरह ये सत्य हैं उसी तरह उनका निरोध भी सत्य है। सभी प्रकार की तृष्णाओं से विराग, सभी प्रकार की उत्तेजनाओं पर विजय, यह भी आर्य सत्य है, साध्य है। इस साध्य तक पहुँचने के लिए अष्टांगिक मार्ग है। इस मार्ग को न पहले किसी ने देखा था, न किसी ने सुना था। तथागत ने इसे प्राप्त किया है और तथागत का आदेश है—इसपर बढ़ो, चलो......

भद्रजित—जो आज्ञा शास्ता!

बुद्ध—तो तुम्हीं पाँचों इस धर्म के अग्रदूत हुए—पंचवर्गीय भिक्षु के नाम से संसार तुम्हें अवगत करेगा।.....और, वहाँ देखो तो, वह कौन आ रहा है?

भद्रजित—ओहो, वह कौन आरहा है? रत्नों से जड़ा सुनहला परिधान, सिर पर रत्नों की झालरवाली पगड़ी, पैर में सोने की पादुकायें! वाराणसी का कोई श्रेष्ठि तो नहीं?

(श्रेष्ठिपुत्र यश का आगमन)

यश—मैं श्रेष्ठि-पुत्र यश हूँ महाश्रमण! आपकी सेवा में आया हूँ। कुछ ऐसी घटनायें हुई हैं कि चित्त कुछ उद्विग्न ...

भद्रजित—उद्विग्न चित्तों को शान्ति देने के लिए ही तथागत का आगमन हुआ है श्रेष्ठिपुत्र! तथागत की कृपा से हमारी आँखें आज खुली हैं, अब संसार की आँखें भी खुलें।

यश—अबतक इन आँखों के धोखे में ही रहा हूँ महाश्रमण! बहुत देखे, बहुत सुने, बहुत भोगे। तीन ऋतुओं के लिए तीन कोठियाँ बनवाईं। ग्रीष्मावास, वर्षावास, हेमन्तावास! भोग के सभी सामान इकट्ठे किये। किन्तु जितना पीते गये प्यास बढ़ती गई। अब आपकी शरण में आया हूँ महाश्रमण! संकोच हो रहा था ... ...

बुद्ध—तुम्हें संकोच हो रहा था कि इस वेश में ऋषिपत्तन में प्रवेश उचित है या नहीं? किन्तु भिक्षुवेश धर्म का कारण नहीं है

है यश ! जो सब जीवो को समान भाव से देखता है और जिसने शम एव विनय द्वारा अपनी इन्द्रियो को वश मे कर लिया है, वह आभूषण पहन कर भी धर्म मे विचरण करता है, श्रेष्ठिपुत्र !

यश—साधु, महात्मन्, साधु !

बुद्ध—साधु नही, सत्य कहो। जो शरीर से घर को छोडता है, चित्त से नही और जो काम के अधीन है, वह वन मे रहने पर भी गृहस्थ है, गृहस्थो से भी हीन है। किन्तु जिसका शरीर भले ही कामकाज मे लगा हो, किन्तु जिसका चित्त ज्ञान की ओर प्रवृत्त है, वह घर मे रहकर भी वनवासी है, सन्यासी है, पूज्य है, वन्द्य है। श्रेष्ठिपुत्र, जिसने सिद्धि पाई वह मुक्त—चाहे वह घर मे रहे, चाहे वन मे।

यश—आपकी शरण मे हूँ देव ! कोई शुभ तिथि बताइये, जब आपसे प्रव्रज्या ग्रहण करूँ।

बुद्ध—निर्वाण-पथ के लिए कोई समय निश्चित नही है और न कोई तिथि शुभ या अशुभ है। यहाँ आओ और अभी सौभाग्य प्राप्त करो !

भद्रजित—कहो, सब कहो—बुद्ध शरण गच्छामि; सघ शरण गच्छामि, धर्म शरण गच्छामि !

२

[धर्मचक्र-प्रवर्त्तन :: भिक्षुको के समक्ष भगवान बुद्ध]

बुद्ध—चर हे भिक्खव, बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय ! भिक्षुओ ! विचरण करो, भ्रमण करो—बहुतो के सुख के लिए, बहुतो के हित के लिए। लोक पर दया करने के लिए, देवताओ और मनुष्यो के प्रयोजन के लिए, विचरण करो, भ्रमण करो !

भिक्षुओ, जो आदि मे कल्याणकारक है, मध्य मे कल्याणकारक है, अन्त मे कल्याणकारक है—इस धर्म का उपदेश करो। अर्थ सहित, व्यजन सहित, अमिश्र, परिपूर्ण, परिशुद्ध, ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। बहुतो के सुख के लिए, बहुतो के हित के लिए विचरण करो, भ्रमण करो, भिक्षुओ।

संसार में ऐसे प्राणी भी हैं, जो अदोष हैं, अल्पदोष हैं। जो भटक गये हैं या भटक रहे हैं तो सिर्फ इसलिए कि धर्म का, सत्य का, ज्ञान का संदेश उनके निकट तक नहीं पहुँच सका। भिक्षुओ, धर्म के न श्रवण करने से उनकी हानि हो रही है। जाओ, उन्हें धर्म का संदेश सुनाओ। धर्म का संदेश सुनकर वे धर्मपथ पर आचरण करें, ज्ञान के मध्यम मार्ग पर विचरण करें—इसके लिए प्रयत्न करो, आगे बढ़ो बढ़े चलो, भ्रमण करो, विचरण करो!

कभी दो भिक्षु एक साथ न जाना। कभी दो भिक्षु एक पथ से से न जाना। कभी एक घर का भोजन न करना। कहीं एक रात से अधिक न बिताना। बहुतों के सुख के लिए, बहुतों के हित के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए, भिक्षुओ, भ्रमण करो, विचरण करो, बढ़ते चलो।

मैं ही प्रव्रज्या दूँगा, इसकी प्रतीक्षा मत करो। जहाँ भी योग्य सदाचारी व्यक्ति मिले, उसे तुम प्रव्रजित करो!

इस ऋषिपत्तन मृगदाव में, जहाँ निरीह हिरनें विचर रही हैं, जहाँ सुन्दर पक्षी किलोल कर रहे हैं, जहाँ से गंगा का कलरव सुनाई पड़ता है, जहाँ से वाराणसी के सुनहले गुम्बद दिखाई पड़ते हैं, ऐसे पवित्र स्थान में हमने जिस धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है, वह सदा घूमता रहे, चलता रहे, उसे कोई उलट न सके इसलिए हे भिक्षुओ! भ्रमण करो, विचरण करो—बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय!

तथागत का यह धर्मचक्र! शील इसके आरे हैं, शम और विनय इसकी पुट्टियाँ हैं, इसमें बुद्धि की विशालता है, स्मृति और मति की स्थिरता है, लज्जा ही इसकी नाभि है। गंभीरता के कारण यह धर्म-चक्र उलटाया नहीं जा सकता। इसलिए हे भिक्षुओ, इस धर्मचक्र की क्षिप्र गति के अनुसार ही भ्रमण करो, विचरण करो, बढ़ते चलो!

चर हे भिक्खव, बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय! बहुतों के सुख के लिए, बहुतों के हित के लिए, लोक पर दया करने के लिए देव-ताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, भिक्षुओ विचरण करो, भ्रमण करो, आगे बढ़ो, बढ़ते चलो!

३

[सब जीवो पर दया :: राजगृह का यज्ञस्थल]

पुरोहित—चाडाल, तुमने देर कहाँ लगा दी! कहाँ रहे अब तक! क्यो देर कर दी इतनी?

गड़ेरिया—मै दोषी नही हूँ पुरोहित महराज, मै दोषी नही हूँ! मै तो हुक्म पाते ही ढोरो को लेकर चला

पुरोहित—तो क्यो देर हुई? कहाँ देर हुई? चाडाल, तुमने यज्ञ मे देर कर दी?

गड़रिया—देर करूँ और मै? यह ढिठाई मुझसे नही हो सकती पुरोहितजी। नही! मै तो एक पागल के पाले पड गया था! हाँ-हाँ वह पागल था!

पुरोहित—पागल?

गड़रिया—जरूर ही वह पागल था पुरोहितजी! पूछने लगा—'कहाँ जा रहे हो? क्यो इतनी तेजी से इन ढोरो को हँका रहे हो? रह-रहकर इन्हे पीट देते हो? इन निरीह जानवरो को क्यो पीट रहे हो? आह, आह!' हाँ, हाँ उसने तो आह-ऊह का तूमार खडा कर दिया था। कभी इस भेड की पीठ सहलाता, कभी उस बकरे की टाँग छूता। और, हद हो गई महाराज तब, जब एक लँगडे बकरे को उठाकर उसने कधे पर रख लिया।

पुरोहित—तब तो सचमुच पागल था वह!

गड़ेरिया—वह आपको भी अटसट सुनाता था पुरोहितजी। कहता था, कैसा है वह ब्राह्मण, जो पशुओ पर यह क्रूरता करवाता है।

पुरोहित—मेरे सामने आता तो बता देता कि मै कैसा ब्राह्मण हूँ! दुष्ट ने देर करा दी ...

गड़ेरिया—तो क्या वह आ नही रहा होगा? मेरी लाठी से जिसका सिर फूट गया था, उस बकरे का रक्त धोने के लिए वह झरने के निकट ले गया है और कह गया है—जा, पुरोहित को कह देना, मै इसे लिये आ रहा हूँ! अरे, वह देखिये, वह आ ही पहुँचा!

(बुद्ध का प्रवेश· पुरोहित एकटक देखता है: बुद्ध मुस्कुराते है)

बुद्ध—निरीह प्राणियो के घावो को धोने के लिए ही तथागत का इस लोक मे आगमन हुआ है पुरोहित! बकरे का घाव धो चुका, अब तुम्हारा घाव .....

पुरोहित—पागल, सम्हल कर बोल। मै कोई गडेरिया नही हूँ। इस यज्ञस्थल में . ..

बुद्ध—पागल सम्हल कर नही बोलते पुरोहित! पागल सम्हल कर बोले, सम्हल कर चले, तो फिर ससार को यह दशा क्यो देखनी पड़े? क्यो यज्ञस्थल को वधस्थल बनाया जाय? क्यो वधस्थल को यज्ञस्थल कहा जाय?

पुरोहित—अरे, तू तो ज्ञान का ढोग भी रच रहा है। वेष भी क्या खूब बना रखा है तूने? किन्तु, देवताओ के लिए किये जानेवाले इस यज्ञ मे विघ्न डालने के अपराध मे... .

बुद्ध—देवता इतना क्रूर नही हो सकते पुरोहित, कि वे निरीह प्राणियो के प्राण के गाँहक बन जायँ।

पुरोहित—देवता बलि से सतुष्ट होते है।

बुद्ध—निस्सन्देह! निस्सन्देह ही देवता बलि से प्रसन्न होते है, किन्तु बलि निरीह प्राणियो की नही, हमारे-तुम्हारे ऐसे .

पुरोहित—चुप रह पागल, चुप रह! अभी बलि का खाँडा नही देखा है! देख तो यह (खाँडा दिखाता है). . .

बुद्ध—यह! यही? पुरोहित, पुरोहित? यह तो बच्चो का खिलौना है। तथागत ने मार के ऐसे अस्त्र-शस्त्र देखे है . . . .

पुरोहित—(साश्चर्य) तथागत! मार के अस्त्र-शस्त्र! यह तू क्या बोल रहा है, पगले!

बुद्ध—तुम्हारे सामने तथागत खडे है और तुम पहचान नही रहे पुरोहित! हाँ, तथागत! जिसने मार पर विजय प्राप्त की, जिसने तृष्णादि पर विजय प्राप्त की, जिसने ज्ञान प्राप्त किया, बुद्धत्व प्राप्त किया।

पुरोहित—हट, हट, तू अवश्य पागल है। देख, देख, राजा यज्ञ-मडप में आ ही पहुँचे—हट!

बुद्ध—हट ? जिसे मार न हटा सका, उसे तुम हटाओगे ? राजा को आने दो, मैं उसीसे भेंट करने आया

पुरोहित—राजा की शान के खिलाफ इस तरह का सम्बोधन मत कर, भिक्षु !

बुद्ध—तथागत के सामने सभी शिशु है, अज्ञानी हैं, तथागत उन्हे ज्ञान देंगे।

(राजा विम्बसार का प्रवेश)

विम्बसार—तुम ? आप ? मालूम होता है तुमको . आपको . कही . .

बुद्ध—तुम, आप, सब भ्रम है, भ्रम है मगध-सम्राट !

विम्बसार—मालूम होता है कही आपको देखा है·

बुद्ध—जब तक सम्यक् दृष्टि नही प्राप्त होती, आँखे सदा धोखा देती आई है सम्राट् ! सम्राटो की आँखे और पुरोहितो की आँखे भी।

पुरोहित—सम्राट्, बहुत देर से यह वहकी-वहकी वाते कह रहा है। इसने गडेरियो को रोककर ढोर लाने मे देर कर दी, ढोरो को हाँकने नही देता था, मारने नही देता था। एक लँगडे बकरे को तो कधे पर उठा लिया था इसने—उसका रक्त तक धोया है !

बुद्ध—ससार मे व्यर्थ वहाये जानेवाले रक्त को धोने के लिए ही तथागत का आगमन हुआ करता है, सम्राट् !

विम्बसार—तथागत का व्यर्थ वहाये जानेवाले रक्त को धोने के लिए .. । भिक्षु, मालूम होता है, तुम्हारी वाणी मैंने कही कभी सुनी है।

बुद्ध—आँखे धोखा देती है, कान धोखा देते है, सारी इन्द्रियाँ धोखा देती है, सम्राट् ! इन इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के लिए ही तो तथागत को इतने अनुमधान और अनुष्ठान करने पडे—जप-तप मे जलना-तपना पडा, तव कही उसने वोधि प्राप्त की !

विम्बसार—ओहो, तो आप सिद्धार्थ गौतम है ?

बुद्ध—फिर धोखा सम्राट्, फिर धोखा ! सत्य को देखो, यथार्थ को देखो। तुम्हारे सामने सिद्धार्थ नही, तथागत खडे है।

बिम्बसार—तथागत ! तो आपने बुद्धत्व प्राप्त कर लिया !

बुद्ध—हाँ, सम्राट् ! जिस मार्ग का पता आजतक किसी ने नहीं पाया, मैंने वह मार्ग प्राप्त कर लिया—ज्ञान का मार्ग, निर्वाण का मार्ग।

बिम्बसार—तो तथागत, तथागत ! हमारे राजभवन में पधारिये और मुझे मुक्ति का मंत्र दीजिये।

बुद्ध—अपनी मुक्ति के पहले इन पशुओं को मुक्त करो सम्राट् ! इन अचेतन निरीह पशुओं को और (पुरोहित की ओर निर्देश करते हुए) ऐसे चेतन-नामधारी दो हाथ-पैर के पशुओं को भी, जो यज्ञादि के नाम पर संसार में अनर्थ मचा रहे हैं !

४

[कपिलवस्तु की याद :: गृद्धकूट के शिखर पर]

बुद्ध—गिरिव्रज कितना सुन्दर लगता है, उदयी। ये मंडलाकार पर्वत; ये सुनहली धनखेतियाँ, यह वेणुवन, यह गृद्धकूट—सबके सब कैसे भव्य-दिव्य लगते हैं।

उदय—गिरिव्रज ने तथागत के धर्ममार्ग को सम्राट् बिम्बसार दिया और फिर उसीने सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप और महाकात्यायन ऐसे चार नर-रत्न दिये ! तथागत के प्रभाव और इनके प्रयत्नों से इस धर्म-मार्ग पर अनेकानेक जनपद और जनसमूह आरूढ़ होते चले जा रहे हैं। सुदूर श्रावस्ती से, कोशाम्बी से, वाराणसी से, विदेह से, वैशाली से, अंग से—चारों ओर से जिज्ञासुओं के दल-के-दल गिरिव्रज की ओर सावन के बादल की तरह उमड़े आ रहे हैं !

बुद्ध—और, कपिलवस्तु भी मुझे न भूल सकी ! तुम्हारे पहले भी एक सहस्र युवक यहाँ आकर प्रव्रज्या ले चुके हैं, उदयी।

उदय—हाँ, उन्होंने प्रव्रज्या ली; मैंने प्रव्रज्या ली। किन्तु हम सब जिस उद्देश्य से आये थे, आह, उसे हम याद रखे होते !

बुद्ध—तुमलोगों के आने का क्या कोई दूसरा उद्देश्य भी था उदयी !

उदय—हाँ शास्ता! हमें महाराज शुद्धोदन ने भेजा था कि आपको

बुद्ध—क्या? 'महाराज ने? तो क्या महाराज चाहते हैं कि मैं कपिलवस्तु आऊँ? अरे इसी दिशा में न कपिलवस्तु होगी, उदयी। ओहो, मैं कपिलवस्तु को छोड आया, किन्तु कपिलवस्तु मुझे न छोड सकी।

उदय—यदि आप यह जान पाते कि आपके वाद कपिलवस्तु की क्या दशा हुई, तो ऋषिपत्तन-मृगदाव मे धर्मचक्र-प्रवर्त्तन के वाद आप गिरिवर्य न आकर सीधे कपिलवस्तु पहुँचे होते तथागत! आपके वियोग मे

बुद्ध—वियोग दुख का कारण है उदयी?

उदय—हाँ-हाँ, वियोग दुख का कारण है और उस दुख को आधे युग से कपिलवस्तु के नर-नारी भुगत रहे हैं। महाराजा या रनिवास की वाते अलग कीजिये, शास्ता, सारे नगर मे तव से कोई उत्सव न हुआ, न वाजे वजे, न नृत्य हुआ, न रगरेलियाँ देखी गई, न अठखेलियाँ। और महाराज शुद्धोधन! महाराज अगर जीवित हैं, तो सिर्फ राहुलकुमार के लिए तथागत!

बुद्ध—राहुल? राहुल तो अव दौडता-चलता होगा, उदयी?

उदय—जव से राहुलकुमार के पैरो मे गति और मुँह मे वाणी आई है, तव से रनिवास का शोक और वढ गया है। वह हमेशा पूछा करते हैं—पिताजी कव आयँगे? और, वार-वार रनिवास से दौडकर घुडसार मे जाते और छदक के कन्धे पर चढकर कहते हैं—मुझे पिताजी के निकट पहुँचा दो, छदक!

बुद्ध—ओहो! वडा नटखट हो चला है! उसकी ये हरकते यशोधरा को . .

उदय—देवी यशोधरा? उनकी हालत क्या है, यह मत पूछिये तथागत। जिस दिन आप घर निकले, सव लोग रोये-धोये, किन्तु वह न रोई, न आँसू वहाये। किसी से पूछा—तपस्वी लोग क्या पहनते होगे, क्या खाते होगे, कैसे सोते होगे! और उसी दिन से उन्होंने काषाय वस्त्र धारण कर लिया . .

बुद्ध—काषाय वस्त्र?

उदय—हाँ-हाँ, तथागत! उस दिन से देवी यशोधरा काषाय वस्त्र ही पहनती है, फल-फूल ही खाती है और वह भी दिन मे एक ही बार और पृथ्वी पर कुश की साथरी बिछाकर उसी पर सोती है।

बुद्ध—घर मे रहकर भी ऐसी साधना!

उदय—देवी यशोधरा को देखकर और उनकी साधना की कथा सुनकर किसके मुँह से आह नही निकलती है, तथागत! उस रात जिस शय्या पर आप सोये थे, उस शय्या को उसी रूप मे सजाकर रखे हुई हैं। प्रतिदिन प्रात उसे धूप-आरती दिखाती है और प्रति-दिन सध्या को अनेक दीप-मलिकाओ से उसे जगमग कर देती हैं! इस विषाद मे भी उनका मुखमण्डल सदा उदीप्त रहता है और शोकसतप्त रानी प्रजावती से वह कहा करती है—माताजी, वह अवश्य आयँगे, आकर ही रहेगे।

बुद्ध—हाँ, हाँ, छदक के द्वारा मैंने सवाद भेजा था कि मैं अवश्य लौटूँगा।

उदय—और एक उपहार भी तो छदक-द्वारा भेजा था! आपके उन अनमोल लटो को एक रत्न-खचित मजूषा मे रखकर आपकी शय्या पर उन्होंने धर दिया है। प्रति दिन प्रात-सध्या उन लटो को निकालती है, आँखो से लगाती है, चूमती है, फिर अश्रु-सिक्त नयनो से बार-बार देखती हुई उसे मजूषा मे बन्द कर देती है। एक दिन तो भावावेष मे वह उस मजूषा को लिये हुए रानी प्रजावती तक दौड गईं और बोली—माँ माँ, देखिये, ये बाल बढ रहे है! माँ, आर्य-पुत्र लौटेंगे, अवश्य लौटेंगे।

बुद्ध—यशोधरा को मैं जानता हूँ, उदयी! अब उसकी व्यथा-कथा मत बढाओ। मौसी प्रजावती का क्या हाल है?

उदय—सयोग ही कहिये कि उन्हे राहुल का आसरा मिल गया, नही तो वह कब न स्वर्ग मे अपनी बहन से जा मिली होती। दिन भर राहुल को गोद मे लिये फिरती है और रात में उस भवन के द्वार पर सोती है, जिसमे राहुल-कुमार सुलाये जाते है,। वह कहती है—बेटी यशोधरे, तुम्हारी नीद अच्छी नही है, बेटी! तू सोती रही और मेरा बेटा चल दिया! अब राहुल पर मैं स्वय पहरा दूँगी।

मेरी तकदीर बुरी है, बहुत बुरी ! न जाने राहुल भी कही भाग जाय ! और, यथार्थ बात यह है शास्ता, कि वह रात भर सोती ही कहाँ है? और, जरा-सा भी खटका हुआ कि बोल उठती है—'राहुल ! यशोधरे, जगी तो हो बेटी ?'

बुद्ध—रहने दो, रहने दो उदयी। कपिलवस्तु के दुख ।

उदय—यदि दुख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा के, धर्म के मध्यम मार्ग के उपदेश की कही आवश्यकता है, तो कपिलवस्तु मे ही तथागत? बुढापा, बीमारी और मृत्यु पर विजय प्राप्त करनेवाले जिस आष्टांगिक मार्ग का आपने पता लगाया है, उसके सबसे उपयुक्त पात्र कपिलवस्तु के नर-नारी है, सारा शाक्यकुल है। अपने होने के अपराध मे उन-लोगो को अधिक दिनो तक अपनी ज्ञान-धारा से वचित न रखिये, तथागत !

बुद्ध—मै कुछ दिनो से सोच रहा था उदयी, कि मुझे कपिलवस्तु जाना चाहिये। बार-बार मै कानो मे एक पुकार सुनता रहा, हृदय में एक आकर्षण अनुभव करता रहा, किन्तु

उदय—किन्तु अब अधिक विलम्ब नही तथागत ! देखिये, वसन्त का यह कैसा सुहावना समय है ! खेतो मे तरह-तरह के दलहन और तेलहन फूल रहे हैं, बगीचे मे बौरो और भौरो की भरमार है, पथ मे धूल नही, धूप नही, नदियाँ सिमट कर यात्रियो को अनायास रास्ता दे देती है। चला जाय, तथागत, देखिये, वह उत्तर दिशा देखिय ! और सुनिये—कपिलवस्तु अपने सिद्धार्थ कुमार को, ससार के तथागत को किस आर्तवाणी मे पुकार रही है।

बुद्ध—तथास्तु ! उदयी, भिक्षुओ से कहो, वे कपिलवस्तु चलने की तैयारी करे।

५

[प्रत्यावर्तन :: कपिलवस्तु में यशोधरा का कक्ष]

यशोधरा—तब क्या हुआ परिचारिके ?

परिचारिका—ज्यो ही कपिलवस्तु के लोगो को मालूम हुआ कि कुमार आ रहे है, सारी नगरी उमड पडी। आगे-आगे बच्चे थे,

उनके पीछे युवक-युवतियाँ, सबके पीछे वृद्धो की मडली। सब-के-सब पैदल थे। सबके हाथो मे स्वागतार्थ पुष्प-माला या रोली-आरती। सबके मुँह से स्वागत का जयनाद निकल रहा था कि लोगो ने देखा बीस सहस्र भिक्षुओ के साथ कुमार आ रहे है।

यशोधरा—बीस सहस्र भिक्षुओ के साथ!

परिचारिका—हाँ, छोटी रानीजी, बीस सहस्र भिक्षुओ के साथ! उन बीस सहस्र भिक्षुओ के आगे कुमार थे। वे ऐसे दिप रहे थे, जैसे तारो के बीच चन्द्रमा। न वह तेजी से चल रहे थे, न धीमे—मद्धिम गति से उनके पैर उठ रहे थे। उनकी आँखें सिर्फ जूये भर आगे देखती थी—अगल-बगल भी उनकी दृष्टि नही जाती थी। चेहरे पर एक अजीव तेजपुज—सौम्यता। समूचे शरीर से एक आभा-सी फूट रही थी!

यशोधरा—उन्होने तपस्या भी तो ऐसी ही की है, परिचारिके! फिर क्या हुआ?

परिचारिका—पुरवासियो ने उनका आगत-स्वागत किया, फिर राजधानी की सर्वश्रेष्ठ वाटिका मे ले जाकर उन्हे टिकाया। बीस सहस्र भिक्षुओ की मत्र-ध्वनि से वह वाटिका ध्वनित-प्रतिध्वनित हुई!

(नेपथ्य मे मत्रध्वनि का स्वर सुनाई पड रहा है)

यशोधरा—अब भी वह मत्र-ध्वनि सुनाई पड रही है, परिचारिके!

परिचारिका—ऍं! हाँ, यह तो मत्रध्वनि ही है—इतनी निकट? तो क्या भिक्षुवृन्द नगर मे आ रहे है?

यशोधरा—तू देख तो आ कि यह क्या है?

(परिचारिका जाती है)

यशोधरा—हाँ, हाँ, यह मत्रध्वनि ही तो है! तो क्या वह नगर मे आ रहे है? क्या वह यहाँ भी आवेगे? आना ही पडेगा उन्हे! क्यो नही आवेगे वह? हृदय, हृदय! तू शकाशील मत बन! मस्तिष्क, मस्तिष्क! तू भूलभूलैया में मत डाल। वह आवेगे! अवश्य आवेगे! अरे, मत्रध्वनि तो अब बिल्कुल निकट होती आ रही है! क्या! वह आ रहे है! आ रहे है!

(दौडता हुआ राहुल आ रहा है)

राहुल—माँ, माँ, वे लोग आ रहे है। ओह, माँ, कितनी बडी भीड है, कैसे लग रहे है वे। तू क्यो नही देखती माँ। प्रकोष्ठ पर चल न।

यशोधरा—नही, नही। अधीर मत बन बेटा। तू यही रह, यही रह। यही आवेगे, वे यही आ रहे है।

राहुल—यही आवेगे? तो दादाजी क्यो उस ओर दौडे हुए जा रहे थे, माँ?

यशोधरा—तुम्हारे दादाजी जा रहे थे?

(परिचारिका का प्रवेश)

परिचारिका—हाँ, छोटी रानी। महाराज भी वहाँ जा पहुँचे है। आह।

यशोधरा—इतनी व्याकुल मत बन परिचारिके। बता, क्या देख आई?

परिचारिका—उफ। सारे नगर मे शोक का समुद्र उमड रहा है, छोटी रानी। कुमार अपनी भिक्षु-मडली को लेकर नगर मे भिक्षाटन के लिए प्रवेश कर रहे है' राजपथ पर अपार भीड है। अट्टालिकाओ पर नर-मुड ही नर-मुड। झरोखो से कुल-कामिनियाँ झाँक रही है। द्वारो पर माताये सर्वोत्तम भिक्षा लिये खडी है। सबकी आँखो मे आँसू। उन आँसूओ के समुद्र मे ज्वार तब आया ओह।

यशोधरा—बोल, परिचारिके, बोल। हाँ, उन आँसुओ के समुद्र मे ज्वार तब आया

परिचारिका—उन आँसूओ के समुद्र मे ज्वार तब आया छोटी-रानी, जब लोगो ने देखा, महाराज पाँव-पयादे, धोती का छोर सम्हालते, दौडते हुए आ रहे है। वह दौडते हुए कुमार के सामने जा खडे हुए और बोले—'बेटा, बेटा, यह क्या कर रहे हो?' सुनकर कुमार मुस्कुरा पडे और अपने भिक्षापात्र को आगे बढाते हुए कहा—'अपने कुल का धर्म निबाह रहा हूँ, महाराज।'

यशोधरा—कुल का धर्म?

परिचारिका—हाँ, कुमार ने यही कहा। सुनकर महाराज बोले—'शाक्यकुल का धर्म भिक्षाटन करना नही है।' तुरत कुमार का चेहरा

गम्भीर हो गया और वह बोले—'महाराज, यह आपके सामने जो खड़ा है, वह शाक्यकुल का सिद्धार्थ नहीं है; यह तो बुद्धकुल का तथागत है।'

यशोधरा—शाक्यकुल का नहीं,. . बुद्धकुल का तथागत।

परिचारिका—हाँ, कुमार ने यही कहा। सुनते ही महाराज की आँखों से एकबारगी आँसू झरने लगे। महाराज फूट-फूट कर रोने लगे; सारे लोग रोने लगे। द्वारो पर मातायें रोने लगीं; छज्जो पर गृह-देवियाँ रोने लगीं। किन्तु महाराज को जैसे तुरत भान हुआ, यह क्या कर बैठे वह! वह सम्हल कर बोले—'तो पहली भिक्षा मेरे ही द्वार पर ग्रहण करे तथागत!' और, छोटी रानी, कुमार अपनी मडली के साथ यही आ रहे है!

(प्रजावती का प्रवेश)

प्रजावती—बेटी, बेटी, सिद्धार्थ द्वार पर खड़ा है बेटी और तू यहाँ बैठी है? चल बेटी, उसकी अगवानी कर। इस भीड-भाड़ में भी उसकी आँखे जैसे तुम्हे ही खोज रही है, बेटी।

यशोधरा—खोज रही है, तो खोज ही लेगी माताजी।

प्रजावती—हाँ, खोज लेंगी, पर अगवानी करना तो तुम्हारा धर्म है, यशोधरे।

यशोधरा—माताजी, क्षमा करे—मैंने उनको नहीं छोड़ा था, उन्होंने मुझे छोड़ा था! और अब यह उनका धर्म है कि..

प्रजावती—मान मत कर बेटी, मान मत कर। आधे युग के बाद मेरा बेटा लौटा है।

यशोधरा—आप घबरायें नहीं माताजी, अगर मेरा प्रेम सच्चा है, अगर मेरी साधना सच्ची है, तो उन्हे मेरे पास आना ही पड़ेगा, माताजी। वह मोई को छोड सकते थे, जगी उन्हे .

(बुद्ध का प्रवेश)

बुद्ध—मै आ गया भद्रे!

यशोधरा—आ गये! आह! (चरणो पर गिर पड़ती है)

बुद्ध—उठो भद्रे! (उठाते है)

यशोधरा—नाथ !

बुद्ध—कल्याण हो भद्रे ! तुम्हारा हठ रहा न ? अब विदा दो !

यशोधरा—इस बार आप अकेले न जा सकेंगे, नाथ !

बुद्ध—अभी कपिलवस्तु मे कुछ दिन रहूँगा, भद्रे ! इस समय तो चला। (मुँडकर चलते है)

राहुल—माँ, माँ !

यशोधरा—ओह, तू कहाँ था बेटा ? देख, तेरे पिताजी वह आँगन मे जा रहे है, उनसे अपनी पैतृक सम्पत्ति माँग !

राहुल—(बुद्ध के निकट दौडकर जाता है) भन्ते, आपकी छाया बडी सुखद है !

बुद्ध—क्यो, पैतृक सम्पति चाहिये तुम्हे ?

राहुल—माँ ने आज्ञा दी है !

बुद्ध—तो सारिपुत्र, राहुल को प्रवज्जित करो !

प्रजावती—बेटे, बेटे, यह क्या कर रहे हो बेटे ! राहुल राहुल ! ओ मेरे मुन्ना ! तुम्हारे बिना कैसे जीऊँगी—कैसे जीऊँगी रे ! हाय ! आह ! (फूट कर रोने लगती है)

यशोधरा—माताजी, किसी बच्चे को उसकी पैतृक सम्पत्ति से वञ्चित करना उचित नही। राहुल जा, प्रवज्जा ले !

६

[शुद्धोदन का मनस्ताप :: कपिलवस्तु का राजप्रासाद]

शुद्धोदन—(अकेले घूमते और कहते जाते है) सब चले गये, सभी चले गये। जब एक गया, तो दूसरे, तीसरे को देखकर जीता रहा ! अब सब जा रहे है ! नन्द ! तुम्हे भी यह क्या सूझा बेटे। विलास मे जो डूबा था, सुन्दरियो से जो चिपका था, बेटा, यह क्या जादू हुआ, कि तुम भिक्षु बन गये। नन्द और भिक्षु !

(भीतर से सवेत स्वर—'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय')

हाँ, बहुतो के हित के लिए, बहुतो के सुख के लिए, नन्द भी भिक्षु बन गया। वह भी चला। अच्छा। तुम दोनो भाई गये—सिद्धार्थ

गया, नन्द गया। किन्तु, यह कहाँ का न्याय था बेटे, कि राहुल को भी लेते गये। राहुल! मेरे जीवन का एक मात्र सहारा। उसके बिना क्या मैं जी सकूँगा? तुम बहुतो के हित की, बहुतो के सुख की बात कहते हो, तो क्या उन बहुतो मे मै भी एक नही हूँ? फिर मुझे क्यो दुख मे रखे जा रहे हो। ओह!

(प्रजावती का प्रवेश)

प्रजावती—महाराज, यह विलाप शाक्यकुल के अनुरूप नही!

शुद्धोदन—ओह, प्रजावती, प्रजावती, सब चले गये प्रजावती, सभी चले गये! सिद्धार्थ गया, नन्द गया, राहुल गया। उदयी गया, आनन्द गया, अनिरुद्ध गया! शाक्यकुल मे एक भी प्रतिभावान नही बच रहा, प्रजावती! सब चले गये, सभी चले गये! उपाली नाई तक गया। उपाली, उपाली! तुम्हारा भी एक भाग्य था भाई! सुना, सबसे पहले तुम्हे ही भिक्षु बनाया गया, जिसमे शाक्य-कुल के सभी राजकुमार तुम्हे ही प्रणाम किया करे! सिद्धार्थ, कैसी समता की धारा बहा दी है तुमने? क्षत्रियकुमार नाई को प्रणाम किया करे। प्रजे, प्रजे! एक नई धारा बह गई है प्रजे। वह धारा किसी के पैर को स्थिर नही रहने देगी, सबको भसा ले जायगी, बहा ले जायगी!

प्रजावती—देख रही हूँ महाराज, देख रही हूँ!

(भीतर से फिर सवेत स्वर—'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय')

शुद्धोदन—हाँ हाँ, बहुजन हिताय! बहुजन सुखाय! बहुतो के हित के लिए, बहुतो के सुख के लिए, दो दो बेटे गये, पोता गया, परि-जन गये, पुरजन गये! सब गये, सभी गये, सारा शाक्यकुल जा रहा है—जाओ, जाओ!

(यशोधरा का प्रवेश)

यशोधरा—पिताजी, आज्ञा

शुद्धोदन—आज्ञा! ओहो, तो तुम भी चली! बेटे गये, पोता गया, अब पतोहू भी चली! बहुतो के सुख के लिए, बहुतो के हित के लिए! तो प्रजावती, तुम भी क्यो नही जाती? जाओ भाई, जाओ, तुम सब चले जाओ! जाओ, सारे राज-भवन को सूना कर दो, सारी कपिलवस्तु को सूना कर दो! सभी जाओ, एक-एक स्त्री पुरुष जाओ! बहुतो के सुख के लिए, बहुतो के हित के लिए!

(सवेत स्वर—'वहुजन हिताय, वहुजन सुखाय')

हॉ, उच्च स्वर से गाओ, ऐसे स्वर से कि ससार मे कोई दूसरा स्वर नही सुनाई पडे ! इतने उच्च स्वर से कि ससार का सारा विलाप-प्रलाप इसमे ढँक जाय—सारा हाहाकार और आर्त्तनाद ढँप जाय ! (प्रजावती और यशोधरा की ओर ध्यान देकर) तो तुम दोनो यहाँ खडी क्यो हो—जाओ, जाओ ! प्रजावती, तुम भी आज्ञा माँग रही हो, प्रजावती ! तुम्हारा मुंह नही खुल रहा, किन्तु तुम्हारी ऑखे आज्ञा माँग रही है प्रजे ! हाँ, हाँ, वाप अपने वेटे को भले ही छोड दे, सास अपनी पतोहू को क्यो छोडे ? जाओ, तुम दोनो भी जाओ—आह ! आज माया न हुई, नही तो वह भी जाती .

प्रजावती—महाराज, महाराज, ऐसा अधीर

शुद्धोदन—अधीर और मै न होऊँ ? दो-दो वेटे गये, पोता गया, परिजन गये, पुरजन गये, पत्नी चली, पतोहू चली, और मैं अधीर न होऊँ ? ओह ! लेकिन तुमलोग यहाँ क्यो खडी हो ? जाओ, जाओ

(दोनो चरण छूकर जाती है)

चले गये, सव चले गये ! बहुतो के हित के लिए, वहुतो के सुख के लिए ! किन्तु शुद्धोदन, तुम यहाँ क्यो हो ? किनके लिए, किसके लिए ! उत्तर क्यो नही देते शुद्धोदन, उत्तर क्यो नही देते शुद्धोदन ? शुद्धोदन !

[प्रमत्त-सी चेष्टा. यवनिका पतन]

विरोध और विजय

१

[देवदत्त का विरोध :: राजगृह का एक अंचल]

आनन्द—तुम यहाँ कैसे देवदत्त! तथागत के धर्ममार्ग ने आखिर तुम्हे भी खीच ही लिया?

देवदत्त—तथागत! तथागत! ये ढोग की बाते राजगृह के भोलेभाले निवासियो के लिए रहने दो, आनन्द! जिसने अपने कुल-धर्म को डुबोया, जिसने कुल को डुबोया, उसका नीच मार्ग तुम ऐसे नीचो को ही खीच सकेगा!

आनन्द—देवदत्त, देवदत्त! इस तरह की बाते जिह्वा पर मत लाओ! मानता हूँ, तथागत जब सिद्धार्थकुमार थे, तभी से तुम उनसे प्रतिस्पर्द्धा करते रहे, जलते रहे, किन्तु ईर्ष्या की भी एक सीमा होती है देवदत्त! अब तथागत जहाँ पहुँच गये है . .

देवदत्त—वहाँ से उसे नीचे ढकेलूँगा, उसे रसातल भेजूँगा। ढोग, ढोग! इस ढोग ने देश का काफी सर्वनाश किया, अब इसे रोकना ही है आनन्द!

आनन्द—सर्वनाश किया! कैसी झूठी बाते कर रहे हो, देवदत्त! तथागत की इस मध्यम प्रतिपदा ने देश मे जीवन की एक नई लहर दौडा दी है! चारो ओर हृदय-मंथन हो रहा है, क्षुद्र कुटीरो ने

लेकर अट्टालिकाओ तक मे जीवन के प्रति लोगो मे एक नये प्रकार की धारणा जग रही है। वहुत लोगो के हित के लिए, वहुत लोगो के सुख के लिए, लोक-कल्याण के लिए, देवताओ की प्रसन्नता के लिए, देश के नवयुवक सुख-ऐश्वर्य पर, औज-मौज पर लात मार रहे है। ऐसा दृश्य इस आर्यभूमि मे कभी देखा गया था देवदत्त ?

· **देवदत्त**—हिस् क्या बके जा रहे हो ? तुम देखते नही, इसने ऐसी सनक देश मे चला दी है कि सारे देश मे कोहराम मच रहा है। माताओ की गोद से यह बच्चो को खीच रहा है, पत्नियो की सुहाग-शय्या से यह पतियो को खीच रहा है— वहने भाइयो के नाम पर रो रही है, वाप बेटे के लिए उसाँसे भर रहे है। जहाँ देखो, वही माताओ, पत्नियो, वहनो के चीत्कार, हाहाकार ! नही नही, इस अनर्थ को रोकना होगा, इस सनक को रोकना होगा ! तथागत, तथागत ! दम्भ मे इस तरह बाते करता है कि जैसे ईश्वर का अवतार ही हो। इस दम्भ को धूल मे न मिला दूँ, तो मै शाक्यकुल

आनन्द—शाक्यकुल की शपथ मत खाओ, देवदत्त ! जो करना हो करो। उस कुल का नाम लेकर उसे अपवित्र करने का तुम्हे कोई अधिकार नही, जिसने ससार को इतना बडा महात्मा दिया ! तुम न होगे, हम न होगे, किन्तु तथागत

देवदत्त—फिर तथागत ! जाओ आनन्द, अपने तथागत से कह दो—देवदत्त राजगृह मे आया है, वह सावधान रहे। जिस सम्राट् विम्वसार के वल पर वह अपनी धौस ससार पर जमा रहा है, वह विम्वसार भी अपनी खैर मनावे ! (गुस्से मे) सिद्धार्थ, सम्हलो, विम्वसार, सम्हलो !

आनन्द—मार भी जिसका कुछ न विगाड़ सका, उसका तुम क्या कर लोगे देवदत्त ?

देवदत्त—मार न विगाड सका, क्योकि वह कल्पना का देवता है ! देवदत्त ठोस मानव है। फिर मार ने क्या किया और क्या नही, इसका कोई प्रमाण है ? किन्तु देवदत्त जो करेगा, उसे ससार देख लेगा ससार ! जाओ, सिद्धार्थ से कहो—सम्हले ! जाओ, विम्वसार से कहो, सम्हले ! अव विम्वसार की जगह अजातशत्रु राज करेगा, और तथागत की जगह देवदत्त .

आनन्द—ओहो ! ऐसी महत्त्वाकाक्षा ! जाता हूँ देवदत्त, जाता हूँ ! तुमने वहुत करके कौन समय वर्बाद करे। अर्हत तुम्हे सुवुद्धि दे !

२

[षड्यंत्र :: गृद्धकूट का प्रान्तर]

(नेपथ्य मे चट्टान टूटकर गिरने की आवाज)

उदय—आनन्द, आनन्द! यह कैसी ध्वनि है आनन्द!

आनन्द—अरे, शायद चट्टान टूटकर गिर रही है! चट्टान! चट्टान!

(आवाज नजदीक आती है)

उदय—बचो, बचो, आनन्द!

आनन्द—हटो, हटो, भिक्षुओ!

उदय—आनन्द, आनन्द, तथागत कहाँ है आनन्द?

आनन्द—तथागत! तथागत तो वहाँ एक शिला-पट पर बैठकर ध्यान कर रहे थे! अहो, यह चट्टान तो उसी तरफ लुडकती मालूम पडती है!

उदय—(चिल्लाता है) तथागत!

आनन्द—(उदय के स्वर मे स्वर मिलाकर) तथागत!

(नेपथ्य से आवाज आती है—'तथागत!' तथागत!' फिर जोरो का अट्टहास सुनाई पडता है)

उदय—ओह! यह तो देवदत्त का स्वर मालूम होता है!

आनन्द—हाँ, हाँ! यह देवदत्त का स्वर है! यह उसीका षड्यंत्र मालूम होता है, उदयी! ओह, तथागत को बचाओ।

(दोनो नेपथ्य मे जाते है! भीतर से जोरो की आवाज, बाहर गर्द-गुबार! फिर शान्ति! उदय और आनन्द आते है!)

आनन्द—कैसी विचित्र लीला उदयी! उफ, हम देख रहे थे, चट्टान सीधे तथागत के सिर पर लुडकती आ रही थी, लुडकी आ रही थी कि अचानक वह दो टुकडे होकर दोनो तरफ बिखर गई!

उदय—और, तथागत उसी प्रकार ध्यानस्थ बैठे रहे! सम्यक् समाधि का कैसा ज्वलन्त उदाहरण! तथागत सचमुच अवतार है आनन्द! चट्टान भी उनपर फूल बनकर गिरती है—अहा!

आनन्द—एक दिन तो मैंने इससे भी एक आश्चर्यजनक दृश्य देखा था, किन्तु किसीसे कहा नही। क्योकि कही लोग अलौकिकता के पीछे उनके लौकिक सन्देश को न भूल जायँ।

उदय—क्या देखा था आनन्द ?

आनन्द—मालूम होता है, देवदत्त ने तथागत के विरुद्ध षड्यत्र का एक जाल-सा बिछा रखा है। और इस षड्यत्र मे राजपुरुष, श्रेष्ठिवर्ग और पुरोहित विशेषरूप मे भाग ले रहे हैं। वे तथागत और सम्राट विम्बसार के प्राण के पीछे हाथ धोकर पडे हैं।

उदय—अरे-अरे।

आनन्द—उस दिन श्रीगुप्त सेठ की पत्नी आई थी न तथागत को निमत्रण देने ?

उदय—हाँ-हाँ-। तुम ही तो तथागत के साथ गये थे।

आनन्द—जब श्रीगुप्त को मालूम हुआ कि उनकी धर्मानुगामिनी पत्नी ने तथागत को निमत्रित किया है, तब वह आगबबूला हो उठा—ओहो, यह बीमारी मेरे घर मे भी घुस गई। अच्छा, तो मैं इस बीमारी के मूल को ही आज समाप्त कर देता हूँ, ऐसा निश्चय कर

उदय—उसने तथागत की जान लेने की साजिश की। क्यो ? तो क्या हुआ आनन्द ?

आनन्द—श्रीगुप्त ने एक गर्हित षड्यत्र किया था। जिस पथ से तथागत को जाना था, उसके बीच उसने एक खाई खुदवाई थी और उसमे जलते हुए कोयले रखवा कर ऊपर इस तरह राह बनवा दी थी कि नीचे का रहस्य मालूम न हो। मेरे मन मे श्रीगुप्त के प्रति कुछ खटका था, मैंने निवेदन किया कि श्रीगुप्त नीचातिनीच कार्य कर सकता है, आप उसके घर न जायँ। किन्तु तथागत ने कहा—भिक्षु निमत्रण को अस्वीकार नही कर सकता।

उदय—आह, कैसी महानता।

आनन्द—तो भगवान उस ओर चले। उस खाई पर पहुँचे, निकट जाते ही भाँप गये, मुस्कुरा पडे और कहा—आनन्द, तुम यही ठहर जाओ, मुझे कुछ दूर निकल जाने दो। मैं खडा हो गया। भगवान आगे बढे, बढते गये। अब वह खाई के उस पार थे और लो, यह क्या ? जहाँ खाई थी, जिसमें दहकते कोयले थे, वहाँ एक सरोवर हो गया और

उसमे कमल के फूल खिल आये, जिनपर भौरे गुजार करने लगे। भगवान ने हँसकर मुझसे कहा— देखो आनन्द, यह 'मजु-गुज-भृग-सरोजिनी!'

उदय—तथागत अलौकिक व्यक्ति है आनन्द! किन्तु, कितना आश्चर्य, ज्यो ही अलौकिकता की चर्चा कीजिये, कह उठते है—'आँखे हमे धोखा देती है, इन्द्रियाँ हमे धोखा देती है, फिर जो ये बतावे, वे ही सदा सत्य कैसे होगे भिक्षुओ!

आनन्द—उनकी अलौकिकता का यह भी एक प्रमाण है, उदयो! हम धन्य है कि उनके साहचर्य का सुअवसर हमे प्राप्त हो सका।

(समय के व्यवधान की सूचना के लिए कुछ देर रगमच की रोशनी धीमी पड जाती है, फिर नेपथ्य मे कोलाहल सुनाई पडता है—'भागो-भागो, मतवाला हाथी आ रहा है, मतवाला हाथी, भागो, भागो'। रह-रहकर हाथी का चिग्घाड भी सुनाई पडता है। फिर रगमच पर भगवान वुद्ध और आनन्द दिखाई पडते है।)

आनन्द—तथागत, तथागत! मतवाला हाथी!

वुद्ध—(कुछ नही बोलते, मद गति से बढ़ते जा रहे है)

आनन्द—तथागत, तथागत! मतवाला हाथी!

बुद्ध—(फिर कुछ भी नही बोलकर बढते जा रहे है)

आनन्द—तथागत, तथागत!

(कोलाहल और निकट—'भागो, भागो', के स्वर के बीच हाथी का चिग्घाड निकटतर)

वुद्ध—(फिर भी कुछ नही बोलते)

आनन्द—(करुण स्वर मे वुद्ध के आगे जाकर) तथागत, तथागत! मतवाला हाथी, तथागत!

वुद्ध—आनन्द, मतवाला हाथी देखकर आदमी तो मतवाला न वने! (आगे वढ़ते है)

आनन्द—(रोते हुए) ओह, तथागत, तथागत—आह! आह! (नेपथ्य के एक कोने से विद्रूप के स्वर मे आवाज आती है—'ओह, तथागत, आह! आह! आह!' फिर अट्टहास होता है)

वुद्ध—(वढते ही जाते है)

आनन्द—ओहो, षड्यत्र, षड्यत्र! तथागत, षड्यत्र!

बुद्ध—शान्त, आनन्द, शान्त! हम अपने पथ को न छोडे, तो संसार को भी अपने पथ पर चलने को विवश होना पडेगा आनन्द! और षड्यत्र! सत्य के प्रतिकूल कोई षड्यत्र चल नही सकता है!

आनन्द—नही शास्ता, नही। ओह, ओह! वह निकट आ गया हाथी, वह आ गया, हाथी, हाथी! (नेपथ्य से हाथी का चिग्घाड, फिर हाथी की सूँड रगमच पर दिखाई पडती है: लोगो के हाहाकार और चीत्कार के शब्द)

बुद्ध—गजराज, गजराज! (जैसे वह रुक गया हो : सूँड पर हाथ फेरते हुए) ओहो, तुम रुक क्यो गये गजराज? क्यो रुक गये? रुक क्यो गये और अब झुक क्यो रहे हो? तथागत का आसन तुम्हारे कधे पर नही हो सकता गजराज! उसने तुम्हारी पीठ कब न छोड दी! दुनिया मे अशान्ति इसलिए है गजराज कि कोई किसी के कधे पर चढकर चलना चाहता है। सत्य के पथ पर अपने ही पैरो पर चलना होता है। तुम अपने रास्ते जाओ, तथागत अपने रास्ते! (सिर ऊपर करके) ओहो, तुम्हारी आँखो से आँसू का यह झरना चल रहा है! आदमी भी अपनी भूलो पर यो ही पश्चाताप करता! जाओ गजराज! (सूँड अदृश्य हो जाती है)।

आनन्द—तथागत की जय! तथागत की जय!
(नेपथ्य मे 'तथागत की जय', 'तथागत की जय' की ध्वनि-प्रतिध्वनि)

बुद्ध—आनन्द, यह मेरा चमत्कार नही, सत्य का चमत्कार है—सत्य के मध्यम मार्ग का चमत्कार है! सत्य की जय कहो, सत्य के मध्यम मार्ग की जय कहो!

३

[मृत्यु पर विजय :: राजगृह का एक अंचल]

गौतमी—(रोती हुई) हाय, ऋषिवर, ओह, तथागत! मेरे बच्चे को बचाइये ऋषिवर, मेरे बच्चे को बचाओ तथागत! हाय, मेरा बच्चा, फूल-सा बच्चा, चाँद-सा बच्चा! बचाइये ऋषिवर, बचाओ तथागत! (पैरो पर गिर पडती है)

बुद्ध—गौतमी, अधीर मत बन गौमती! बात क्या है, क्यों तू इस तरह बिलख रही है!

गौतमी—मैं अभागी हूँ, ऋषिवर। उफ, कैसी अभागी! गरीब के घर जन्मी, धनी के घर ब्याही गई। गरीब की बेटी, धनी के घर! वहाँ मेरा अपमान होता रहा ऋषिवर! दिन-रात अपमान! तब यह बच्चा आया, गोद मे यह हँसा कि मेरा भाग्य हँसने लगा! पूर्णचन्द्र-सा मेरा बेटा, पूर्णिमा की रात-सी मैं—सौभाग्य की चन्द्रिका से ओतप्रोत। किन्तु, हाय तथागत! यह क्या हुआ तथागत? हाय, हाय!

बुद्ध—क्या हुआ गौतमी? यह रोना, ऐसा रोना। रोना अनार्य है, गौतमी!

गौतमी—अनार्य? क्या कहा देव! रोना अनार्य? हाय, चाँद-सा बेटा चल बसे और माँ न-रोये! हाँ-हाँ, चाँद-सा हँसता, उजाला फैलाता अभी वह घर से निकाला था, यह कहते कि तुम्हारी पूजा के लिए फूल लाने जा रहा हूँ माँ! मेरा फूल मेरी पूजा के लिए फूल लाने गया और उसे यह क्या हो गया? 'साँप साँप!' चिल्लाता हुआ मेरा बेटा आँगन मे आ गिरा! अरे, यह क्या? उसके मुँह से झाग निकल रहा, उसका शरीर पीला पड रहा—फिर नाक से रक्त! मैं उसे गोद मे समेटे थी कि लोगो ने कहा—गौतमी, तू अभागी है, छोड दे इसे, यह चल बसा! देव, देव, मेरे बच्चे को बचाइये देव, इसे जिलाइये देव! मैं आपका पैर छोड नही सकती, आपका पिंड छोड नही सकती! मेरा बच्चा, फूल-सा बच्चा!

बुद्ध—ओहो, तो केवल इसी के लिए इतना रुदन! तुम्हारा बच्चा अभी जी उठेगा गौतमी, अभी!

गौतमी—जी उठेगा? देव! देव! नाथ! नाथ!

बुद्ध—हाँ-हाँ, अभी जी उठेगा। लेकिन एक काम करना है तुम्हे। तुम जाओ और एक मुट्ठी पीली सरसो उस घर से माँग लाओ, जिस घर मे कभी कोई मरा न हो। सरसो आई और छूम-तर हुआ! हाँ, उस घर से, जिसमें कोई मरा नही हो!

गौतमी—जो आज्ञा देव, जो आज्ञा नाथ! मैं अभी चली, मैं अभी गई! (जाती है)

[रगमच की रोशनी थोडो देर के लिए मद पड जाती है]

बुद्ध—(रोती आती हुई गोतमी को देखते हुए) क्यो गौतमी! क्या वात है? सरसो मिली न? लाओ सरसो, अभी तेरा वेटा जी उठता है! अभी!

गौतमी—(उसाँसे लेती हुई, हिचकियो मे) न मिली, देव, न मिली! जिस-जिस घर मे गई, सवने अपनी ही विपता सुनाई,—किसी का वेटा मर चुका था, किसी का पति, किसी का भाई, तो किसी का देवर! किसी के घर आज ही मरा था, किसी के कल, किसी के परसो, किसी के तरसो! परसो, तरसो, नरसो—लेकिन एक भो घर नही मिला, जहाँ से मुझे सरसो मिल पाती! हाय, मेरा बच्चा!

बुद्ध—ओर तू इसके वाद भी रो रही है, गौतमी! दुनिया मे ऐसा कोई नही है, जो मर नही जायगा। दुनिया मे ऐसा कोई घर नही, जिसमे कोई मर न चुका हो। मृत्यु आर्य सत्य है, गौतमी! सवको मरना है, सबको जाना है। फिर रोना क्यो, धोना क्यो? कोई आज गया, कोई कल जायगा! जाना आवश्यक है— मृत्यु अनिवार्य है! हाँ, आदमी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है, अमरता प्राप्त कर सकता है। उस अमरता का मार्ग ही सत्य का मार्ग है गौतमी! रोना धोना छोडो, सत्य का मार्ग ग्रहण करो! सत्य का मध्यम मार्ग!

गौतमी—धन्य हो तथागत, धन्य! मृत्यु और अमरता का व्यावहारिक ज्ञान देकर आपने आज मेरी आँखे खोल दी—ससार की आँखें भी इसी तरह खुले!

४

[फिर षड्यंत्र :: श्रावस्ती का पूर्वाराम]

आनन्द—तथागत ने एक वार कहा था—'रमणीय आनन्द राजगृह, रमणीय गृद्धकूटो पर्वतो!' वही तथागत श्रावस्ती में इस तरह रम गये है कि मालूम होता है, उनका यह स्थायी आवास हो चला है, उदयी!

उदय—ठीक कह रहे है आनन्द, आप। जहाँ राजगृह मे पाँच वर्षावास किया, वहाँ श्रावस्ती में पच्चीस वर्षावास करते हो गये।

अनाथ पिंडक धन्य है और धन्य है उसके द्वारा सघ को प्रदत्त जेत-वन! कहा जाता है, इस विहार की भूमि पर सोने की मुद्राये विछाकर अनाथ पिंडक ने राजकुमार जेत से क्रय किया था। उसकी वे स्वर्ण-मुद्राये धन्य हुई!

आनन्द—और, जो कसर थी, उसे पूरा कर दिया मृगार-माता विशाखा ने। अपने नौ करोड के आभूषणो को वेचकर उसीसे उसने यह पूर्वाराम क्या वनाया, तथागत को सदा के लिए भक्ति-सूत्र में वाँध लिया!

उदय—अग देश की यह कन्या उरवेला की सुजाता की ही तरह इतिहास मे अमरता प्राप्त करेगी, आनन्द!

(रुनझुन की ध्वनि)

उदय—इस कुवेला मे यह कौन नागरिका आ रही है, आनन्द!

आनन्द—माणविका है, चेचा माणविका! यह सदा कुसमय आती है और कुसमय लौटती है! इसके नित्य नये शृगार! यह चकमक, यह रुनझुन! मुझे इसका चलन अच्छा नही दिखाई पडता है उदयी!

उदय—तो तथागत से क्यो नही कह देते, कि इसे सघ में प्रवेश न करने दे!

आनन्द—इतने दिनो तक साथ रहने पर भी तथागत को तुम नही समझ सके, उदयी! लोगो की नजरो मे जो जितना अधिक पतित, तथागत का वह उतना ही अधिक प्यारा! पतितो पर प्रयोग करने मे उन्हे वही आनन्द आता है जो मणिधर नागो से खिलवाड करन मे सँपेरे को! किन्तु, सँपेरे को तो कुछ भय भी होता है, पर जिसने मार पर विजय प्राप्त कर ली, उनके लिए भय कहाँ?

उदय—शायद यहाँ भी देवदत्त की आत्मा काम कर रही हो, इसलिए हमे सचेत रहना चाहिये, आनन्द!

आनन्द—शायद की क्या वात? काम कर रही है, उदयी! मैं देख रहा हूँ, कुछ दिनो से अनाथ पिंडक को लेकर, महाराज प्रसेनजित को लेकर और खासकर विशाखा को लेकर तरह-तरह की वाते उडाई जा रही है! तरह-तरह के षड्यत्र की भनक भी लगी है मुझे! मुझे तो ऐसा लगता है, माणविका भी उसी षड्यत्र का एक पुर्जा न हो। सुना है, वह कुछ वहकी-वहकी वाते भी किया करती है . .....

उदय—क्या कहती है?

आनन्द—उसे जिह्वा पर लाना भी पाप होगा उदयी!

उदय—ओह!

५

[सत्य की विजय :: पूर्वाराम का सभामंच]

माणविका—(नेपथ्य के भीतर) मुझे क्यो रोकते हो, भिक्षु, मुझे जाने दो, जाने दो। मुझे भगवान से निवेदन करना है, मुझे जाने दो। जाने दो।

बुद्ध—कौन किसको रोक रहा है? धर्म का द्वार सबके लिए खुला है!

आनन्द—शास्ता, वह माणविका मालूम होती है। माणविका के लक्षण अच्छे नही है। वह अट-सट बकती फिरती है। मैंने ही भिक्षुओ को कह दिया था कि भगवान के निकट मत आने दो।

बुद्ध—नही-नही, आनन्द यह अनुचित है, यह अनुचित! जिज्ञासुओ को रोकना ज्ञान-मन्दिर का द्वारा बन्द कर देना है। यह अपराध है—घोर अपराध! भिक्षुओ, उसे आने दो।

(गर्भिणी के रूप मे माणविका आती है)

माणविका—अभी अभी आपका उपदेश सुन रही थी, तथागत! ओह, आपका उपदेश—कितना मधुर, कितना सुन्दर, कितना कोमल! किन्तु, (अपने फूले हुए पेट की ओर इगित करती) कब तक मै इसे छिपाऊँ, तथागत? अब तो नवाँ महीना आ गया! आपने जो आशीर्वाद दिया, वह पूर्णत प्रतिफलित हो चुका! मैं इस फल को अब कहाँ रखूँ? न मुझे प्रसूति-गृह बताते हो, न इसके लिए कोई प्रबध करते हो! तुम्हारे उपासको मे कोसलराज है, अनाथ पिडक है, महा उपासिका विशाखा है। इनमे से किसी को बोल दीजिये न!

(श्रोताओ मे हलचल, तरह-तरह की बाते—'महान अनर्थ', 'महान अनर्थ'! 'तथागत पर अभियोग', 'यह घृणित अभियोग' 'महान अनर्थ' 'महान अनर्थ!')

माणविका—हाँ, महान अनर्थ! तथागत पर अभियोग? मैं तो इसीलिए भागती रही; किन्तु तथागत, आप बोलते क्यों नहीं? क्यों मुझे कुवेला बुलाते रहे? क्यों असमय रोकते रहे! मैं तो इसीलिए भागती रही; लेकिन अब क्या करूँ? तथागत, तुम्हारा जादू-टोना मुझपर तो चला; किन्तु इसपर (पेट की ओर इंगित) कुछ काम न कर सका। अब तो यह बच्चा प्रसूति-गृह माँगता है! मैं कहाँ जाऊँ? आह! मैं कहाँ बैठकर इस अभागे का जन्म दूं? ओह, ओह! (रुदन)

(श्रोतामंडली में कोलाहल बढ़ता जाता है—'ओहो, अनर्थ', 'महान अनर्थ! 'तथागत बोलते क्यों नहीं हैं?' 'राजा प्रसेनजित का सिर झुका जा रहा है?' 'अनाथ पिंडक और विशाखा की दशा तो ..' किन्तु तथागत क्यों नहीं बोल रहे?')

बुद्ध—तथागत बोलेंगे, जिज्ञासुओ, तथागत बोलेंगे! सत्य को प्रकट होने में समय लगता ही है, जिज्ञासुओ! (माणविका से) क्या है बहन माणविका, क्या बात है? तू यह क्या बोल रही है? तेरे कहने की झुठाई-सचाई को या तो तू जानती है, या मैं जानता हूँ; बोल, बात क्या है?

माणविका—हाँ, महाश्रमण, या तो आप जानते हैं, या मैं जानती हूँ! चुपचाप किये का फल ऐसा होता ही है। आज आप मुझे बहन कहकर पुकार रहे हैं—आह, अपने प्रेम-सम्बोधनों को भी आप भूल गये! हाय.... ..

बुद्ध—हाय-हाय मतकर माणविके, इधर देख और बोल!

माणविका—ओह, ओह, मैं कहाँ फँस गई—मैं इसे क्या करूँ! (पेट पीटने लगती है)

(इसी समय बिजली कड़क उठती है, सारी सभा स्तब्ध हो जाती है; लोग देखते हैं, पेट पर काठ की जो हंडिका माणविका ने बाँध रखी थी, वह उनके पैरों पर गिर गई है और उसकी उँगलियों को काट डाला है। नागरिक लोग—'यह क्या माणविके!' 'लकड़ी की हाँडी बाँधकर तूने गर्भ बनाया था।' 'धिक्कार है तुझे कलमुँहे'—'ओह तू तथागत पर, सम्यक्सम्बुद्ध पर दोष लगा रही!' आदि बोलते हैं)

बुद्ध—बोल बहिन, बोल! यह क्या हुआ? भंडा फूट गया!

माणविका—(पैरों पर गिरती हुई) क्षमा करें तथागत, क्षमा करें! हमें दुष्टों ने बरगला दिया था! ओह! मैं दुनिया में कौन-सा

मुँह दिखाऊँगी! पृथ्वी, तू मेरे लिए क्यो नही फटती! क्षमा, प्रभो, क्षमा! (पैरो पर गिरती है)

बुद्ध—तथागत के धर्ममार्ग मे ही क्षमा है, माणविके! नागरिको, असत्य का भडा यो ही फूटता है! आप घबराये नही—सत्य के मार्ग पर यो ही अडगे आते है। हम सम्यक् दृष्टि रखे, सम्यक् सकल्प रखे, सम्यक् वचन बोले, सम्यक् कर्म करे, हमारी जीविका सम्यक् हो, हमारे प्रयत्न सम्यक् हो, फिर सम्यक् स्मृति प्राप्त कर हम सम्यक् समाधि प्राप्त करेगे ही! यही धर्म का मार्ग है—सत्य का मध्यम मार्ग है! सदा सत्य की विजय होती है।

६

[अजातशत्रु का पश्चाताप : राजगृह का राज्यप्रसाद]

अजातशत्रु—(घुटने टेकते हुए) मुझे क्षमा करे तथागत, क्षमा करे। आह, मै देवदत्त के बहकावे मे आ गया था। उफ, उसने मुझसे कौन-कौन से कुकर्म न करवाये! वह आप तो डूबा ही ....

बुद्ध—डूबा ही देवदत्त को क्या हुआ सम्राट्?

अजातशत्रु—वही, जो सत्यपथ के विरोधी का होता है। राजगृह मे, श्रावस्ती मे, तरह-तरह के षड्यत्र रचकर भी जब वह सफल नही हुआ, तो उसने आत्महत्या कर ली तथागत!

बुद्ध—आत्महत्या कर ली? देवदत्त ने आत्महत्या कर ली?

अजातशत्रु—हाँ, हमने देखा, एक दिन एक शिला पर उसकी लाश पडी है। उसका सिर फट गया था। बगल मे ही दो बडे बडे प्रस्तरखड थे। मालूम होता था, दोनो हाथो से एक बारगी ही अपने मस्तक पर पत्थर मार लिये थे उसने! चारो ओर रक्त-रक्त हो गया था। लगता था, थोडी देर तक वह खूब तड़पता रहा था—शिला पर उसके घिसटने के चिह्न थे।

बुद्ध—बहकी हुई आत्मा की यही गत होती है, मगधपति!

अजातशत्रु—आप तो बहका ही, मुझे भी बहका छोडा—आह, मै पितृहता बना! मातृहता बना!

बुद्ध—मगधपति मातृहता, पितृहता कहलाये, सचमुच यह महान शोक का विषय है। अहा, बिम्बसार ऐसे धर्मप्राण सम्राट् और बन्दी-गृह मे तडप-तडप कर प्राण दे!

अजातशत्रु—तथागत, उन दिनो की स्मृतियाँ बिच्छू-सी अन्तर-तम मे डक मारती रहती है! मेरी पाप-वृत्ति, उनकी धर्म-भक्ति,—उफ! जब उन्हे कैद मे रखा, उन्होने कहा—'बेटा, ऐसी जगह ही कैद करो, जहाँ से मै दिन-रात गृद्धकूट देखा करूँ!' आह! मैंने यह क्या किया! (फूटकर रोता है)

बुद्ध—यो रोना-धोना उचित नही है, मगधपति! पीछे के कर्मो का प्रायश्चित आगे के कर्मो से ही किया जा सकता है! तुम अब भी ऐसा कर सकते हो कि बिम्बसार द्वारा प्रतिष्ठित धर्म का बिरवा इस राजगृह मे सदा के लिए फूलता-फलता रहे!

अजातशत्रु—अब इस राजगृह मे मै नही रह सकता भगवान! यहाँ के कण-कण मुझे काटते रहते है। यह राजप्रासाद, इसके कक्ष, इसके प्रकोष्ठ, ये राजपथ, ये अट्टालिकाये सब जैसे मेरा विद्रूप करते है। मै सचमुच यहाँ नही रह सकता तथागत! आज्ञा दीजिये कि एक नया राजगृह बसाऊँ और उसी को केन्द्र बनाकर तथागत के सत्य-मार्ग का ससार मे प्रचार कराऊँ।

बुद्ध—नया राजगृह! अच्छी बात, इस नवीन धर्म के केन्द्र रुप एक नवीन नगर ही बसे, मगधपति!

महापरिनिर्वाण

[सप्त अपरिहारणीय धर्म :: गृद्धकूट का शिखर]

बुद्ध—उत्तर ओर देखो, आनन्द! वर्षा के बाद आकाश इतना स्वक्ष हो गया है कि यहाँ से भी हिमालय की धुँधली छाया दिखाई पडती है! हिमालय की तराई! हाँ, कैसी स्निग्ध, सुन्दर! जिसकी गोद मे वैशाली है, पावापुरी है, लुम्बिनो है, कपिलवस्तु है! चलो न आनन्द, फिर एक बार उत्तरापथ की ओर! आह, वैशाली को देखे तो कितने दिन हो गये!

आनन्द—वैशाली से तो आये दिन निमत्रण आ रहा है तथागत! और, इस समय आपके उपदेशो की आवश्यकता भी शायद वैशाली को है!

बुद्ध—'इस समय' से तुम्हारा क्या आशय है आनन्द? क्या वैशाली मे कोई विशेष परिस्थति उत्पन्न हुई है?

आनन्द—हुई नही, लेकिन होगी, तथागत!

बुद्ध—तुम्हारा आशय क्या है?

आनन्द—तथागत, वैशाली के सिर पर इस समय बादल मँडरा रहे है! अभी थोडी देर हुई, मगधपति के प्रधान मत्री वस्सकार आये

थे, भगवान से यह पूछने कि सम्राट् वैशाली पर चढाई करना चाहते हैं, भगवान की क्या आज्ञा होती है।

बुद्ध—क्या कहा, वैशाली पर चढाई। अरे, अब भी अजातशत्रु पर मार का प्रभुत्व है आनन्द। वैशाली का सुन्दर गणतत्र, उत्कृष्ट गणतत्र, गणतत्रो में सर्वश्रेष्ठ गणतत्र। क्या उसपर उसके विष के दाँत गडे हैं। (उत्तेजना में) आनन्द, आनन्द।

आनन्द—तथागत, क्या आज्ञा है, तथागत?

बुद्ध—आनन्द, अजातशत्रु समझ नही रहा है कि वह क्या करने जा रहा है। वह वैशाली पर चढाई करना चाहता है, उसपर विजय प्राप्त करने का हौसला रखता है। यह उसकी धृष्टता है, धृष्टता।

आनन्द—क्यो; ऐसा क्यो कहते हैं शास्ता।

बुद्ध—क्यो? क्या तुम भूल गये? अच्छा तो, बताओ आनन्द, तुमने सुना है न कि वैशाली के वज्जि अपनी परिषदो मे सारे कामधाम छोडकर नियत समय पर भरपूर उपस्थित होते हैं।

आनन्द—हाँ तथागत, मैंने ऐसा ही सुना है।

बुद्ध—और क्या आनन्द, तुमने सुना है कि वज्जि अपनी सभा में समान आसन पर एक साथ बैठते, एक मन होकर विचार करते और एक ही निश्चय पर पहुँच कर सब उसे कार्यरूप मे परिणत करने को जुट पडते है?

आनन्द—हाँ, तथागत, मैंने ऐसा सुना है।

बुद्ध—और, आनन्द, क्या तुमने सुना है कि वज्जि कभी अविहित को विहित नही करते और विहित का उच्छेद नही करते, बल्कि उसे शिरोधार्य कर उसीके अनुसार चलते है।

आनन्द—हाँ, तथागत, मैंने सुना है।

बुद्ध—और आनन्द, तुमने सुना है, कि वज्जि अपने वृद्धो का आदर-सत्कार करते हैं, उन्हें पूजते हैं, मानते है? यो ही, आनन्द, तुमने सुना है न कि वज्जि अपनी कुल-स्त्रियो और कुल-कुमारियो की प्रतिष्ठा करते है, उनके साथ अमर्यादा का व्यवहार नही करते?

आनन्द—हाँ, तथागत, मैंने ऐसा सुना है।

बुद्ध—और सुना है आनन्द तुमने कि वज्जि अपने धर्मस्थानो, देवस्थानो, सभास्थानो की रक्षा करते, उनके दिये दानो का लोप नही करते? और सुना है न आनन्द, वज्जि सभी महात्माओ, जनसेवको और विद्वानो को आमन्त्रित करते और उनका आदर-सत्कार करते है?

आनन्द—हाँ, तथागत, मैने ऐसा भी सुना है।

बुद्ध—तो आनन्द, वज्जियो की वृद्धि ही होगी, हानि नही। कोई उन्हे जीत नही सकता। कोई हरा नही सकता। जब मै वैशाली के सारन्द-चैत्य मे था, तो उन्हे राष्ट्रो को पतन से बचानेवाले ये सात नियम—सप्त अपरिहारणीय धर्म—बताये थे आनन्द। इन नियमो पर जब तक वे चलेगे, तबतक वज्जियो पर ससार की कोई शक्ति विजय नही प्राप्त कर सकती।

आनन्द—तथागत, आपने फिर आज इसे दुहराकर आनेवाले राष्ट्रो और राज्यो को भी उन्नति का पथ बता दिया है— अपने शासन के प्रति भक्ति, निर्णयो के प्रति कर्तृत्व, अपने विधान के प्रति आदर, अपने बडे-बूढो के प्रति सम्मान, अपनी नारी-जाति के प्रति श्रद्धा, अपनी सास्कृतिक सस्थानो के प्रति रक्षा-भावना एव देश विदेश के महात्माओ एव विद्वानो के प्रति ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा, सचमुच ये सात राज्यो और राष्ट्रो के लिए अपरिहारिर्णीय प्रतिपदा—अनिवार्य कर्तव्य है शास्ता।

बुद्ध—आनन्द, तुमने सही ढग से रखा। तुम वस्सकार से कहला दो कि वह अजातशत्रु को दलदल मे नही घसीटे। गगा के दोनो तटो के सम्मिलन मे ही दोनो के कल्याण है, आनन्द। विदेह और वज्जियो का, मगध और अग के लोगो के साथ जितना ही प्रेम बढेगा, उतनी उन्नति दोनो भूभागो की होगी। मै देख रहा हूँ, कुछ दिनो में यह होकर रहेगा। वस्सकार इन दोनो के बीच कलह का बीज न बोये। नही तो दोनो का कल्याण नही।

आनन्द—आपकी आज्ञा मै तुरत उसके पास भेजवा देता हूँ। किन्तु वह कुछ करने पर तुला-सा मालूम होता है, शास्ता।

बुद्ध—तो दोनो के लिए बुरे दिन आ रहे है आनन्द।

२

[भविष्यवाणी :: अम्बपाली का आम्रवन]

बुद्ध—राजगृह से नालन्दा, नालन्दा से पाटलिग्राम, फिर यह वैशाली! चारो एक ही माला के चार मनके-से लगते हैं, आनन्द। उनमे पाटलिग्राम। उसका भविष्य इन सबमे महान मालूम होता है।

आनन्द—शास्ता ने हमें कहा था और उसपर आनेवाली तीन विपत्तियो की भी चर्चा की थी। इस नगर को सदा आग से, पानी से और आपस की फूट से भय रहेगा। मैंने पाटलिग्राम के निवासियो से इसकी चेतावनी भी दे दी है, तथागत!

बुद्ध—हाँ पाटलिपुत्र को आग, पानी और आपसी फूट से बचना होगा आनन्द। देखो, वह क्या अम्बपाली आ रही है?

आनन्द—हाँ भन्ते, वही तो है।

(अम्बपाली का प्रवेश: वुद्ध के चरणो में सिर झुकाती है)

बुद्ध—तो आपने निश्चय कर लिया भद्रे।

अम्बपाली—जिस दिन भगवान ने मेरी आम्रवाटिका मे आवास किया और सारी वैशाली के निमत्रण को अस्वीकार कर प्रथम मेरा भोजन ही ग्रहण किया, मेरे निश्चय का प्रारम्भ उसी दिन हो गया था, भगवान। किन्तु यह मेरा मोह था, अहम्मन्यता थी, दुर्भाग्य था कि मैं अवतक कीचड मे वैठी उसे चन्दन समझ रही थी। उफ, मेरा दुर्भाग्य।

आनन्द—दुर्भाग्य। जिसकी एक भ्रू-भगिमा पर सारी वैशाली हिल्लोलित, तरगित हो उठती है, उसका दुर्भाग्य।

अम्बपाली—भिक्षुवर। तपस्वियो को सिर्फ ऊपर नही देखना चाहिये! आह, इस हिल्लोल, इस तरग के भीतर . . . . ।

(उसाँसे लेती है)

बुद्ध—सत्य, राजनर्त्तकी, सत्य। तपस्वियो को ऊपर ही नही देखना है। और, अव तो आपके भीतर का हाहाकार आपके मुखडे पर स्पष्ट छाप डाल चुका है। तो आप प्रवज्जा लेना चाहती हैं?

अम्बपाली—यह मेरा आम्रकानन, यह मेरी सारी सम्पत्ति भिक्षु-सघ को अर्पित है। अव मेरे लिए सघ के किसी कोने में थोडा स्थान दें भगवान?

बुद्ध—तथास्तु। जायँ, आप प्रवज्जा की तैयारी करें।

(अम्बपाली जाती है)

आनन्द—तथागत ?

बुद्ध—तुम्हारी आपत्ति समझ रहा हूँ, आनन्द। रानी प्रजावती और यशोधरा के सघ-प्रवेश पर मैंने आपत्ति की थी, नारियो के सघ-प्रवेश के सकट से मै अपरिचित नही, किन्तु, इस राजनर्त्तकी को मै 'ना' नही कह सकता था, आनन्द। यह विचित्र नारी है और इसके प्रवेश से सघ का कल्याण ही होगा।

आनन्द—शास्ता की जो अनुज्ञा।

बुद्ध—मै सव कामो मे शीघ्रता कर रहा हूँ, इसका एक कारण है आनन्द। और, उसे तुमसे छिपाना क्या है? अव इस पृथ्वी पर मेरे दिन पूरे हो रहे है।

आनन्द—यह क्या तथागत? आप हमे छोडकर जाने का सोच रहे है?

बुद्ध—हाँ, कल मुझे इसका स्मरण दिलाया गया कि अव मात्र तीन महीने यहाँ रहना है।

आनन्द—किसने स्मरण दिलाया, शास्ता?

बुद्ध—यह सव पूछने की वात नही है, आनन्द। तुम देख नही रहे हो कि मेरा यह शरीर कितना खिन्न हो रहा है। वार-वार अस्वस्थ हो जाया करता हूँ। जो रथ था, वह भार वन रहा है। भार को कधे से उतारना ही अच्छा है, आनन्द।

आनन्द—शास्ता। (गला रुँध जाता है)

बुद्ध—विलाप अनार्य है, शोक अनार्य है। मृत्यु आर्य सत्य है, सवको मरना है, सवको जाना है। उन्तीस वर्ष की आयु मे मुझे वोधि प्राप्त हुई, तव से इक्कावन वर्ष तक मै लगातार धर्म का सन्देश देता रहा। क्या उससे तृप्ति नही हुई? जहाँ तक इस शरीर से हो हो सकता था, हो चुका। अव यह वधन है और वधन जितना शीघ्र टूटे, उतना ही अच्छा।

आनन्द—ओह, कुछ समझ मे नही आता शास्ता। आह, आपके विना यह पृथ्वी कितनी सूनी लगेगी—जिस तरह अचानक सूर्य डूव जाय और सारी पृथ्वी को अधकार ढँक ले।

बुद्ध—सत्य का सूर्य कभी नही डूवता है आनन्द। चिर-नूतन होने के लिए वह कुछ देर के लिए आँखो मे ओझल मात्र होता है। देखो, सन्ध्या हुई, भिक्षुओ से कह दो, वे कल प्रात. ही चलने की तैयारी करे। पावापुरी, कुशीनारा, कपिलवस्तु सव मुझे पुकार रहे है आनन्द! अव हमें शीघ्रता करनी है।

३

[निर्वाण की ओर : : कुशीनारा में हिरण्यवती का तट]

बुद्ध—आनन्द, आज वैसाख पूर्णिमा है न ?

आनन्द—हाँ, शास्ता। आज वैसाख की पूर्णिमा है ! देखिये न, पूर्ण चन्द्र किस तरह पूर्व क्षितिज पर उदय हो रहा है !

बुद्ध—तथागत का आगमन वैसाख पूर्णिमा को हुआ था, महाप्रयाण भी इसी तिथि को होना चाहिए, आनन्द !

आनन्द—भगवान, यह क्या कह रहे है ?

बुद्ध—जो होने जा रहा है, वही कह रहा हूँ आनन्द ! मेरा आसन शाल के उन दोनो पेडो के बीच लगा दो। सिरहाना उत्तर दिशा की ओर हो ! रात के उत्तर भाग मे तथागत का निर्वाण होगा !

आनन्द—भगवान, भगवान !

बुद्ध—हाँ, हाँ, तथागत की यह अन्तिम शय्या होने जा रही है, आनन्द ! अहा ! अस्सी वर्षो का बन्धन आप ही जीर्ण-शीर्ण होकर आज टूटने जा रहा है ! (हिचकियो की आवाज) आनन्द, आनन्द ! यह कौन हिचकियाँ ले-लेकर रो रहा है, आनन्द !

आनन्द—यह चुद कर्मार है, भगवान !

बुद्ध—समझ गया आनन्द ! चुद सोच रहा है कि मेरा ही भोजन खाकर तथागत बीमार पडे—दुनिया मुझे क्या कहेगी ? किन्तु, आनन्द, चुंद से कह दो, ससार में दो भोजन सदा ही वदनीय, स्पृहणीय समझे जायँगे—एक सुजाता की खीर, जिसको खाकर तथागत ने बुद्धत्व प्राप्त किया और दूसरा चुद की खिचडी जिसे खाकर तथागत निर्वाण प्राप्त करने जा रहे है !

आनन्द—क्या शास्ता सचमुच हमे छोडने जा रहे है ?

बुद्ध—हाँ, आनन्द ! यह पूर्णिमा का चन्द्रमा जब तीन चौथाई रास्ता तय कर लेगा, तथागत का महापरिनिर्वाण होगा ! अहा, इस धवल चन्द्रिका की ही तरह निर्वाण का शुभ्र, शीतल, सुन्दर पथ यहाँ से ही दिखाई पड रहा है आनन्द ! आनन्द, देखो-देखो, आकाश की ओर देखो !

(बुद्ध बहुत देर तक ध्यानमग्न हो जाते है—उनकी टकटकी आकाश की ओर बँधी है; फिर आनन्द को पुकारते है !)

बुद्ध—आनन्द, आनन्द!

(आनन्द का कोई शब्द नही सुनाई पडता, रोने की आवाज)

एक भिक्षु—आनन्द तो विहार मे जाकर एक खूंटी पकडकर विलख विलख कर रो रहे है, शास्ता!

बुद्ध—आनन्द को बुलाओ! कहो, तथागत बुला रहे है!

(आनन्द आते है, बुद्ध के चरणो मे लिपट कर फूट फूट कर रोने लगते है)

बुद्ध—आनन्द, आनन्द! ओह, तुम भी रोने लगे! मैंने पहले ही कहा था न, कि सभी प्रियो की जुदाई होती है। जो नाश होनेवाला है, उसे कोई बचा नही सकता। फिर क्यो शोक, क्यो विलाप! आनन्द, तुम तो धन्य हो कि तुमने तथागत की सेवा चिरकाल तक मन, वचन और काया से की है। तुम्हे यह सौभाग्य मिला, तुम्हे तो प्रसन्न होना चाहिए आनन्द!

आनन्द—जो निर्वाण ही प्राप्त करना है, तो भगवान, किसी प्रसिद्ध स्थान मे—राजगृह मे, वैशाली मे, श्रावस्ती मे, कौशाम्बी मे . .

बुद्ध—ससार मे चार स्थान सदा अति पवित्र माने जायँगे, आनन्द! एक वह, जहाँ तथागत उत्पन्न हुए, दूसरा वह, जहाँ तथागत ने बोधि प्राप्त की, तीसरा वह, जहाँ तथागत ने धर्मचक्र का प्रदर्शन किया और चौथा वह, जहाँ तथागत ने निर्वाण प्राप्त किया। इनसे बढकर भी कोई स्थान पवित्र हो सकता है, आनन्द?

आनन्द—आप तो जा रहे है शास्ता, अब हमारे लिए कौन पथ-प्रदर्शन का काम करेगा

बुद्ध—यह क्या बोल गये आनन्द! मै जा रहा हूँ, किन्तु सत्य का आष्टागिक मार्ग अब प्रशस्त हो चुका। जो कुछ मैं कह चुका हूँ, उसे ही अपना आचार्य, अपना प्रदीप, अपना कोश समझना! अब वही तुम्हारा शास्ता है, उपदेशक है! उसीकी आवृत्ति करना, उसे ही जीवन मे उतारना, जैसा कि आजतक करते आये हो .

आनन्द—भगवान, क्या चलते समय कुछ उपदेश हमें न देगे?

बुद्ध—क्या उपदेशो से तृप्ति नही मिली आनन्द! हाँ, ज्ञान की पिपासा सदा बनी रहे, यही अच्छा है। तो आनन्द, मेरा आसन शाल के उन दोनो पेडो के बीच मे, जैसा बता चुका हूँ, लगा दो! और वही भिक्षु-सघ को एकत्र करो।

४

[अन्तिम प्रवचन : : दो शालों के बीच का आसन]

बुद्ध—(शोकमग्न भिक्षुओ से) भिक्षुओ, क्या मेरे लिए शोक करना उचित है, जो तुम कर रहे हो? जबकि दुखो की यह समष्टि समाप्त हो रही है, जन्म-मरण का भय उन्मूलित हो रहा है, जबकि मैं महादुख से विदा ले रहा हूँ, तब तुम्हे रोना चाहिये? भिक्षुओ, आनन्द मनाओ, आनन्द मनाओ!

अब मैं नही रहूँगा, मेरे दर्शन न हो सकेंगे, यह समझकर शोक मत करों भिक्षुओ! कठोर कर्म-मार्ग के बिना मेरे दर्शन-मात्र से ही निर्वाण नही प्राप्त हो सकता। जो सत्य-मार्ग को जानेगा, उसपर चलेगा, वह मेरे दर्शन के बिना भी दुख-जाल से मुक्त होगा!

जो इस धर्म-मार्ग को—सत्य की मध्यम प्रतिपदा को—जानता है, उसपर चलता है, वह मुझसे दूर होकर भी मेरे निकट है और रहेगा; और जो धर्म-विमुख है, श्रेय-विमुख है, वह निकट रहकर भी दूर है और रहेगा!

इसलिए सदा आलस्य-रहित होकर मन को वश मे रखो और परिश्रमपूर्वक श्रेय को प्राप्त करो!

ससार मे बाघ, साँप, जलती आग या शत्रु से उतना नही डरना चाहिये, जितना कि अपने ही चचल चित्त से, जो मधु को देखता है, किन्तु सकट को नही। इसलिए चित्त पर अधिकार करो, उनकी चंचलता को रोको।

औषधि की मात्रा के समान ही भोजन करो. इससे न अनुराग रखो. न इससे घृणा करो। उतना ही खाओ, जितना कि क्षुधा-शान्ति और शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक है।

जैसे उद्यान मे रसपान करते हुए भौंरे फूलो को नष्ट नही करते, वैसे ही अन्य मतावलम्बियो का विनाश नही करते हुए अपने धर्म-पथ पर बढ़े चलो।

भारी बोझ दोनो के लिए बुरा है; बैल के लिए और आदमी के लिए भी। उतना ही बोझ अपने सिर पर लो, जितने का निर्वाह कर सको।

शील ही उत्तम वस्त्र है, शील ही आभूषण है, शील ही मार्ग-भ्रष्टो के लिए अकुश है, इसलिए किसी अवस्था मे भी शील को नही छोडो।

यदि कोई आदमी तलवार से तुम्हारी भुजाये और अग काट डाले तो भी तुम्हे उसके प्रति पाप-भाव का पोपण नही करना चाहिए न उसे अशान्त शब्द ही कहना चाहिए।

क्षमा के समान कोई तप नही, जो क्षमावान है, उसे ही शक्ति मिलती है, उसे ही धर्म प्राप्त होता है। जो दूसरो का कठोर व्यवहार नही सह सकता, वह न तो धर्म-सस्थापको के मार्ग पर चलता है और न उसका त्राण ही होता है।

क्रोध को थोडा-सा भी अवकाश न दो। वह धर्म और यश को नष्ट करता है—वह रूप का शत्रु है, लक्ष्य की अग्नि है और गुणो का सर्वनाशक है।

यदि तुम्हारे हृदय मे अभिमान का उदय हो, तो सुन्दर वालो से विहीन अपने मस्तक को छूकर, अपने काषाय वस्त्र और भिक्षा-पात्र को देखकर एवं दूसरो के शुभ कर्म और सदाचार का चिन्तन कर उसे दूर करना।

कपट और धर्माचरण—दोनो मे कोई मेल नही। इसलिए कुटिल उपायो का सहारा न लो। छल और छद्म ठगने के लिए है, किन्तु जो धर्म में लगे हुए है, उनके लिए ठगना जैसी कोई चीज नही।

वडी-वडी इच्छाये रखनेवाले को जो दुख होता है, वह अल्प इच्छावाले को नही होता। इसलिए अल्पैषणा का अभ्यास करना चाहिए, विशेषत उन्हे, जो गुणो की परिपूर्णता चाहते है।

यदि निर्वाण चाहते हो, तो सतोष का अभ्यास करो। सतोप होने पर सुख मिलता है और सतोष ही धर्म है। सन्तुष्ट मनुप्य भूमि पर भी शान्तिपूर्वक सोते है और असन्तुष्ट मनुप्य स्वर्ग मे भी जलते रहते है।

आसक्ति दुख का निवास-वृक्ष है; इसलिए अपने और पराये दोनो से आसक्ति छोडो। आसक्ति मे पडकर मनुप्य दुख मे वैसे ही फँसता है, जिस तरह बूढा हाथी कीचड मे।

धीरे-धीरे किन्तु निरन्तर वहनेवाली नदी की धारा ने चट्टान

सिंहल-विजय

[एकांकी]

पात्र-पात्रियाँ

पात्र

अशोक

कुणाल

कुमार महेन्द्र

मोग्गलिपुत्र
(आहत)

भिक्षुगण

सिंहल-नरेश तिष्य

पात्रियाँ

माया

संघमित्रा

१

[सम्राट् अशोक का राजप्रासाद—सम्राट् का कनिष्ठ पुत्र कुणाल वीणा बजा रहा है। वीणा बजाने में वह तल्लीन हो चला है कि सम्राट् का बड़ा बेटा कुमार महेन्द्र उसके कक्ष में प्रवेश करता और म्यान से तलवार खींचता है। शब्द सुनकर कुणाल मुड़कर देखता और अचानक चिल्ला पड़ता है—]

कुणाल—ओह, ओह! भैया, भैया

कुमार महेन्द्र—ह ह ह! डर गये कुणाल! डर गये! ह ह ह!

कुणाल—भैया, भैया! यह क्या भैया?

महेन्द्र—यह क्या भैया? ह ह ह! क्या इसे पहचानते नही हो कुणाल? यही है शत्रु-मर्दिनी, सहार-कारिणी, साम्राज्य-प्रसारिणी, वीरभुज-शोभिनी ह ह ह, समझे कुणाल?

कुणाल—भैया, भैया!

महेन्द्र—भैया भैया क्या कुणाल? तुम गाया करो, बजाया करो! मुझे तो सदा सन्देह होता है, तुम्हारे बनाने मे भगवान ने कुछ भूल अवश्य की है। यह कलाई, ये उँगलियाँ, यह चेहरा, ये आँखे—भगवान को चाहिए था, तुम्हे नारी बनाकर भेजते! ह ह ह।

कुणाल—(सिर नीचा करते हुए) भैया!

महेन्द्र—आँखो की चर्चा हुई और तुम शरमा गये! हाँ, हाँ, ये आँखें मर्दों की नही है कुणाल! मर्दों की आखे वे है जिनसे चिनगारियाँ टपके—

दुश्मन देखें, तो उन्हें काठ मार जाय; दोस्त देखें, तो वे मंत्रमुग्ध हो रहें! और तुम्हारी ये आँखें?—हः हः हः! मुझे डर है कुणाल, इन आँखों के चलते तुम कभी किसी झंझट में न पड़ जाओ!

कुणाल—मेरी चिन्ता मत कीजिये, भैया; मुझे चिन्ता है, आज फिर..

महेन्द्र—हाँ, हाँ, बोलो-बोलो! क्यों रुक गये? यही न पूछते थे कि आज फिर मेरी यह शत्रु-मर्दिनी क्यों निकली? हः हः हः—कितनी सुन्दर यह है मेरी तलवार, कुणाल!

कुणाल—तलवार और सुन्दर? भैया!

महेन्द्र—सौन्दर्य सिर्फ सुकुमारता में नहीं है कुणाल! सुकुमारता और सौन्दर्य को जो एक समझते हैं, वे कुछ रुचिभ्रष्ट हैं। कमल की पंखड़ियों में, वासन्ती मलय-समीरण में, शरद की चन्द्रिका में या कामिनियों के कपोलों में ही जिन्होंने सौन्दर्य का आरोप किया, उनकी बुद्धि पर तरस आनी चाहिये कुणाल! वट-वृक्ष की विशालता में, आँधी के प्रचण्ड झोंकों में, अमा-निशीथ के अंजन-वर्ण अन्धकार में और वीरों की प्रशस्त भुजाओं में भी प्रकृति ने सौन्दर्य की प्रचुरता भर रखी है! इन सौन्दर्यों को जो न देख सके, न परख सके; वे नेत्र ही दोष-पूर्ण हैं।

कुणाल—प्रशस्त भुजाओं में! (अपनी कलाई को उदासी से देखता है)

महेन्द्र—हाँ प्रशस्त भुजाओं में कुणाल! किन्तु कुणाल, तुम्हें उदास नहीं होना चाहिये। शायद तुम्हारी रचना ही इसीलिए हुई है कि गाते रहो, बजाते रहो, राजप्रासाद की भीषणता को संगीत की झंकार से ढँके रहो। अच्छा, तो तुम गाओ, बजाओ; मैं तो चला कलिंग-विजय करने।

कुणाल—विजय! विजय! भैया, यह विजय की भूख कभी शान्त नहीं होगी?

महेन्द्र—न होगी, न होनी चाहिये। विजय राज्य का भोजन है कुणाल! विजय की आकांक्षा गई राज्य गया। हः हः हः। और एक बात कहूँ मेरे प्यारे भाई? विजय एक नशा है। एक बार होठों से लगा, तो फिर छूट नहीं सकता—फिर एक घूँट, फिर एक घूँट, फिर एक घूँट! हः हः हः हः हः!!

कुणाल—आज कलिंग, कल...

महेन्द्र—अभी वहुत देश शेष है कुणाल ! बहुत । पूरब मे स्वर्णभूमि, दक्षिण मे सिहलद्वीप

कुणाल—सिहल द्वीप ? लका—जिसपर राम ने विजय की थी ? आप वहाँ तक विजय करने की आकाक्षा रखते है भैया ?

महेन्द्र—ससार मे कुछ वस्तुये असीम है कुणाल ! महासागर की कोई सीमा नही, यो ही मानव की अकाक्षाओ की भी सीमा नही होती। तुमने देखा नही, गगा-तट पर हमने समुद्र-गामी जल-पोतो का निर्माण प्रारम्भ करा दिया है !

कुणाल—ओह !

महेन्द्र—आह-ओह नही कुणाल, नही । आदमी को गरुड की तरह जीना चाहिए—कभी इधर एक झपट्टा, कभी उधर एक झपट्टा । जिधर चले, आगे एक भगदड, पीछे एक हहास । ह ह ह ।

कुणाल—जैसे पृथ्वी पर कोयल के लिए जगह नही !

महेन्द्र—है । तभी तो एक ही घर मे महेन्द्र भी है, कुणाल भी, लेकिन छोडो इन बातो को । आज मै तुम्हे एक आमत्रण देने आया हूँ ।

कुणाल—आमत्रण ! मुझे ?

महेन्द्र—हाँ, आमत्रण तुम्हे आज मै तुम्हे आमन्त्रित करने आया हूँ कि चलो, एक वार अपने बड़े भाई की भुजाओ का बल और इस शत्रु-मर्दिनी का जौहर देख लो ।

कुणाल—भैया, मै तो युद्ध का नाम सुनते ही .

महेन्द्र—ह ह ह ह ! युद्ध का नाम सुनते ही तुम कॉप उठते हो ! अरे कुणाल ! हम राज-पुत्र है ! कौन कहे, तुम्हारी भुजाओ को भी एक दिन तलवार उठानी पडे, तुम्हारी आँखो को भी एक दिन युद्ध के भयानक दृश्य देखने पडे !

कुणाल—उन दृश्यो के देखने के पहले मै अपनी आँखो को निकाल लिया जाना पसन्द करूँगा, भैया !

महेन्द्र—चुप ! चुप, कुणाल ! मूर्खता की भी सीमा होती है ! ऐसी बात जीभ पर मत ला । हाँ, तुम्हे चलना ही पडेगा । मैने पिता जी को भी आमत्रित किया है कि इस बार स्वय रण-भूमि मे चलकर मेरे उस रण-कौशल को देखे, जिसने सारे भारतवर्ष को पराजित कर उन के श्रीचरणो के निकट डाल दिया है । तुम्हे चलना ही है कुणाल !

कुणाल—चलना ही है ! तो, चलूंगा । सुना है, कलिंग के लोग बड़े कलाविद् होते हैं ।

महेन्द्र—सच ! तब तो उन पर विजय पाना और भी आसान होगा कुणाल ! कला! —कला हृदय को कोमल, शरीर को सुकुमार और उँगलियो को नाजुक बना देती है । कला आई, शौर्य गया ! ह ह. ह. ह ।

कुणाल—यह कला को एकांगी देखना है, भैया ?

महेन्द्र—ऐसा ही हो । तो चलो, देख लो, कला और शौर्य में विजय किसकी होती है । क्यो ? ह हः हः ह. ।

२

[पृष्ठभूमि में कोलाहल छाया हुआ है । "मारो मारो" "काटो, काटो" की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। 'कलिंग की जय'-'सम्राट अशोक की जय' के तुमुल नाद भी बीच-बीच में होते हैं। फिर, चीख-पुकार 'आह' 'ओह' आदि सुनाई पड़ते हैं। स्थानः कलिंग की युद्धभूमि।]

महेन्द्र—(अट्टहास करता हुआ) ह .ह .ह । ह ह ह. ! ह .. ह . ह. ! ह . . ह ह . ह . !

कुणाल—(कातर स्वर में) उफ, आप हँस रहे है ! आह ! .

महेन्द्र—ह ह. ह ! ह ह. ह !

कुणाल—भैया, भैया ! आपको क्या हो गया है, भैया !

महेन्द्र—ह ह ह । ह हः ह. । मुझे क्या हो गया है कुणाल ? कुणाल, ह. ह ह ! मुझे नही, उन्हे क्या हो गया कुणाल ? ह ह ह !

कुणाल—(गम्भीर होकर) भैया, मुझे क्षमा कीजिए । मानवता के इस भीषण सहार पर यो अट्टहास करना कभी मानवोचित कर्म नहीं समझा जा सकता । और, इतनी निर्दयता से सहार कराकर अब आप उनके आर्त्तनाद पर अट्टहास कर रहे हैं !

महेन्द्र—और तुम्हें भी यह क्या हो गया है कुणाल ? ह ह ह ।

कुणाल—भैया, मैं चला । मैं यह सब देख-सुन नहीं सकता !

महेन्द्र—मैं चला ! ह ह ह ह ! नहीं, नहीं, रुको कुणाल, रुको। अरे, उन्हें यह क्या हो गया है ? अरे, तुम्हें यह क्या हो गया है ? ह ह ह

कुणाल—मैं रुक नहीं सकता भैया, रुक नहीं सकता !

महेन्द्र—नहीं, तुम्हें रुकना है कुणाल, रुकना है। ह ह ह । ह ह ह ! और, तुम ने क्या यह समझा है कि मैं उन बेचारों के आर्त्त-नाद पर हँस रहा हूँ ? नहीं, कुणाल, नहीं। मुझे तो हँसी आ रही है, पिता-जी पर

कुणाल—पिताजी पर ?

महेन्द्र—हाँ कुणाल, पिताजी पर। जानते हो, इस समय वह एक लाश को छाती से लगा कर रो रहे हैं—सिसक-सिसक कर। ह ह ह।

कुणाल—रो रहे हैं ?

महेन्द्र—हाँ कुणाल, रो रहे हैं ! बच्चों की तरह बिलख-बिलख कर रो रहे हैं !

कुणाल—तो इसमें हँसने की क्या बात है भैया ?

महेन्द्र—सारी बातें हँसने की हैं, हँसी की हैं, कुणाल ! ह ह ह ! पिता जी ने समझ क्या रखा था ? क्या युद्ध बिना रक्त-पात के होता है ? और, जब रक्तपात युद्ध के साथ अनिवार्य है; तो जितना ही अधिक रक्तपात, उतना ही शानदार युद्ध ! और जानते हो कुणाल, वह यह भी कह रहे हैं कि आज से युद्ध न करूँगा। ह ह ह—युद्ध नहीं करूँगा ! जैसे युद्ध किसी शासक या सम्राट् की मर्जी पर निर्भर करता हो !

कुणाल—भैया, भैया ! (क्रोधावेश से वह काँप रहा है)

महेन्द्र—और, मुझे तुम पर भी हँसी आ रही है कुणाल, तुम पर भी। अहा ! जीवन में पहली बार तुममें यह क्रोध देखा है। जानते हो कुणाल, हमारे किसी शास्त्र में भगवान को क्रोध कहा गया है। और सच कहता हूँ, जब किसी को मैं क्रोध में देखता हूँ, तो उसमें भगवानके दर्शन करता हूँ, आनन्द-मग्न हो जाता हूँ ! ह ह ह।

कुणाल—भैयाजी, आपके ये विचार

महेन्द्र—भीषण हैं, क्यों ? ह ह ह ! किन्तु, तुम इन्हें घृणित नहीं कह सकते कुणाल ! जब तक साम्राज्य है, तब तक युद्ध अनिवार्य

है। और जब तक मानव-मन रागात्मक है, क्रोध भी आवश्यक रहेगा कुणाल! हः हः हः।

कुणाल—तो साम्राज्यों का नाश हो; मानव-मन को रागों से निवृत्ति मिले। मानवता का कल्याण इसीमें है भैया!

(दूर से आह....!...आह!.....ओह!...ओह...!....आदि स्वर तीव्र होते जा रहे हैं)

महेन्द्र—सुन रहे हो कुणाल, सुन रहे हो!

कुणाल—भैया, क्या आपका हृदय इन शब्दों को सुनकर द्रवित नहीं होता ?

महेन्द्र—द्रवित होता है! किन्तु करुणा से नहीं, आनन्द से। आनन्द मारने में नहीं है कुणाल; आनन्द है तड़पने का तमाशा देखने में। जानते हो, शेर अपने शिकार को एकबारगी नहीं मारता—घायल करके छोड़ देता और अलग बैठ कर उसके तड़पने और दम तोड़ने का तमाशा आँखें फाड़-फाड़ कर देखा करता है!

कुणाल—रहने दीजिये, रहने दीजिये भैया! उफ, मानव! हायरी मानवते!

महेन्द्र—उफ रे मानव,! हाय री मानवते! हः हः हः! कैसा भोला भाई मिला है मुझे! उफ रे मानव! हाय री मानवते! हः हः हः!

३

[सम्राट अशोक के राज-भवन में घंटे-घड़ियाल बज रहे हैं। रह-रह कर 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्म्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' का स्वर सुनाई पड़ता है। अपने कक्ष में बेचैनी से कुमार महेन्द्र टहल रहा है। इतने ही में उसकी पत्नी माया आती है]

माया—नाथ!

महेन्द्र—(कुछ नहीं बोलता टहलता ही रहता है)

माया—नाथ!

महेन्द्र—(फिर कुछ नही बोलता, टहलता रहता है)

माया—नाथ ! सुनिये नाथ !

महेन्द्र—सुन रहा हूँ, माया, सुन रहा हूँ। सब सुन रहा हूँ। इस भिक्षु ने राजप्रासाद को बौद्ध विहार बना डाला है। सुन रहा हूँ माया, यह घटा-घडियाल, यह बुद्ध शरण, धर्म्म शरण ! सुन रहा हूँ—सब सुन रहा हूँ ! उफ ! (पैर पटकता है)

माया—नाथ !

महेन्द्र—नही, मै अब इस राज-भवन मे रह नही सकता, माया ! नही, नही । यह घटा घडियाल, यह मत्र-तत्र ! नही, यह स्थान किसी राजकुमार के लिए नही रह गया। यह मोग्गलिपुत्र—यह ढोगी भिक्षु । ओहो, महास्थविर कहलाता है यह । ढोगी ! किन्तु,—ह ह ह ! कितने होशियार होते है ये साधु-सन्यासी ! जब देखते है, आदमी किसी मानसिक उलझन मे पड गया है, ये धम्म से आ जाते है उसके सामने भूत की तरह, और फिर तो उसे भूताभिभूत की तरह नचाया करते है। स्थविर स्थविर ह ह ह धूर्त्तता की भी हद होती है भिक्षु

माया—नाथ, आप यो बेचैन

महेन्द्र—माया, हाँ मै बेचैन हूँ। तुम नही समझती हो, यह क्या हो रहा ? किन्तु मै समझता हूँ। यह हमे इस घर से हटाने का षड्यत्र है, माया !

माया—षड्यत्र ! घर से हटाने का ?

महेन्द्र—हाँ, षड्यत्र—इस हमे घर से हटाने का ! जिस घर मे वीरता की आवश्यकता नही, विजय की आवश्यकता नही, उस घर मे महेन्द्र के लिए कौन-सी जगह है माया ? तुम क्या समझती हो कि मै अपनी इस प्यारी शत्रु-मर्दिनी (तलवार निकालता हुआ) को छोडकर हाथ मे मनके ले सकता हूँ—नही, नही ! और पिताजी के राज्य का उत्तराधिकारी तो अब वही न होगा, जो हाथ मे उन्ही की तरह मनके ले और उन धूर्त्त भिक्षु की तरह होठो पर मत्र बुदबुदाता रहे ! यह षड्यत्र है, माया, मुझे, राज्य-सिहासन से वचित करने का ! षड्यत्र, षड्यत्र ! किन्तु, यह शत्रु-मर्दिनी ऐसे सहस्र-सहस्र षड्यत्रो को (तलवार घुमाता है)

माया—नाथ नाथ ! यह क्या सोच रहे है नाथ ?

महेन्द्र—सोच चुका हूँ, सोच चुका हूँ, माया! सोच चुका हूँ और तय कर चुका हूँ। जो इतने दिनों तक शूर-वीरो की गर्दने उतारती रही, उसीसे इन भिक्षुओ के सिर उतारना पड़ेगा !

माया—(विह्वलता मे चिल्लाती हुई) भिक्षुओ के सिर! नाथ .

महेन्द्र—चिल्लाओ मत माया ! भिक्षुओं के सिर! ये मुँड़े हुए सिर, ये पोपले सिर, ये खुराफाती सिर। हाँ, ये खुराफाती सिर हैं—इसीलिए इन्हे उतारना ही पड़ेगा! ठीक; यह क्रूर-कर्म है—निरस्त्रो पर शस्त्र उठाना, यह नीच कर्म है! किन्तु, नीचता के निवारण के लिए कभी-कभी नीचता पर उतरना होता है, माया!

माया—नाथ, नाथ !!

महेन्द्र—हटो माया, हटो। मेरा क्षत्रित्व जाग उठा है, हटो। हटो! (रोती हुई माया जाती है—महेन्द्र फिर टहलने लगता है)

४

[संघमित्रा अशोक-राजप्रासाद के अपने एकान्त कक्ष में गा रही हैं]

संघमित्रा—

उठ रहा तूफान;
शान्त मन, उद्भ्रान्त क्यो है ?
उच्छ्वसित तन क्लान्त क्यो है ?
टूटता एकान्त क्यो है ?
 - आदि की यह आदि ही
 क्यो पा गई अवसान ?

गा रहा तूफान;
नीड खोकर विहग विह्वल
तटी वेकल, तरी चचल
हो रहे है एक जल-थल
 हँस न पाया था कि
 देखो डूबता दिनमान !

(कुणाल का प्रवेश)

कुणाल—मित्रे, इस घर मे सिर्फ हमी दो सुखी है, मित्रे!

संघमित्रा—कुणाल भैया, ओहो! बडी कृपा की भैया!

कुणाल—हम पर भगवान की ही कृपा है, मित्रे! मुझे वजाना दिया, तुम्हे गाना दिया। गाना-वजाना, मालूम होता है—ससार मे ये ही दो शाश्वत सत्य है, और सब मिथ्या है। देखती हो न पिताजी को, कैसी कायापलट? और भैया के वारे मे सुना है?

सघमित्रा—सुना है, देखा है, वाते भी की है। वहाँ भी काया-पलट की ही एक क्रिया चल रही है, कुणाल भैया! मुझे ऐसा लगता है, वीरवर महेन्द्र, कही भिक्षु महेन्द्र न वन जायँ।

कुणाल—महेन्द्र भैया और भिक्षु! अरे!

संघमित्रा—जब अधिक ऊमस होती है, पानी वरस कर रहता है। पानी अधिक गरम होता है, भाफ वनकर उड जाने के लिए। इतनी ऊमस, इतनी गर्मी! उफ, भैया पागल हो रहे है .

कुणाल—हाँ, वह तो पागल हो रहे है मित्रे!

संघमित्रा—पाटलिपुत्र का यह सारा राज-भवन पागल हो रहा है, कुणाल भैया! कलिग हार कर भी जीत गया, पाटलिपुत्र जीत कर भी हार चुका!

कुणाल—तुम यह क्या वोल गई, मित्रे?

संघमित्रा— जो आँखो से देख रही हूँ!

कुणाल—तुम एक वहुत वडा सत्य अनायास ही कह गई, मेरी प्यारी वहिन। सचमुच ही कलिग हारकर जीत गया, पाटलिपुत्र जीत कर हार गया। किन्तु इसका अर्थ तुमने समझा?

संघमित्रा—अर्थ?

कुणाल—हाँ, हाँ, इसका अर्थ! इसका अर्थ यह हुआ कि कला हारकर जीत गई और शौर्य जीतकर हार गया! विजेता गरुड पत्र फटफटा कर तडप रहा है और विजयिनी कोयल कल भी गाती थी, आज भी गा रही है!

संघमित्रा—भैया, सच कहती हूँ, मुझे तो ऐसा मालूम होता है, इस घर मे ही पागलपन आ घुसा है। कलिग के भूत हम सबके सिर पर आ चढे है और न जानें हममें से किसको, कब, कहाँ ले जायँ?

कुणाल—मित्रे, क्या तुम भी कुछ उलझन मे हो ? ओहो, तभी तो वह तुम्हारा गीत—"उठ रहा तूफान—गा रहा तूफान ?"

संघमित्रा—लेकिन घवडाइए मत भैया ! सव कही न कही ि काने लग जायँगे। ऐसा ही ोता आया है, जो उठता है, गाता है, वह सोता भी है। सुनिये—

सो रहा तूफान !
प्रकृति का वह कोप हमसे दूर
दूर झझा के झकोरे क्रूर
शान्ति चारो ओर अव भरपूर
रवि गया, पर वह चमकता चॉद है द्युतिमान।
सो रहा तूफान ॥

५

[आधीरात के सन्नाटे का आलम—गगा के उस पार की तट-भूमि—कुमार महेन्द्र वालू पर अकेला टहल रहा है—एक टिटहरी वोल उठती है]

महेन्द्र—अन्धकार ! टिटहरी ! वाहर अन्धकार भीतर अन्धकार ! वाहर टिटहरी, और भीतर ? वहाँ भी कुछ वोल रहा है ! क्या वोल रहा है ? अव तक क्यो नही वोला था ? टिटहरी अन्धकार मे ही वोलती है ! उफ, मेरा हृदय यह कहाँ से अन्धकार आया इसमे ? कुछ नही सूझता वाहर नही सूझता, भीतर भी नही सूझता ! किन्तु यह क्या वक रहा हूँ मैं ? क्या मैं पागल होने जा रहा ? पागल, ह ह ह ! और मैं हूँ कहाँ ? हाँ, सामने गगा के उस पार वह राजप्रासाद है। राजप्रासाद ! नही, अव तो वह वौद्ध-विहार है ! पिताजी यह क्या कर रहे है ? किन्तु क्या वह होश मे है ? उनके सिर पर तो भूत सवार है भूत भूत ! (सामने देख कर) अरे, वह भूत है क्या ? भूत ! ह ह ह। महेन्द्र ! अव तुम भूत से भी डरने लगे !

(एक चीख—भागने का शब्द—महेन्द्र उस ओर दौडता है)

कौन ? कौन ?

आहत का स्वर—आह ! आह !

महेन्द्र—(घायल व्यक्ति के निकट पहुँच कर, झुककर) ओहो, तुम कौन हो ? क्या हुआ है ? किसने मारा है तुम्हे ? किसने मारा है ? अन्धकार मे प्रहार, कैसी राक्षसता ?

आहत—पानी पानी

महेन्द्र—अभी लाया पानी । (दौडता हुआ जाता है)

आहत—आह ! आह !

महेन्द्र—(लौटकर) लो यह पानी । तुम हो कौन ? किसने मारा तुम्हे ? बताओ, अभी उसे सबक सिखाता हूँ। पाटलि-पुत्र मे जहाँ कही होगा, वह दड भुगत कर रहेगा। वह जायगा कहाँ ?

आहत—द ड ! द ड, नही ! दड ...नही ।

महेन्द्र—दड नही ? अपराधी को दड मिलता ही है, मिलकर रहेगा ।

आहत—भिक्षु न दड देता है, न दिलाता है। उसके कोष मे यह शब्द भी नही है।

महेन्द्र—तो तुम भिक्षु हो ? उफ !

आहत—तुम्हे पश्चात्ताप हो रहा है कि क्यो जल पिलाकर एक भिक्षु को बचा लिया ?

महेन्द्र—हाँ, पश्चात्ताप हो रहा है, महान पश्चात्ताप ! मैंने भिक्षुओ का सहार करने की प्रतिज्ञा की है।

आहत—तो उनलोगो से साँठ-गाँठ करो, जो अभी मुझ पर प्रहार करके भगे है। पाटलिपुत्र मे ऐसे आदमी तुम अकेले नही हो अपरिचित !

महेन्द्र—मै अन्धेरे मे प्रहार करने वालो में नही हूँ, भिक्षु !

आहत—सत्य पर अन्धेरे मे ही प्रहार हो सकता है अपरिचित ! या तो अन्धकार हो, या तुमने आँखे मूंद ली हो—या तुम्हारी आँखो पर पर्दा हो—किसी कपडे का या किसी नशीली वस्तु का ! सरेआम, दिन-दहाडे, खुली आँखो, सत्य पर प्रहार हो नही सकता, हो नही सकता है अपरिचित !

महेन्द्र—तुम यह क्या बोल रहे हो ?

आहत—मैं जो बोल रहा हूँ उसके समझने में अब अधिक देर तुम्हे नही लगेगी, मेरे प्राण-रक्षक !

महेन्द्र—उफ, जहाँ जाता हूँ, वही

आहत—वही भिक्षु मिलते है, क्यो ? किन्तु इसमे बुरा क्या है अपरिचित ? घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार को छोड कर बहुतो के हित के लिए, बहुतो के सुख के लिए अपने को उत्सर्ग कर देना क्या बुरा है ?

महेन्द्र—तुम लोग कायरता फैला रहे हो, नपुसकता फैला रहे हो। तुम हमारे देश को रसातल मे लिये जा रहे हो भिक्षु !

आहत—वीरता क्या सिर्फ तलवार भाँजने मे है अपरिचित ? किसी निर्बल देश पर चढ दौडना, किसी शान्त जनपद को रौद डालना, कितने निरीह प्राणियो की हत्या करना, शहरो को लूटना, गाँवो को जलाना— क्या तुम वीरता इसी को समझते हो, मेरे प्राणरक्षक ? यह वीरता नही, बर्बरता है । यह विजय नही, अभिशाप है !

महेन्द्र—विजय! विजय ! आह! विजय क्या वस्तु है, तुम क्या समझो भिक्षु ? (उसासे लेता है)

आहत—विजय ! विजय ! विजय कौन नहीं चाहता है, अपरिचित ? किन्तु सवाल यह है कि विजय कहाँ—शरीर पर या मन पर, तलवार के जोर से या प्रेम के बल पर ? विजय ! विजय को तो सारा ससार पडा है, किन्तु विजेता कहाँ दिखाई पडता है अपरिचित ?

महेन्द्र—(आवेश मे) विजेता कहाँ ? यह तुम किसके सामने बोल रहे हो भिक्षु !

आहत—एक ऐसे व्यक्ति के सामने, जो मुझसे भी अधिक घायल है ! मैं तो यह जानता हूँ कि घाव कहाँ लगा है, किन्तु जो यह भी नही जानता कि उसका घाव कहाँ है, किन्तु पीडा ने जो पागल बना है ! तुम जो कोई भी हो, मेरा आशीर्वाद लेते जाओ प्राणरक्षक—भगवान तथागत तुम्हे शान्ति का मार्ग शीघ्र प्रदर्शित करे !

महेन्द्र—शान्ति मरण है ।

आहत—हाँ, शान्ति मरण है। ऊपर की शान्ति मरण है। किन्तु भीतर की शान्ति जीवन है, अपरिचित ! तुम्हे वह जीवन-दायिनी, अमरतादायिनी शान्ति मिले।

महेन्द्र—नही, नही, ! भिक्षु, मुझे शान्ति नही, विजय चाहिए। (वहाँ से उद्विग्न होकर वडवडाता हुआ चल देता है) मुझे विजय चाहिए, विजय . विजय विजय !

६

[कुमार महेन्द्र का कक्ष—सम्राट् अशोक का प्रवेश]

महेन्द्र—पिताजी ! (चरण छूता है)

अशोक—तुम्हारे लिए विजय का सन्देश लाया हूँ, प्यारे वेटे !

महेन्द्र—(आनन्द-विभोर होकर) विजय का सन्देश ! विजय का विजय ! विजय ! पिताजी, पिताजी, यह क्या सुन रहा हूँ ? विजय का सन्देश ?

अशोक—हाँ महेन्द्र, विजय का सन्देश ! सिंहल-विजय का !

महेन्द्र—सिहल-विजय का ? अहा ! पिताजी, पिताजी ! कितने दिनो से मै यह आकाक्षा हृदय मे पोसे हुए था ! सिंहल-विजय—उस लका पर विजय, जिसपर विजय प्राप्त कर राम ने इतनी कीर्ति कमाई ! अहा ! एक वार फिर उसके स्वर्ण-सौध पर हमारी विजय-पताका फहरायगी ! पिताजी, पिताजी, कव जाना है उस ओर ?

अशोक—जव चाहो । वहाँ से निमत्रण आया है।

महेन्द्र—(साश्चर्य) निमत्रण ! किसने निमत्रण भेजा ? क्या लका मे हर युग मे विभीषण पैदा होते रहेगे ? उफ् रे अभागा द्वीप !

अशोक—विभीषण वहाँ होता है, जहाँ रावण होना है। अव वहाँ न रावण है, न कोई विभीषण । सिंहल-अधिपति महाराज तिष्य ने स्वय ही आमत्रण भेजा है। अभी उनका जल-पोत यहाँ आया है—रत्नो से भरा। इन अमूल्य उपहार के साथ उन्होने विजय के लिए सदेश भेजा है।

महेन्द्र—उपहार के साथ ! (कुछ उदास होता हुआ) तो उसे मैत्री का सन्देश कहिये पिताजी ! विजय यो आप ही घर नही आया करती !

अशोक—क्यो बेटे, क्या विजय के साथ शत्रुता अनिवार्य है ? पुत्र पिता पर, पत्नी पति पर, मित्र मित्र पर विजय प्राप्त करते है, तो क्या शत्रुता के ही चलते ? और क्या हृदय की यह विजय सबसे बडी विजय नही है ? महेन्द्र, महेन्द्र, एक नया युग प्रारम्भ हो रहा है, प्यारे बेटे ! एक नया इतिहास लिखा जा रहा है। क्या उस इतिहास में महेन्द्र का नाम नही होगा—महेन्द्र का, वीरवर महेन्द्र का, विजेता महेन्द्र का ?

महेन्द्र—पिताजी, आप क्या कह रहे है ? समझ मे नही आता।

अशोक—जानता हूँ बेटे, जानता हूँ। मेरा बेटा इन दिनो कितना उद्विग्न है, कितना विह्वल है, कितना व्याकुल है—क्या मैं नही जानता ? क्या बाप अपने बेटे की भावनाओ से अपरिचित रह सकता है ? किन्तु क्या करूँ, यह समझ मे नही आ रहा था। मेरे बेटे को विजय चाहिये—विजय, विजय ! जिस विजय की खोज मे वह निस्तब्ध रात्रि मे गगा-तट पर विक्षिप्त-सा घूमा करता है !

महेन्द्र—यह किसने आपसे कहा पिताजी ?

अशोक—(उसके प्रश्न से उदासीन) और यह भी एक सयोग कि अन्धकार मे प्रकाश की रेखा खोजने वाली दो आत्माये एक दिन उस तट-भूमि पर अचानक मिली . .

महेन्द्र—कौन किससे मिला पिताजी ?

अशोक—कुमार महेन्द्र मिले महास्थविर मौग्गलिपुत्र से।

महेन्द्र—ऐ ! तो वह महास्थविर थे, जिनपर आघात किया गया था ?

अशोक—हाँ, महेन्द्र ! तुम्हारी मनोवृत्ति से उन्हे भी कम कष्ट नही हो रहा है। तुम कोई साधारण आदमी तो नही हो कि जिनकी उपेक्षा की जाय। बडा आदमी जो कानोकान कहता है, वह भी गम्भीर घोष बनकर जनसाधारण के निकट पहुँच जाता है। तुम्हारी विरोध-भावना कितनी बडी है, तुमने उन रात में स्वय देखा जब कुछ दुष्टो ने गुरुदेव को मारने की चेष्टा की .

महेन्द्र—ओह ! ओह ! . . .

अशोक—'विजय' 'विजय' 'विजय' चिल्लाते तुम भागे। तबसे गुरुदेव इस पर विचार कर रहे थे कि अचानक विजय का यह सन्देश पहुँचा और गुरुदेव ने मुझे यहाँ भेजा है।

महेन्द्र—गुरुदेव ने आपको भेजा है ?

अशोक—हाँ, गुरुदेव ने ।

महेन्द्र—यह भी उनकी चाल है पिताजी! मैं उनके घपले में नही आ सकता, नही आ सकता।

अशोक—उत्तेजित मत हो बेटे! सत्य की सबसे पुरानी और बडी शत्रु है पूर्वधारणा। पिछली धारणाओ और मान्यताओ को छोड कर ही हम सत्य तक पहुँच सकते है। तनिक इस पर विचार करो, गहरे उतर कर विचार करो। फिर कहता हूँ बेटे, एक नया युग प्रारम्भ हुआ है, एक नया इतिहास लिखा जा रहा है। उस इतिहास मे अपने महेन्द्र का नाम स्वर्णाक्षरो मे लिखा देखूँ, मेरी यही आकाक्षा है और मेरी आशा है, मेरा बेटा इस आकाक्षा की पूर्ति करके मेरे हृदय को आह्लादित और पुलकित करेगा ।

महेन्द्र—पिताजी !

अशोक—विजय हमने कलिग मे भी प्राप्त की थी, किन्तु यह सिहल-विजय इतिहास मे अपूर्व होने जा रहा है, मेरे बेटे! विचार करो, सोचो और विजय के लिए प्रस्थान करो—तुम्हारा पथ सदा मगल-मय होगा !

७

[कुणाल का कक्ष। महेन्द्र और कुणाल में बातें हो रही है]

महेन्द्र—मैं सिहल-विजय को जा रहा हूँ, कुणाल !

कुणाल—सिहल-विजय को ?

महेन्द्र—हाँ, पिताजी मुझे भेज रहे हैं !

कुणाल—तो क्या धर्म का सघ का भूत उतर गया ? अच्छा हुआ भैया, अच्छा हुआ! घटे-घडियाल के नीचे मेरी वीणा का स्वर ढँका जा रहा था।

महेन्द्र—जो आ जाता है, वह जल्द जाता नही है कुणाल! फिर यह कोई साधारण वस्तु तो है,नही, यह एक ज्वार है, ज्वार! ऐसा ज्वार जो किसी चन्द्रमा पर निर्भर नही, जो किसी तिथि से बँधा नही। शताब्दियो, सहस्राब्दियो के बाद ऐसा ज्वार आता है और जब आता है तो किसी गजराज की क्या बात, गिरिराज का सिर भी उन्नत नही रहने देता! वह सारे ससार पर छा जाता है। नदी, नाले, खड्ड, खाई, टीले-टेकडी, कछार और घाटी सबको एक कर देता है। तुम देख नही रहे कुणाल ?

कुणाल—इतना बडा सत्य और न देखूँ! लेकिन सोचता था, भैया एक ऐसा वज्र-शिखर है जिसपर टकराकर यह ज्वार अपनी व्यर्थता का अनुभव कर लेगा।

महेन्द्र—मै भी ऐसा ही समझता था, सोचता था। मैने उसकी तरंगो से युद्ध भी कम नही किया। किंतु देख रहा हूँ कुणाल, तरगो से लडते हुए डूब मरने मे जीवन की सार्थकता नही, भले ही इतिहास मे उसका उल्लेख हो। जब ज्वार आता है,, तो उसकी तरगो पर चढ़कर, उसके सदेश को दूर-दूर तक ले जाने में, पहुँचाने में ही विश्व का अधिक कल्याण है कुणाल!

कुणाल—तो आप सिंहल में उस ज्वार का सदेश लिये जा रहे हैं—और उसीको कहते है सिंहल-विजय!

महेन्द्र—हाँ, कुणाल! यह भी विजय है। जब युग बदलता है, भाषा भी बदलती है, पुरानी भाषा का अर्थ भी बदलता है। नये युग की विजय का, नई विजय का, अर्थ भी नया होगा। भाषा को बदलने मे महेन्द्र का भी नाम रहे—इसलिए यह विजय-यात्रा! मै एक नया प्रयोग करने जा रहा हूँ, कुणाल। हाँ, नया प्रयोग—बिलकुल नया प्रयोग! और मुझे लगता है, यदि यह प्रयोग सफल हुआ, तो संसार के इतिहास में एक स्वर्ण-युग का सुप्रभात होगा।

कुणाल—स्वर्ण-युग का सुप्रभात। वह तो कभी न कभी होकर रहेगा भैया! मेरी कला भी यही कहती है। किंतु मुझे लगता है, उस सुप्रभात के लाने मे शायद कितने ही अमूल्य प्राणो की बलि देनी पडे और कितनी ही शताब्दियाँ

महेन्द्र—सहस्राब्दियाँ कहो, कुणाल! असीम काल में शताब्दियो और सहस्राब्दियो की क्या गणना है? और जितना लम्बा प्रयोग होगा, उतनी ही गहराई का सत्य प्रकाश में आयगा।

कुणाल—भैया, कलिंग-विजय के अवसर पर आपने मुझे आमन्त्रित किया था, क्या सिंहल-विजय—

महेन्द्र—नहीं, नहीं, कुणाल! तुम्हे यहीं रहना है। मित्रा भी मेरे साथ जा रही है न!

कुणाल—(चौककर) क्या? मित्रा! मित्रा भी जा रही है? मित्रा सिंहल जा रही है!

महेन्द्र—हाँ, मित्रा भी जा रही है सघमित्रा बनकर। वह जल-पथ से जा रही है और मैं थल-पथ से। तुम तो जानते ही हो, पहाडो को रौंदने, अरण्यो को चीरकर आगे बढने मे मुझे सदा आनद प्राप्त होता रहा है। विन्ध्या की चोटियाँ, किष्किन्धा की तलेटियाँ—इन्हे रौंदते आगे बढो, हाँ, राम भी तो थल-पथ से ही गये थे! और रास्ते मे विदिशा मे जाकर माताजी के चरणो का दर्शन भी कर लेने का विचार है!

कुणाल—माताजी! उफ, भाई जा रहे है, बहिन जा रही है। अकेला मैं यहाँ! भैया, माताजी से कहियेगा कि वह राजधानी लौटे! मुझ पर कृपा करे!

महेन्द्र—भूल करते हो कुणाल, भूल करते हो। अभी पाटलिपुत्र मे जो प्रयोग चल रहा है, अच्छा है, माताजी उससे दूर ही रहे। तुम माता का हृदय नही जानते। सोचो, आज यहाँ माताजी होती! और अभी क्या हुआ है? मैं देख रहा हूँ, अभी बहुत कुछ होना शेष है। देखना, सम्हल कर रहना मेरे छोटे भाई!

कुणाल—(करुण स्वर मे) भैया!

महेन्द्र—तुम्हारी कला पीडित मानवता को शान्ति का सदेश दे, यही आशीर्वाद दिये जा रहा हूँ, कुणाल!

८

[विन्ध्या की घाटी: चट्टानो पर चढते-चढ़ते भिक्षुओ की मंडली थक जाती है—महेन्द्र से उनकी बातें होती हैं]

पहला भिक्षु—कुमार, कुमार! हम लौट चले। न जाने अभी सिंहल कहाँ है? हम थक गये कुमार!

महेन्द्र—थक गये? हम थक गये है? कही विजय के लिए प्रस्थान की हुई सेना भी थकती है?—थकती है? रुकती है? लौटती है?

दूसरा भिक्षु—नही कुमार, नही! आगे वढने की हममे न शक्ति रह गई है, न साहस। हमे . .

महेन्द्र—(उत्तेजना मे) न शक्ति, न साहस! यह क्या बोल रहे हो भिक्षुओ ? न शक्ति, न साहस ! छि छि क्या तुम्हारी धमनियो मे वहनेवाली रक्त-धारा सूख गई? क्या तुम्हारी छाती मे स्फुरण पैदा करने वाली धडकने रुक गई? न शक्ति, न साहस! तव तुम इस विजय-अभियान मे सम्मिलित ही क्यो हुए थे? क्या विजय के मार्ग को तुमने फूलो का मार्ग समझ लिया था? फूलो का मार्ग—तव तुम पाटलिपुत्र के विहारो मे रहकर क्यो नही आनद मनाते रहे, मत्र वुदवुदाते रहे? तुम भिक्षु नही, निकम्मे हो, भगोडे हो, जो ससार से भागकर विहारो मे विहार करने चले थे!

पहला भिक्षु—आप भिक्षुओ का अपमान कर रहे है, कुमार!

महेन्द्र—भिक्षुओ का अपमान मै नही कर रहा हूँ, वल्कि वे भिक्षु कर रहे है जो लक्ष्य की ओर पग उठाकर, अव विघ्न-वाधाओ को देख, पीछे मुडना चाहते है। सत्य-पथ पर चलने वाले कायर नही होते। जो लक्ष्य-पथ के मध्य मे मुडकर देखे, वे कायर है, पातकी है, नारकी है! ऐसे लोग न गृहस्थ है, न भिक्षु—दोनोके लिए कलक है! कलक! कलक .

दूसरा भिक्षु—कुमार, वीरता की भी सीमा होती है!

महेन्द्र—होती है, भिक्षुओ, होती है! वीरता की सीमा होती है वलिदान! वीर या तो लक्ष्य पर पहुँचते है, या वलि हो जाते है। हम चल चुके है, या तो सिहल पहुँचेगे या रास्ते मे मर मिटेगे। सिहल, सिंहल! ओह! भिक्षुओ, क्या तुम सुन नही रहे—सिहल तुम्हे पुकार रहा है! भिक्षुओ, क्या तुम देख नही रहे—सिहल तुम्हे वुला रहा है! (एक चट्टान पर चढकर) अरे; सुनो, वह सिहल तुम्हे पुकार रहा है। देखो, वह समुद्र लहरा रहा है! वह देखो लका के स्वर्ण-सौध चमक रहे है! वे तुम्हे पुकार रहे है, भिक्षुओ! भिक्षुओ, तुमने यह क्या कह दिया कि हम थक गये है? थकावट! जव तक हमारे कान हमारे पद-चाप गिनने और नेत्र रास्ते की ऊँचाई-नीचाई निहारते रहेगे, तव तक थकावट आयगी ही, अवसाद

आयगा ही! अरे, हम लक्ष्य की पुकार सुने, हम लक्ष्य का सकेत देखे! फिर कहाँ थकावट? फिर कहाँ अवसाद? बढो भिक्षुओ, बढो—

पहला भिक्षु—(उत्साह मे) हम बढेगे कुमार, हम बढेगे।

दूसरा भिक्षु—(पश्चात्ताप मे) हम धोखे मे थे, कुमार, धोखे मे। अहा, हम सुन रहे है—लका हमे पुकार रही है। अहा, हम देख रहे है, लका के स्वर्ण-सौध हमे इगित से बुला रहे है।

महेन्द्र—हमारे लिए यह अभूतपूर्व अवसर आया है भिक्षुओ। लका राम भी गये थे—वानरी सेना लेकर, उसे जलाने के लिए, उसका सहार करने के लिए! दूसरी बार हम जा रहे है, मानवी सेना के साथ, लका मे से रही-सही राक्षसता दूर करने के लिए, उसे शाति-धर्म की शिक्षा देने के लिए। विजय राम की भी हुई, किंतु हमारी यह विजय इतिहास मे एक नया अध्याय लिखने जा रही है, भिक्षुओ!

सभी भिक्षु—हम बढे! हम बढते चले! बढते चले! बढते चले! बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय!

६

[लंका की तटभूमि :: भिक्षुओ के साथ महेन्द्र]

महेन्द्र—अन्तत हम लका पहुँच गये, भिक्षुओ! भिक्षुओ, वह देखो, अहा!

एक भिक्षु—उफ, हमे कितनी कठिनाइयाँ उठानी पडी!

महेन्द्र—सत्य के पथ मे कठिनाइयाँ आती ही है, भिक्षुओ! फूलो से जो पथ बिछे हो, मानना चाहिए, उनमें कही मिथ्या अवश्य छिपी है।

दूसरा भिक्षु—अब हम महाराज तिष्य को समाचार दे।

महेन्द्र—सत्य अपने नायक को स्वय खीच लेता है भिक्षुओ! हम थोडा आश्वस्त तो हो ले।

(भागते हुए हिरन का शब्द)

पहला भिक्षु—अरे, यह क्या? यह हिरन भागा आ रहा है।

महाराज तिष्य—अब मुझे विश्वास हुआ। मेरा अभिवादन स्वीकार करे और हमारी राजधानी मे पधार कर सिहलवासियो को कृतकृत्य करे।

पहला भिक्षु—महाराज, कुमारी सघमित्रा जल-पथ से पधार रही है। वह अपने साथ बोधिवृक्ष की एक शाखा उपहार के लिए ला रही है—भारत ने यही उपहार सिहल के लिए भेजना उचित समझा है।

महाराज तिष्य—अहा, आज सिहल के भाग्य खुले। बोधिवृक्ष की शाखा। या सत्य की विजय-पताका। यह पताका सिहल पर युग-युग तक फहराती–लहराती रहे।

१०

[बोधिवृक्ष के नीचे महेन्द्र और संघमित्रा—संध्या समय—घंटा-घड़ियाल आदि के शब्द—धीरे-धीरे शान्ति]

महेन्द्र—पॉच वर्ष हो गये हमे आये हुए मित्रे।

सघमित्रा—हॉ, भैया, पॉच वर्ष।

महेन्द्र—तुम से 'भैया' नही छूटा। ह ह ह, अच्छा हुआ कि सघ ने तुम्हे इसके लिए आज्ञा दे दी है।

संघमित्रा—भैया, सात समुद्र पार इस देश मे हृदय थोडा अपनापा खोजता ही है। हॉ, पाँच वर्ष हो गये हमे यहाँ आये।

महेन्द्र—और, इन पाँच वर्षो मे ही कैमी कायापलट हो गई है इस सिहल की। विजय, यथार्थ विजय यही है, सघमित्रे। विजय, जिसमे एक बूंद रक्त नही बहाया जाय। विजय, जिसमें पराजय का कही नाम भी नही हो। विजय, जहाँ विजेता और विजित मे अन्तर नही रह जाय। कहाँ कलिग-विजय। कहाँ यह सिहल-विजय।

सघमित्रा—कलिग में तो हम जीते नही, हारे थे भैया, हमारी यथार्थ विजय तो हुई है इन सिहल में। विजय, जिसमें विजित के

शकुन्तला

[रेडियो रूपान्तर]

१

[रथ की घर्रघर्र, घोड़े की टाप और हिरन की चौकड़ी के शब्द]

दुष्यन्त—उफ, यह हिरन कितनी दूर तक हमे खीच लाया, सारथि! अरे—देखो, देखो, कितना सुन्दर! गर्दन को मोडकर यह वार-वार हमारे रथ को देखता है, तीर लग जाने के भय से शरीर के पिछले भाग को जैसे अगले भाग मे घुसा लेना चाहता है, थकावट के कारण उसका मुँह खुल जाने से आधी-आधी चबाई घासो से रास्ता भर रहा है और, और, ऊँची-ऊँची छलॉग भरता हुआ यह उडता-सा ही दीखता है। (साश्चर्य) ओहो! अव तो यह मुश्किल से दिखाई पडता है, सारथि!

सारथी—जमीन ऊँची-नीची है, इसलिए रास खीचकर रथ की गति धीमी कर दी थी, महाराज! अव समथर भूमि आई है, हिरन जायगा कहाँ?

दुष्यन्त—तो रास ढीली कर दो।

सारथी—जैसी आज्ञा, महाराज! (रथ में तीव्र गति) अहा, देखिये, देखिये, महाराज,—रास ढीली करते ही ये घोडे ऐसे भगे कि इनके सुमो से उठी धूल भी इन्हे नही पकड पाती, चाल ऐसी सम है कि सिर की कलँगी तक नही हिलती-डुलती, अहा, अपने दोनो कानो को उठाये-खटाये ये इस तरह जा रहे है कि समझ में नहीं आता कि ये दौड रहे है या तैर रहे है!

दुष्यन्त—(सानन्द) ओहो, हमारे घोडो ने हिरन को भी मात दे दी—जो पहले सूक्ष्म दीखती थी, वह अचानक स्थूल हो रही है,

१

[रथ की घर्रघर्र, घोड़े की टाप और हिरन की चौकड़ी के शब्द]

दुष्यन्त—उफ, यह हिरन कितनी दूर तक हमे खीच लाया, सारथि! अरे—देखो, देखो, कितना सुन्दर! गर्दन को मोडकर यह बार-बार हमारे रथ को देखता है, तीर लग जाने के भय से शरीर के पिछले भाग को जैसे अगले भाग मे घुसा लेना चाहता है, थकावट के कारण उसका मुँह खुल जाने से आधी-आधी चबाई घासो से रास्ता भर रहा है और, और, ऊँची-ऊँची छलाँग भरता हुआ यह उडता-सा ही दीखता है। (साश्चर्य) ओहो! अब तो यह मुश्किल से दिखाई पडता है, सारथि!

सारथी—जमीन ऊँची-नीची है, इसलिए रास खीचकर रथ की गति धीमी कर दी थी, महाराज! अब समथर भूमि आई है, हिरन जायगा कहाँ?

दुष्यन्त—तो रास ढीली कर दो।

सारथी—जैसी आज्ञा, महाराज! (रथ मे तीव्र गति) अहा, देखिये, देखिये, महाराज,—रास ढीली करते ही ये घोडे ऐसे भगे कि इनके सूमो से उठी धूल भी इन्हे नही पकड पाती, चाल ऐसी सम है कि सिर की कलँगी तक नही हिलती-डुलती, अहा, अपने दोनो कानो को उठाये-सटाये ये इस तरह जा रहे हैं कि समझ मे नहीं आता कि ये दौड रहे है या तैर रहे है!

दुष्यन्त—(सानन्द) ओहो, हमारे घोडो ने हिरन को भी मात दे दी—जो पहले सूक्ष्म दीखती थी, वह अचानक स्थूल हो रही है,

जो बीच से कटी-सी मालूम होती थी, वह जुड़-सी रही है; जो स्वभावत. ही टेढी थी, वह सीधी दीखने लगी है; रथ की गति ऐसी क्षिप्र है कि इसका निर्णय कठिन हो रहा है कि कौन-सी चीज नजदीक और कौन-सी चीज दूर है।

सारथी—देखिये, वह सामने हिरन है—निशाना लगाइये।

दुष्यन्त—अभी-अभी .....

(दूर से एक तपस्वी के शब्द)

तपस्वी—रुको! रुको महाराज! यह आश्रम का मृग है—इसे मत मारो; मत मारो!

सारथी—महाराज, आपके बाण और मृग के बीच म आश्रम के दो तपस्वी खड़े है।

दुष्यन्त—(ससम्भ्रम) रास खीचो, रथ खडा करो!

सारथी—जैसी आज्ञा महाराज!

(एक तपस्वी अपने शिष्य के साथ)

तपस्वी—महाराज, यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारिये, मत मारिये! कहाँ वज्र के समान आपके तीखे बाण और कहाँ हिरन के चंचल प्राण! रूई के गोदाम में आग फेंकना और इन हिरनो के कोमल शरीर पर बाण मारना—दोनो एक है महाराज! आप ऐसे प्रतापी राजा के बाण आर्त्तो की रक्षा के लिए होने चाहिए न कि निरपराधो की हत्या के लिए! धनुष से बाण उतारिये महाराज!

दुष्यन्त—प्रणाम तपस्विवर! आपकी आज्ञा सिर-आँखो पर!

तपस्वी—पुरुवश की मर्यादा के अनुरूप ही आपकी यह नीति है महाराज! भगवान आपको चक्रवर्ती पुत्र दें!

तपस्वी का शिष्य—हाँ, आपको चक्रवर्ती पुत्र ही प्राप्त हो।

दुष्यन्त—ब्राह्मण का आशीर्वाद सिर झुकाकर ग्रहण करता हूँ।

तपस्वी—महाराज, हमलोग यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के लिए समिधा लेने जा रहे है। यह देखिये, मालिनी के तट पर हमारे कुलपति महर्षि का आश्रम दिखाई पड रहा है। यदि कोई हर्ज न हो, तो वहाँ जाकर आतिथ्य ग्रहण करे और देखें कि बाणो के घर्षण से आपकी जिन भुजाओ में घिस्से पड गये है, वे ऋषियो की तपश्चर्या को किस प्रकार निर्विघ्न सम्पन्न करा रही है।

दुष्यन्त—क्या वहाँ कुलपति है?

तपस्वी—अभी-अभी अतिथि-सत्कार का भार अपनी कन्या शकुन्तला को सौपकर वह उसके भाग्य की बुरी रेखा को मिटाने के लिए सोमतीर्थ गये है।

दुष्यन्त—अच्छा, तो मै जा रहा हूँ, वह मेरी भक्ति देखकर ऋषि से निवेदन कर देगी, ऐसी आशा है।

तपस्वी—हमलोग भी चलते है, महाराज! जय हो! जय हो!

दुष्यन्त—सारथी, रथ को बढाओ!

सारथी—जैसी आज्ञा!

दुष्यन्त—अहा, विना कहे ही यह ज्ञात हो जाता है कि हम तपोवन मे आ गये है, सारथि! खोते मे बैठे हुए सुग्गो के वच्चो के मुँह से गिरी धान की वालियाँ पेडो के नीचे विखरी पडी है, ईंगुदी की फलियाँ तोडने से चिकने वने पत्थर के टुकडे जहाँ-तहाँ दिखाई पडते है, हिरनो मे इतना विश्वास है कि वे हमारे रथ के घर्रघर्र शब्द सुनकर भी चौकते नही है और नदी-तट के मार्ग पर वल्कल से चूए जल से रेखाएँ-सी खिंच गई है!

सारथी—हाँ, महाराज!

दुष्यन्त—और भी देखो—हवा से चचल वनी लहरियो से तट-भूमि के वृक्षो की जडे धुली-पुँछी है, यज्ञाग्नि के धूएँ से किसलय की लालिमा और ही रग की हो गई है और जिनसे कुश के अकुर उखाड लिये गये है, ऐसी उपवनभूमि मे हिरन के वच्चे किस तरह निश्शक होकर धीरे-धीरे चर रहे है!

सारथी—वहुत ही सही कह रहे है, महाराज!

दुष्यन्त—सारथि, अव रथ रोक दो और लो यह मेरे धनुषवाण और राजकीय वस्त्राभूषण! आश्रम मे विनीत भाव से ही प्रवेश करना चाहिए न?

सारथी—हाँ, हाँ, महाराज!

दुष्यन्त—और जवतक मै आश्रमवासियो के दर्शन करके लौटूँ, तव तक तुम घोडो को भी ठडा कर लो।

सारथी—जैसी आज्ञा महाराज की।

(आश्रम मे प्रवेश)

दुष्यन्त—यह आश्रम है! अरे, यह क्या? इस शान्त तपोवन

मे दाहिनी भुजा क्यो फडक उठी? यहाँ इसकी सार्थकता? या होन-हार के लिए हर जगह दरवाजा खुला रहता है।

दूर से शब्द—इधर, इधर आओ, सखियो!

दुष्यन्त—ओहो, यह कैसी आवाज! यह तो दाहिने ओर की वृक्षो की झुरमुट से आ रही है। तो उधर ही चला जाय। (बहुत दूर बढकर) ये तो ऋषिकन्याये हैं। किस तरह अपने प्रमाण के अनुरूप छोटे-बड़े घडे लिए पौदो को सीचने के लिए आ रही हैं! कितनी सुन्दर लग रही है ये! जो रूप महलो में भी दुर्लभ है, उसकी आश्रम मे ऐसी बहुलता! अहा, वन-लताओ ने उद्यान-लताओ को भी परास्त कर दिया। खैर, इस छाया-तले खडा होकर जरा चुपके-चुपके उन्हे देखूँ तो!

(सखियो सहित शकुन्तला का प्रवेश)

एक सखी—अरी शकुन्तले! मालूम होता है तात कण्व को तुमसे अधिक प्रिय है ये आश्रम-वृक्ष! तभी तो नवमल्लिका की कोमल कुसुम-कलिका-सी सुकुमार तुमपर इन्हे सीचने का भार सौपा है उन्होने।

शकुन्तला—बहन अनुसूये, केवल पिता की आज्ञा ही नही है, मेरा भी तो इनपर सहोदर जैसा स्नेह है!

दूसरी सखी—सखी शकुन्तले, ग्रीष्मकाल मे फूल देनेवाले आश्रम-वृक्षो को तो तुम सीच चुकी, अब हम उन वृक्षो को सीचे जिनका फूल देने का समय बीत चुका। निष्काम कर्म महान् फलदायक समझा जाता है न?

शकुन्तला—प्यारी प्रियम्वदे, तुम्हारी राय बडी ही रमणीय है!

दुष्यन्त—क्या यही कण्व-तनया शकुन्तला है? तो भगवान कण्व, क्षमा करे, आप मे दूरदर्शिता का नितान्त अभाव है। ऐसी कन्या और उसे आश्रम-कर्म मे नियुक्त कर रखा है आपने? ऐसे स्वाभाविक मनोहारी शरीर से जो तपस्या की साधना की इच्छा रखता है, वह मानो नील कमल के पत्ते की धार से शाल का पेड काटना चाहता है! जो हो, मै इस पेड की आड से इस रूप का रसपान करूँ! (छिप-कर खडा होता है)

शकुन्तला—बहन अनुसूये, उफ, प्रियम्वदा ने वल्कल को किस तरह कसकर बाँध दिया है, मुझे कष्ट हो रहा है, जरा इसे ढीला तो कर दे सखि!

प्रियम्वदा—(हँसती हुई) अरी, मुझे क्यो दोप दे रही है, दोष दे अपनी जवानी को जो क्षण-क्षण तुम्हारे वक्षस्थल को विशाल और विस्तृत बनाये जा रही है।

दुष्यन्त—(कुज से) ठीक ही कह रही है यह प्रियम्वदा। अहा, काँधे पर बँधी हुई महीन गाँठवाले और दोनो स्तनो को बिल्कुल ँक रखनेवाले इस वल्कल से उसकी नई जवानी अपनी पूरी शोभा उस प्रकार नही दिखा पाती है जैसे पीले पत्तो के दोनो मे रखे हुए फूलो की एक झलक मात्र ही हमे प्राप्त होती है। लेकिन क्या ऐसा कहना भी उचित है? सेवार से घिरी हुई कमलिनी और भी सुन्दर लगती है और दागो से भरे चन्द्रमा की मलिन चाँदनी और भी खिलती है। यो ही इस वल्कल मे भी यह तन्वी मनोरम ही लगती है—भला, सौन्दर्य के लिए शृ गार क्या चीज? और, एक बात और भी—इस मृगनयनी के लिए निस्सदेह यह वल्कल कठोर है, तो भी यह सुन्दर ही लगता और मन मे जरा भी रुचि-भग नही लाता है, जैसे विकसित कमलिनी जब जल से ऊपर सिर उठाती है तो उसके कर्कश वृ तजाल उसकी शोभा मे और भी वृद्धि कर देते है।

शकुन्तला—सखियो, यह आम का पेड हवा से हिलती हुई अपनी पत्तियो की उँगलियो से, जैसे कुछ कहने को, हमें बुला रहा है। चलो, जरा उसका मान रख दे। (जाती है)

प्रियम्वदा—यहाँ आई, तो थोडी देर यहाँ खडी रहो सखि। देखती नही, तुम्हारे निकट रहने से यह आम का वृक्ष इस तरह सनाथ हो रहा है जैसा कि उसने लता ही पा ली हो।

दुष्यन्त—(कुज से) प्रियम्वदा सच कह रही है। इस बाला के लाल-लाल अधर किसलय है, दोनो बाहुएँ शाखाएँ है और फूल के समान प्रलोभक यौवन इसके अग-अग मे खिला पडता है।

अनुसूया—प्यारी शकुन्तले, क्या तुम भूल गई कि इन आमवृक्ष की वधू यह नवमल्लिका है, जिसने स्वयं इसे वरा है और जिसे तुमने वन-तोषिणी अभिधा दे रखी है।

शकुन्तला—यदि इसे भूलू, तो अपने को भूल जाऊँ सखि। अहा, इन दोनो के सम्मिलन का शुभ मुहूर्त जैसे निकट आ गया है। नवमल्लिका नई कलियो से लदी गई है और आम वृक्ष फलो के बोझ से विह्वल-सा बन रहा है।

प्रियम्वदा—शकुन्तला को यह वन-तोषिणी क्यो पसद है, जानती हो सखि अनुसूये!

अनुसूया—क्यो? जरा सुनाओ तो।

प्रियम्वदा—इसलिए कि जिस तरह इसे अनुरूप वृक्ष मिला, उसी तरह मुझे भी अनुरूप वर मिले!

शकुन्तला—यह तुम्हारे अपने मन की बात है, प्रियम्वदे!

अनुसूया—ओहो, इस नोकझोक मे इस माधवी-लता को तुम भूली जा रही हो शकुन्तले!

शकुन्तला—जिसे पिताजी ने मेरे साथ ही सीच-सीचकर बडा किया है, उसे, और भूल जाऊँ? (साश्चर्य) किन्तु सखि, अरे, यह क्या? असमय मे ही नीचे से ऊपर तक क्यो फूलो से लद गई है यह माधवी-लता?

प्रियम्वदा—क्योकि तुम्हारा व्याह शीघ्र होनेवाला है। ओहो, मुहँ क्यो बना रही है? तात कण्व ने ही तो एक वार ऐसा कहा था!

दुष्यन्त— (कुज से) क्या यह ऋषि कण्व की किसी दूसरे वर्ण से उत्पन्न हुई कन्या है? मुझे ऐसा लगता है कि यह क्षत्रियो के ग्रहण करने योग्य है—नही तो मेरा मन इसकी ओर क्यो आकृष्ट होता? जहाँ सशय का विषय हो, वहाँ अन्त करण की स्वत प्रवृत्तियो को ही प्रमाण वनाना चाहिए न।

(अचानक शकुन्तला चिल्ला उठती है)

शकुन्तला—सखियो, इस दुष्ट भौरे से मुझे वचाओ!

अनुसूया—क्या हुआ, क्या हुआ शकुन्तले!

शकुन्तला—नवमल्लिका के थाले मे पानी पडते ही यह भौरा भन्न-भन्न करता उडा और अव मेरे चेहरे पर चक्कर काट रहा है।

दुष्यन्त—(कुज से) अहा! भौरे से अपने-को वचाने मे यह कैसी सुन्दर लग रही है। जिस-जिस ओर भौरा जा रहा है, उस-उस ओर अपने सुन्दर नेत्रो को घुमाती हुई मानो भय के वीच भी यह सुन्दरी अपनी भवो को कमान-लीला सिखा रही है! और, ओ मधुकर! कमाल, कमाल! वार-वार हाथो से हटाये जाने पर भी तू उसके चचल नेत्रो को चूम ही लेता है, उसके कानो के निकट पहुँचकर अपनी प्रेम-कथा कह ही आता है और, अरे, उसके रति-सर्वस्व अधरो का

रसपान करने से भी तू नही चूकता। मै यहाँ उधेडबुन मे ही रहा और उधर तूने बाजी मार ली।

शकुन्तला—बचाओ सखियो, बचाओ।

दुष्यन्त—(कुज से) अहा, अब कहाँ भ्रमर-निवारण? यहाँ तो अब बिना साज के ही नृत्य प्रारम्भ हो गया है जैसे। हाँ, हाँ, सारी बाते नृत्य की-सी ही तो हो रही है। अपनी भवे आडी-तिरछी करती यह अपनी चचल नजरे इधर-उधर डाल रही है, शरीर का मध्य भाग कुछ टेढा होकर रह-रह कर तरगायमान बन जाता है, पल्लवो की तरह कोमल-चिकनी हथेलियो और उँगलियो को रह-रहकर झटकार देती है और जब-जब भय से सी-सी कर उठती है तो मालूम होता है आलाप के लिए अभी-अभी उसके अधर खुल रहे है।

शकुन्तला—सखियो, सखियो। यह दुष्ट भौरा नही मान रहा। मै जहाँ भागती हूँ, यह पिड नही छोड रहा। बचाओ, बचाओ।

प्रियम्वदा—हम कौन होती है तुम्हे बचानेवाली। राजा दुष्यन्त को क्यो नही पुकारती जिनके ऊपर इस सारी तपोभूमि की रक्षा का भार है।

दुष्यन्त—मेरे प्रकट होने का यही सुअवसर है। (प्रकट होता है) जब तक इस पृथ्वी पर दुष्टो का शासन करने वाले पुरुवशी राजाओ का राज्य है, तब तक कौन दुष्ट इन भोलीभाली ऋषि-कन्याओ के साथ अविनय का व्यवहार करनेवाला होता है।

अनुसूया—कोई बडी बात नही हुई है आर्य। यह मेरी [illegible] सखी एक दुष्ट भौरे से तग किये जाने के कारण घबरा [illegible]

दुष्यन्त—(शकुन्तला से) क्यो देवि, आपकी तपस्या [illegible] विघ्न तो नही हो रहा?

अनुसूया—मेरी सखी कुछ सकोच-शीला है [illegible] ऐसे अतिथि पहुँच गये, तो फिर विघ्न कहाँ?

दुष्यन्त—आप भी तो थकी-सी मालूम होती है—आइए, आपलोग भी थोड़ी देर बैठ लीजिए।

प्रियम्वदा—सखि शकुन्तले! चलो हम भी बैठे, अतिथि का आग्रह कैसे टाला जायगा!

(सब वेदिका पर बैठते हैं)

दुष्यन्त—अहा, कितना रमणीय लगता है आप लोगो का यह समान वय और रूप! और, फिर आप लोगो की मित्रता भी तो वैसी ही लगती है!

अनुसूया—आर्य, आपके मधुर भाषण से उत्पन्न ढिठाई आपसे कुछ पूछने को विवश कर रही है। क्या आप बता सकेगे, आप किस राजवश को अलकृत करते है? किस देश को विरहोत्कठित करके यहाँ पधारे है? और किस कारण से अपने सुकुमार शरीर को आपने तपोवन आने के घोर परिश्रम मे डाला है?

दुष्यन्त—यदि आग्रह है, तो सुनिये—मैं एक वेदज्ञ पडित और राजा के दरबार का धर्माधिकारी हूँ। पवित्र आश्रमो को देखने के प्रसंग मे इस तपोवन मे आ गया हूँ।

अनुसूया—आपके आने से हम तपस्वी कृतार्थ हुए।

प्रियम्वदा—(धीरे से) सखि शकुन्तले! यदि आज तात कण्व यहाँ होते!

शकुन्तला—तो क्या होता?

प्रियम्वदा—तो अपने जीवन का सर्वस्व इन विशेष अतिथि को समर्पण कर कृतार्थ कर देते।

शकुन्तला—(अनखा कर) फिर तू शैतानी कर रही है प्रियम्वदे! जाओ, मै तुम्हारी बाते नही सुनती।

दुष्यन्त—क्या मैं आपकी इन सखी के बारे में कुछ पूछ सकता हूँ?

अनुसूया—अनुग्रह में भी अभ्यर्थना?

दुष्यन्त—पूज्य महर्षि कण्व तो आजन्म ब्रह्मचारी हैं। फिर यह उनकी पुत्री.

अनुसूया—राजर्षि कौशिक का नाम तो आपने सुना होगा।

दुष्यन्त—भगवान कौशिक को कौन नही जानता?

अनुसूया—मेरी सखी के पिता वही है। जब यह त्याग दी गई, तो तात कण्व ने इसे पिता की तरह पाला-पोसा।

दुष्यन्त—त्याग दी गई?

अनुसूया—हाँ, आर्य! बहुत दिन हुए राजर्षि कौशिक उग्र तपस्या कर रहे थे कि देवताओ को भय हुआ और उन्होने उनकी तपस्या भग करने को मेनका नाम की अप्सरा भेजी।

दुष्यन्त—दूसरो की तपस्या देखकर देवताओ को भय होता ही है। फिर क्या हुआ?

अनुसूया—वसत का आगमन था। सुहावना समय, एकान्त, मेनका का उन्मादक रूप

दुष्यन्त—अब कहने की आवश्यकता नही। तो आपकी सखी अप्सरा से उत्पन्न हुई है।

अनुसूया—हाँ, महाराज!

दुष्यन्त— मै भी यही सोच रहा था, मनुष्य जाति की स्त्री से ऐसे रूप की उत्पत्ति हो नही सकती। भला कहिये, बिजली की तरल ज्योति क्या पृथ्वी से निकल सकती है? और .

प्रियम्वदा—आर्य, मालूम होता है आप कुछ और कहना चाहते थे?

दुष्यन्त—आपका अनुमान बिल्कुल ठीक है।

प्रियम्वदा—तो अधिक सोच-विचार करने की क्या आवश्यता? तपस्वियो से पूछने के लिए कोई विशेष नियम नही होता।

दुष्यन्त—तो सुनिये—आपकी सखी कामदेव की गति रोकने-वाले तपस्वियो का यह वेश विवाह के पहले तक ही रखेगी या रूगाननेत्री होने के कारण हिरनो के साथ ही अपना सारा जीवन इसी तरह व्यतीत करेगी?

प्रियम्वदा—अभी मेरी सखी धर्मानुष्ठान में लगी है। लेकिन, पिताजी का विचार इसे किसी अनुरूप वर को सौंप देने का है।

शकुन्तला—बहन अनुसूये, मै चली। जाती हूँ और ये सारी उटपटाग बाते माता गौतमी से कहकर रहूँगी।

अनुसूया—अरे, यह क्या? अभी तो इनका अतिथि-सत्कार भी नही किया और छोड चली। आश्रमवासियो का क्या यही धर्म है?

प्रियम्वदा—ओहो, बडी गुस्सेवाली बनी है तू। लेकिन तू जा नही सकती।

शकुन्तला—(तिनक कर) क्यो?

प्रियम्वदा—क्योकि अभी दो वृक्ष सीचने को जो रह गये है। अपना कर्त्तव्य पूरा कर ले, तो जाना।

दुष्यन्त—भद्रे, इन वृक्षो के सीचने से ही आपलोग थक गई है। देखिये न इन्हे। (शकुन्तला की ओर) बार-बार घडे उठाने से इनकी दोनो हथेलियाँ लाल-लाल हो गई है। दोनो कधे झुके-से दीखते है। जोर-जोर से साँस लेने के कारण उन्नत वक्षस्थल नीचे-ऊपर हो रहे है। मुँह पर पसीने की बूँदे छहर रही है जिनसे कानो के शिरीष-कुसुम चिपक गये है। और, केवल एक हाथ द्वारा लपेटी गई चिकुर-राशि, बधन खुल जाने से, इधर-उधर बिखरी पडी है। रह गई कर्त्तव्य-पूर्त्ति की बात तो उसके बदले मे लीजिए यह अँगूठी।

प्रियम्वदा—(अँगूठी लेकर) यह अँगूठी ..

दुष्यन्त—यह अगूठी राजा ने मुझे दी थी। इसपर राजा का नाम है।

प्रियम्वदा—बता, अब कैसे जाती है?

(दूर से स्वर सुनाई दे रहा है)

तपस्वियो, सावधान! राजा दुष्यन्त इस वन मे आखेट करने को आ रहे हैं। उसके घोड़ो की टापो से उडी हुई लाल धूल गीले वल्कल जिनपर सूखने को डाले गये थे, उन वृक्षो पर पड रही है। एक पागल हाथी भी भडका हुआ आ रहा है जिसका एक दाँत वृक्षो पर आघात करने से टूट गया है। जगली मृग चारो ओर भाग रहे है। सावधान!

अनुसूया—आर्य, अब हमे कुटिया पर जाने की आज्ञा दें। शकुन्तले, माता गौमती घबरा रही होगी, अब हमलोग चले।

शकुन्तला—अरे यह क्या? मेरे पैर मे यह झिन-झिनी-सी लग गई है। मुझसे तो चला नही जाता, बहन!

दुष्यन्त—आप लोग घबराये नही, मैं आश्रम-वासियो को कष्ट नही होने दूँगा।

अनुसूया—आह, हम आपकी सेवा भी नहीं कर सके। फिर दर्शन दीजिएगा महाभाग! चलो, शकुन्तले!

शकुन्तला—बहन अनुसूये, देखो न इस कुश को भी इसी समय मेरे पैर मे गडना था और मेरा वल्कल इस झरबेरी से उलझ रहा है। थोडी देर ठहरो, मै अभी आई। (सब जाती है)

दुष्यन्त—सब चली गई, चली गई। मै भी चलूँ। इस मुनि-बाला ने चलते-चलाते मेरी अजीब हालत कर दी। अब मेरा शरीर तो आगे जा रहा है और मन? जैसे रेशमी झडा हवा लगने से पीछे की ओर ही उडता है, मेरा मन भी शरीर की प्रतिकूल दिशा मे ही भागा जा रहा है।

२

[अनुराग-सूचक वाद्य के बाद]

दुष्यन्त—विघ्न दूर हो जाने के कारण ऋषियो ने तो हमे जाने की आज्ञा दे दी है, किन्तु क्या शकुन्तला को छोड़कर जा सकता हूँ? कहॉ है मेरी प्यारी शकुन्तला? ओहो, मालूम होता है, वह अभी-अभी इसी रास्ते से गई है! क्योकि जिनसे फूल तोडे गये है, उन वृन्तो की अस्तव्यस्तता गई नही है और जहॉ पत्ते तोडे गये है, वहॉ अब भी दूध निकल रहा है! और इस मालिनी की पीली रेत पर जो चरण-चिह्न है, वे भी इसी की सूचना देते है, क्योकि वे आगे की ओर उथले और जघन-भार से पीछे की ओर गहरे पडे है! (आगे बढकर) अहा! ऑखे तृप्त हो गई! मेरी प्रिया फूलो से बिछी पत्थर की पटिया पर लेटी है। इस लता-ओट से उसकी बाते सुनूँ तो?

अनुसूया—सखि शकुन्तले, कमल के पत्तो की हवा अच्छी लगती है न?

शकुन्तला—(सखेद) यह क्या झल रही हो, सखियो!

अनुसूया—यह तुम्हे क्या हो गया है, शकुन्तले?

प्रियम्वदा—बहन अनुसूया, उन राजा के दर्शन के बाद ही शकुन्तला की यह हालत हो गई है—कोई दूसरी बात नही है।

अनुसूया—क्या यह सच है शकुन्तले?

शकुन्तला—तुमसे न कहूँगी तो कहूँगी किससे? किन्तु तुमसे . . .

अनुसूया—कहो, कहो। प्रियजनो मे दुःख बॉट देने से वेदना सह्य हो जाती है!

अपनी माँ से बिछुडकर बिलला रहा है, चलो, हम उसे माँ से मिला दे।

शकुन्तला—मुझे यहाँ अकेली छोडकर . .

प्रियम्वदा—अरी, तुम्हारे निकट पृथ्वीनाथ बैठे है, तो भी तुम अकेली ?

(सखियाँ जाती है)

दुष्यन्त—वे चली गईं, तो भी घबडाने की क्या बात ? आपकी सेवा के लिए मै हूँ ही। कहिए तो इस जल-बिंदु-शोभित क्लान्तिहारी शीतल कमल-पत्र से आपपर पखा झलूँ या नवल कमल पुष्प-से लाल-लाल इन चरणो को अपनी गोद मे

शकुन्तला—रहने दीजिए, राजर्षि ! मुझे अपराधिनी मत बनाइए ! मुझे भी जाने दीजिए !

दुष्यन्त—(स्वगत) धन्य है ये वन-कन्याएँ ! इच्छा रखते हुए भी इनका प्रतिकूल व्यवहार होता है, मिलन-सुख की कामना करती हुई भी ये आत्मसमर्पण से घबडाती हैं। दुनिया को कामदेव सताता है, ये उसे भी सता मारती है !

शकुन्तला—मै चली महाराज !

दुष्यन्त—क्या सच ! तो जाते-जाते (अचल पकडने की चेष्टा)

शकुन्तला—पुरुवशी, शिष्टाचार की रक्षा कीजिए। देखते नही, चारो ओर ऋषि लोग आ-जा रहे हैं।

दुष्यन्त—ऋषिकन्याओ का गान्धर्व विवाह सदा से होता आया है, सुन्दरि ! ऋषि कण्व भी यह सुनकर प्रसन्न ही होगे !

शकुन्तला—क्षमा कीजिए, मै चली। आपकी इच्छा पूर्ति न कर सकी. . किन्तु सिर्फ सम्भापण से परिचित इस दासी को न भूलियेगा।

दुष्यन्त—सुन्दरि, जैसे दिन ढलने पर छाया वृक्ष से दूर चली जाती है, किंतु तो भी उसके मूल को नही छोडती, उसी प्रकार तुम दूर भले ही चली जाओ, किंतु मेरे हृदय को नहीं छोड सकोगी !

शकुन्तला—(कुछ आगे बढने के बाद) अरे, यह क्या ? मेरा मृणाल-ककण कहाँ गिर पडा ? (लौटकर) महाराज, क्या आपने मेरा मृणाल-ककण देखा है ? तो दीजिये और देखिये कही ऋषियो की नजर न हम पर पड जाय।

दुष्यन्त—पाया है ओर दूँगा, लेकिन एक शर्त।

शकुन्तला—कौन-सी शर्त ?

दुष्यन्त—मै स्वय पहना दूँ इसे !

शकुन्तला—उफ, आप तो ....अच्छा, यही सही ! (हाथ बढाती है)

दुष्यन्त—(हाथ पकडकर) अहा, कितना सुन्दर स्पर्श है ! शिव ने कामदेव को जला दिया, तो विधाता ने उसपर अमृत छिडककर यह नवाकुर उत्पन्न किया है ?

शकुन्तला—आर्यपुत्र, शीघ्रता कीजिए !

दुष्यन्त—आपने क्या कहा, आर्यपुत्र ! तो .

शकुन्तला—तो तो क्या आर्यपुत्र !

दुष्यन्त—अपने इन सुन्दर, स्पदित, अछूते अधरो ....(चूमने की चेष्टा करता है)

(नेपथ्य से एक आवाज)

ओ चकवी, रात हो गई, अब अपने चकवे को विदा करो !

शकुन्तला—आर्यपुत्र ! विदा, विदा ! आर्या गोतमी शायद मेरा हाल जानने को पधार रही है, इसीलिए सखियो ने सकेत किया है ! विदा, विदा, आर्यपुत्र !

३

(भय-सूचक वाद्य के बाद)

अनुसूया—आखिर शकुन्तला को अनुकूल वर प्राप्त हुआ; किन्तु भय होता है, प्रियम्वदे, कि राजा अपनी राजधानी में जाकर अपनी पटरानियो मे कही शकुन्तला को भूल न जायँ !

प्रियम्वदा—नही, नही, उनके ऐसे रूप-गुण वाले पुरुष धोखा नही दे सकते। बहन मुझे तो भय है पिता कण्व का !

अनुसूया—वह तो प्रसन्न ही होगे। लडकी को योग्य वर मिले, पिता को इनसे बढकर और किसी दूसरी बात से प्रसन्नता नही होती।

प्रियम्वदा—भगवान करे, ऐसा ही हो। तो, बहन, हमलोग अब काफी फूल चुन चुके, अब आश्रम में चले।

अनुसूया—काफी? अरी, आज शकुन्तला के सौभाग्य-देवता की भी तो पूजा करनी है! कुछ और चुन—ओहो यह क्या? कोई अतिथि पुकार रहे हैं!

(नेपथ्य से दुर्वासा का स्वर)

दुर्वासा—ओ, देख; मैं हूँ, मैं!

प्रियम्वदा—हाँ, कोई अतिथि ही मालूम होते हैं तो क्या हुआ, शकुन्तला तो वहाँ है ही।

अनुसूया—है तो, लेकिन उसका शरीर ही है वहाँ—मन तो राजा के साथ गया!

(नेपथ्य से फिर दुर्वासा का स्वर)

दुर्वासा—ओरी; तू अतिथि का निरादर करती है तो ले..... जिसके ध्यान में तूने तपस्वी का निरादर किया है, वह बार-बार याद दिलाने पर भी तुझे उस तरह भूल जायगा जिस तरह पागल अपनी कही गई बात भूल जाता है!

प्रियम्वदा—हाय, हाय, वही हुआ, जिसकी आशंका थी! मालूम होता है, शून्यहृदया शकुन्तला किसी पूज्य व्यक्ति से कोई अपराध कर गई!

अनुसूया—और कौन होगा, तुनुकमिजाज दुर्वासा ऋषि होंगे! वह देखो, इतना बड़ा वज्रपात करके किस तरह जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए चले जा रहे हैं।

प्रियम्वदा—हाँ, आग के सिवा दूसरा और कौन जला सकता है? लेकिन, बहन अनुसूये, तुम जाकर उन्हें शान्त करो हाय..

(जाती है)

अनुसूया—आपके पैरों पड़ती हूँ भगवान! उसे क्षमा कर दीजिए, वह एक भोली बालिका है, तपस्वी का प्रभाव बेचारी क्या जाने? फिर उसका यह पहला अपराध है महर्षि!

दुर्वासा—मेरी बात अन्यथा नहीं हो सकती! लेकिन तू गिड़गिड़ा रही है, तो जा, जब उसके प्यारे को कोई याद दिलानेवाला अलंकार दिखाया जायगा, तब शाप की निवृत्ति हो जायगी। हटो, मैं चला!

(दुर्वासा क्षिप्र वेग से चले जाते हैं।)

प्रियम्वदा—अब कुछ धीरज हुआ! राजा ने चलते समय एक

अँगूठी शकुन्तला को दी है, अब यह अँगूठी ही उसकी रक्षिका सिद्ध होगी।

अनुसूया—किन्तु प्रियम्वदे, यह बात अभी हमी दोनो के बीच रहे। क्योकि कोमल-हृदया शकुन्तला इस शाप की कथा सुनकर क्या जीवित रह सकेगी?

प्रियम्वदा—देखो तो वहाँ बहन, शकुन्तला किस तरह बाये हाथ पर गाल रख तस्वीर की तरह बैठी है! आह! प्रियतम के ध्यान मे वह इतनी निमग्न है कि यह जान भी न सकी कि उसके सिर पर कौन-सा बादल अभी-अभी उमड कर गाज गिरा गया है!

४

[करुण स्वर में वाद्य के बाद]

कण्व—आज शकुन्तला जायगी। इस कल्पना ने ही मेरे हृदय को विषाद से भर दिया है। आँसुओ को रोकता हूँ, तो वे गले को गीला कर आवाज को रुँध देते है। सामने की चीजे भी धुँधली हुई जा रही है। मै वनवासी हूँ, तो भी स्नेह से इतना विह्वल हो रहा हूँ, तो गृहवासी अपनी कन्या को विदा करते समय कितना दुखित होते होगे!

गौतमी—बेटी शकुन्तले, देख, वह तुम्हारे पिता आ रहे है—उनकी आखो मे डबडबाये आँसू तुम्हारे आलिगन को व्याकुल है। उठ, आशीर्वाद ले!

शकुन्तला—(चरणो मे लिपटी हुई) पिताजी! (गला भर आता है)

कण्व—बेटी! भगवान तुम्हारा कल्याण करे! जैसे शर्मिष्ठा ने ययाति का प्रेम प्राप्त किया था, उसी तरह तुम भी पति-प्रेम प्राप्त करो और पुरु की तरह तुम्हे भी सम्राट् पुत्र प्राप्त हो!

गौतमी—बेटी, महर्षि कण्व ने यह आशीर्वाद नही दिया है, बल्कि वरदान दिया है तुम्हे।

कण्व—बेटी, जिसमें तुरन्त आहुति पडी है, इस यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा कर लो! यह यज्ञाग्नि तुम्हारा मगल करे और इसकी हवि की सुगध की तरह तुम्हारी कीर्ति दिग्दिगन्त में फैले।

ओ शारगरव, ओ शारद्वत! इधर आओ बेटे!

दोनों शिष्य—गुरुदेव!

कण्व—बेटो, अपनी बहन को मंगल-पथ पर ले जाओ!

दोनो शिष्य—बहन शकुन्तले, हम अब चले।

कण्व—ओ तपोवन के तरुओ! जो शकुन्तला तुम्हे सींचे बिना जल भी नही पीना चाहती थी, जो अलकार की अनुरागिनी होने पर भी मारे स्नेह के तुम्हारे पल्लवो को नही तोड़ती थी, तुम्हारे पहले फूल को देखकर जो उत्सव मनाने लगती थी, वह आज अपने पति के घर जा रही है, तुम लोग उसे आज्ञा दो!

और बेटी! कमल के पत्तो से हरे-भरे सरोवर तुम्हारे मार्ग को सुन्दर बनावे, घनी छायावाले वृक्ष सूर्य के ताप से बचावे, रास्ते की धूल मे कमल-पराग की कोमलता हो, और शान्त-स्निग्ध पवन तुम्हारे पीछे-पीछे पखे झलता हुआ चले।

(कोयल का स्वर)

सारंगरव—अरे, यह कोयल कूक उठी! पिताजी, आपकी आज्ञा मानकर वन-देवता ने इस कूक के बहाने शकुन्तला को विदा का सन्देश दे दिया!

गौतमी—हाँ, हाँ, बेटी! वन-देवता ने तुम्हे जाने की अनुमति दे दी, उन्हे प्रणाम करो।

शकुन्तला—सखि प्रियम्वदे, आर्यपुत्र की दर्शन-लालसा मुझे आगे खीच रही है, किन्तु आह, मेरे पैर इस आश्रम को छोडने के लिए उठ नही रहे है!

प्रियम्वदा—तुम्हारी ही यह दशा नही है सखि, सारे आश्रम को देखो—हिरनी चबाती हुई कुश को उगले दे रही है, नाचती हुई मयूरी अचानक रुक गई और लताएँ पीले पत्ते गिराकर मानो आँसू टपका रही है!

शकुन्तला—पिताजी, मुझे इस लता-बहन माधवी से अनुमति लेने दीजिए!

कण्व—मैं जानता हूँ बेटी, तुम्हारा उसपर कितना स्नेह है। देख, वह तुम्हारी दाहिनी ओर है!

शकुन्तला—(लता से लिपटती हुई) बहन माधवी, अपनी शाखा-बाहुओ से मुझे कस लो, क्योकि आज से फिर भेंट नही होगी

हमारी-तुम्हारी। बहन अनुसूये, सखि प्रियम्वदे, इस माधवी-लता को तुम्हे ही सौपे जा रही हूँ, सखियो।

अनुसूया—(कातर स्वर मे) किन्तु हमे किसे सौपे जा रही हो सखि।

प्रियम्वदा—(रोती हुई) प्यारी सखि। ओह, हमे किसे सौपे जा रही हो।

कण्व—बेटी अनुसूये, प्रियम्वदे। तुम लोग यह क्या कर रही हो। रोओ मत बेटियो . शकुन्तला को ढाढस बँधाओ।

शकुन्तला—(आँसू पोछती हुई) गर्भ-भार के कारण आश्रम के आस-पास ही मदमद घूमती रहनेवाली यह हिरनी जब सुखपूर्वक बच्चा दे ले, तो उसकी खबर मुझे अवश्य दीजिएगा, भूलिएगा नही पिताजी।

कण्व—तुम्हारा अतिम आग्रह, और मै भूलूँ?

शकुन्तला—और यह कौन मेरे पैरो से लिपटकर मेरा आँचल खीच रहा है।

कण्व—कुश के नुकीले अग्रभाग से जिसका मुँह छिल जाने पर तुमने बार-बार ईगुदी का तेल लगाकर जिसे अच्छा किया, जो तुम्हारे हाथ के एक मुट्ठी सॉवे पर पलकर इतना बडा हुआ, जो तुम्हारे पुत्र-सा ही लगता था, वह मृगछौना आज तुम्हारा रास्ता रोके खडा है, बेटी।

शकुन्तला—बेटा, जो तुम्हे छोडकर जा रही है, उसका पीछा तू क्यो कर रहा है रे? जब तेरी माँ मर गई थी, मैने तुझे पाला-पोसा था, अब पिताजी तेरी खोज-खबर लेगे, इसलिए जा, पिताजी के पीछे लग बेटा। (रोती हुई चलती है)

कण्व—बेटी, रोओ मत। स्थिर हो और रास्ता देखो। तुम्हारी बरौनियाँ ऊपर उठ गई है, इसलिए इन ऑसुओ के कारण तुम रास्ता ठीक से देख नही पाती, इन ऊबड-खाबड मे तुम्हारे पैर लडखडा रहे हैं।

सारगरव—गुरुदेव, प्रियजन को जलाशय तक ही पहुँचाना चाहिए। देखिये, यह सरोवर आ गया।

अनुसूया—शकुन्तले, तपोवन मे ऐसा कोई सहृदय प्राणी नही है जो तुम्हारे वियोग से दुखी न हो। कमलवन की ओट में पडी

चकई पुकारे जा रही है, लेकिन तो भी वह चकवा बोल नहीं रहा है—अपने मुख में मृणाल रखे किस कातर दृष्टि से वह तुम्हारी ओर देख रहा है?

शकुन्तला—(सिसकती है)

कण्व—बेटी, चुप हो! चलते समय तुम्हे एक शिक्षा देना अपना कर्तव्य समझ रहा हूँ—जाओ, सुख से अपने पति के घर पहुँचो। वहाँ गुरुजनो की सेवा मे नही चूकना, सौतो को भी प्रिय सखी समझना; पति कदाचित् अपमान करे तो भी क्रोध करके उनसे मत झगड़ बैठना: दास-दासियो से उदारता का व्यवहार रखना और अपने सौभाग्य पर कभी नही गर्व करना! बेटी, यही कुल-कामिनियो का धर्म है।

गौतमी—हाँ, बेटी, इससे बढ़ कर नारी के लिए कोई दूसरा उपदेश हो नही सकता।

कण्व—बेटी, आओ, फिर हम मिल ले।

शकुन्तला—पिताजी, मलय-पर्वत से उखाड़ी गई चंदन-लता की तरह आपकी गोद से दूर होकर मैं किस तरह जी सकूँगी? आह!

कण्व—अधीर मत हो बेटी! पति का अपार स्नेह पाकर भरे-पूरे घर की गृहिणी बनकर और पूर्व दिशा की तरह सूर्य-सा प्रतापी पुत्र पाकर तुम इस विरह-दुःख को शीघ्र भूल जाओगी बेटी!

शकुन्तला—पिताजी! प्रणाम पिताजी!

कण्व—मेरी इच्छा पूरी हो, बेटी!

शकुन्तला—बहन अनुसूये, प्यारी प्रियम्वदे—तुमलोग भी एक बार फिर मिल लो बहन!

(दोनो मिलती है)

अनुसूया—राजा को यदि पहचानने में कठिनाई हो, तो वह अँगूठी दिखा देना!

शकुन्तला—तुम्हारी इस बात ने तो मेरा हृदय कँप उठा!

प्रियम्वदा—डरो नही सखी, प्रेम मे खटका हुआ ही करता है!

सारंगरव—देवि, अब बेला बहुत चढ़ गई—अब शीघ्रता की जाय!

शकुन्तला—पिताजी, भूलियेगा नही!

कण्व—(ठडी साँस लेकर) पर्णकुटी के द्वार पर तुम्हारे हाथो से लगाये नीवार मे जब तक कोपले आती रहेगी, तब तक तुम्हे किस तरह भूल सकूँगी बेटी। अच्छा, जाओ—शिवास्ते सन्तु पन्थान !

५

[विरह-सूचक वाद्य-ध्वनि के बाद]

दुष्यन्त—आह ! जब उस मृग-नयनी ने बार-बार अपने प्रणय की याद दिलाई, तब तो, ओ मेरा हृदय, तू सोया रहा। और अब जब उसे पा नही सकता, तो सताप भोगने के लिए जागृत हो गया है।

कंचुकी—महाराज की जय हो जय हो !

दुष्यन्त—जाकर मत्री से कह दो कि आज मै धर्मासन पर नही ैठ सकूँगा। रात को बडी देर तक जगा रहा। जो काम हो, उसकी सूचना मेरे पास भेज दे।

विदूषक—अच्छा हुआ कि आपने इन मक्खियो को झाड-बुहार कर अलग कर दिया। अब इस मनोहर प्रमद-वन मे थोडी देर आनन्द कीजिए।

दुष्यन्त—मित्र, ठीक कहा गया है कि विपत्तियाँ जरा-सी सुराख पाकर ही आ धमकती है। जिसने शकुन्तला की याद मे बाधा पहुँचाई, वह मोह मुझे छोड भी न सका था कि देखो, यह कामदेव अपने धनुष पर आम्र-मजरी का बाण चढाकर सामने आ खडा हुआ है। अब आनन्द कहाँ !

विदूषक—कहिए, मै अपनी लाठी से कामदेव के इन बाण को अभी तोडे-फोडे डालता हूँ।

दुष्यन्त—रहने दो अपनी वीरता। आह ! यह अँगूठी ! तू अबतक कहाँ थी ? अपनी प्रियतमा को मुझसे अकारण छुडवाकर अब मेरे हाथ मे आई है। उफ, आज शकुन्तला के उस प्रथम मिलन का सारा वृतात मुझे याद आ रहा है। मित्र, मित्र, मेरी रक्षा करो !

विदूषक—महाराज, आपके लिए ऐसा विचलित होना शोभनीय नही, प्रबल झझा मे भी पर्वत नही हिलता-डुलता है, महाराज !

दुष्यन्त—ओहो जब बार-बार याद दिलाये जाने पर भी मैने उसका परित्याग कर दिया और वह निराश हो जब मुनि-शिष्यो के साथ लौटने लगी तो उन्होने भी उसे डाँट दिया और कहा तुम्हे यही

रहना होगा। तब वह खडी हो गई! उस समय आँखो मे आँसू भर कर मुझ निष्ठुर की ओर जिस करुण दृष्टि से उसने देखा था, वह विष से बुझे तीर की तरह आज भी मेरे हृदय को जर्जर कर रही है, मित्र!

विदूषक—महाराज! इस विषय मे मुझे आपसे कुछ पूछना है। हाँ, तो उसे कोई आकाशचारी उडाकर ले गया था न?

दुष्यन्त—सखे, और कौन उस पतिव्रता का शरीर स्पर्श कर सकता था? मैने शकुन्तला की सखियो से सुना था, मेनका उसकी माता है। मुझे ऐसा लगता है कि मेनका की कोई अप्सरा-सखी या स्वय मेनका ही उसे उडा ले गई।

विदूषक—यदि ऐसा है तो आप धैर्य रखे। समय पाकर वह आपसे अवश्य मिलेगी?

दुष्यन्त—कैसे?

विदूषक—माँ-बाप अपनी बेटी को पति-वियोग से व्याकुल अधिक दिनो तक नही देख सकते।

दुष्यन्त—क्या सच? मुझे तो ऐसा लग रहा है मित्र कि शकुन्तला का वह मिलन या तो सपना था, या जादू, या भ्रम, या मेरे किसी पूर्वजन्म का पुण्यफल। आह, मेरी सारी आशाएँ ऊँचे पहाड से गिरकर जैसे चूर-चूर हो गई है।

विदूषक—ऐसा न कहिए महाराज। यह अँगूठी ही बतलाती है कि उसका मिलन भी अवश्य होगा और इसी तरह एकाएक और अचानक!

दुष्यन्त—मुझे तो इस अँगूठी पर बहुत तरस आती है! तेरी काया के समान तेरा पुण्यफल भी क्षीण है, नही तो शकुन्तला के लाल-लाल नखोवाली उँगली में स्थान पाकर फिर तू क्यो गिर पडती?

विदूषक—अच्छा यह तो बताइये, आपने यह अँगूठी दी थी किस उद्देश्य से?

दुष्यन्त—बडी करुण कहानी है मित्र! जब मै तपोवन मे विदा ले रहा था तब मेरी प्रियतमा ने आँखो में आँसू भरकर रुँधे गले से कहा था—अब कितने दिनो बाद मुझे याद कीजिएगा, आर्यपुत्र! तब यह अँगूठी मैंने उसकी उँगली मे डालते हुए कहा था

विदूषक—यह तो आपका भी गला भरा आ रहा है। अच्छा। आपने क्या कहा?

दुष्यन्त—मैंने कहा—प्रिये, इस अँगूठी पर अंकित मेरे नाम के एक-एक अक्षर एक-एक दिन मे गिनती जाना। गिनती पूरी भी नही होगी कि हमारे अंतःपुर से कोई आज्ञाकारी सेवक तुम्हे बुलाने यहाँ आ पहुँचेगा। लेकिन आह। न जाने किस अभिशाप-वश मै ये सारी बाते भूल गया?

विदूषक—किन्तु महाराज, यह तो अँगूठी थी, वंसी नही। फिर यह उस रोहू मछली के पेट मे कैसे पहुँच गई?

दुष्यन्त—जब मैंने तिरस्कार की हद कर दी तो तपस्विनी गौतमी ने कहा—बेटी, तू वह अँगूठी क्यो नही दिखलाती? उस समय शकुन्तला ने अपनी उँगली की ओर नजर की और चिल्ला पडी—आह। क्या हुई मेरी अँगूठी? वह सोचती थी, जलदेव की वंदना करते समय गंगाजी की धारा मे तो नही गिर गई? ओरी अँगूठी। जिसकी उँगलियाँ कोमल और सुन्दर थी, उन हाथो को छोडकर तू जल मे क्यो डूब गई? लेकिन तू तो अचेतन थी, मै चेतन प्राणी होकर भी अपनी प्रिया का किस तरह त्याग कर सका?

(दासी का प्रवेश)

दासी—महाराज। यह महारानी का चित्रपट है, लीजिए।

दुष्यन्त—अहा। इस चित्र मे भी मेरी प्रियतमा कितनी सुन्दर लग रही है? नेत्र के दोनो प्रांतभाग विस्तृत है ही, आँखे भी वैसी ही बडी-बडी है। जरा-सी टेढी होने के कारण भवे और भी सुन्दर लग रही है। दाँतो से फूटनेवाली हास्य-किरणो से दोनो होठ जगमग हो रहे है। वे होठ जो पके बेर के समान लाल-लाल है। हास विलास से पूर्ण मुखारविन्द कितना सुन्दर लगता है और उसपर पसीने की बूँदे निकलने से ऐसा मालूम पडता है, मानो कान्ति चूई पडती हो। यद्यपि यह चित्र है, तो भी मालूम होता है, मेरी प्रिया अब बोल उठेगी।

विदूषक—ठीक महाराज, ठीक। अपनी प्रियतमा का चित्रण करने मे आपने कमाल किया है। ऐसा मालूम पडता है कि इसमे आपने प्राणो का भी संचार कर दिया है।

दुष्यन्त—चित्र-निर्माण करते समय जिस अंग मे सुन्दरता नही रहती है, उसमे भी लाई जाती है। लेकिन इस चित्र मे शकुन्तला

का सौदर्य वढा नही, वल्कि कुछ घट ही गया है। अच्छा मित्र, तुम वताओ तो, चित्र की इन तीनो मूर्तियो मे तुम शकुन्तला किसको समझते हो?

विदूषक—जिसके केश-कलाप का वधन शिथिल पड गया है, जिससे कुछ फूल गिर पडे है, जिसके मुख पर पसीने की बूँदे झलक रही है, जिसकी वाहु-लता का ऊपरी भाग अवनत दिखाई पड रहा है, जिसके वस्त्र का वधन भी ढीला पड गया है और कुछ थकी-सी होने पर भी जो वृक्षो को जल दे रही है—इस चिकने-से छोटे आमवृक्ष के निकट जिसका चित्र है, निश्चय वही शकुन्तला है, महाराज!

दुष्यन्त—तुम वडे चतुर हो मित्र। देखो, इस चित्र मे मेरे भी भाव अकित है। पसीने से तर उँगली रखने के कारण चित्र के प्रान्त-भाग मे नीली रेखा दीख पड रही है और कपोल पर अश्रु-विन्दु गिर गया है, जिससे वहाँ का रग मैला हो गया है।

विदूषक—महाराज! क्या इसमे अभी और कुछ चित्रित करना है?

दुष्यन्त—हाँ, हाँ। जिसके तट पर हस-दम्पती वैठे हो, ऐसी मालिनी नदी चित्रित करनी है। उसके पास, जहाँ चँवरी गाय और हिरन वैठे हो, ऐसे हिमालय का पद-प्रदेश अकित करना है। फिर जिसकी शाखा पर वल्कल-वसन सूख रहे हो, उस वृक्ष के नीचे एक हिरनी चित्रित करूँगा, जो कृष्णसार-मृग के सीग से अपनी वाईं आँख खुजला रही हो।

विदूषक—क्षमा करे महाराज, कही लम्वी दाढीवाले तपस्वियो के चित्र से न आप इस चित्रपट को पूरा करे?

दुष्यन्त—सचमुच अभी और वहुत-कुछ वनाना रह गया है, सखे!

विदूषक—अरे रे महाराज! यह क्या? यह दुष्ट भ्रमर! यह भ्रमर इस मुख-कमल के रस-पान के लिए कहाँ से टूट पडा?

दुष्यन्त—भ्रमर! धृष्टता न कर। जिन अवरो का रस-पान करते समय रति-काल मे भी मैने दया से काम लिया, अव उन्ही पर तू डंक मारना चाहता है? मै तुझे कमल-सपुट के कारागार में वन्द करा दूँगा, सावधान!

विदूषक—महाराज! इतना क्रोध? यह चित्र है चित्र!

दुष्यन्त—चित्र ! चित्र !! ओह, तुमने कैसी मूर्खता कर दी मित्र ? मैं इसे साक्षात् शकुन्तला समझकर तन्मय हृदय से दर्शन-सुख का अनुभव कर रहा था! चित्र की याद दिलाकर मेरी प्रिया को सचमुच तुमने चित्र बना दिया। ओह !

विदूषक—महाराज, यो आँसू !

दुष्यन्त—आँसू ! उफ !! रात जागते कटती है, जिससे स्वप्न मे भी उसे नही देख पाता। और ये आँसू तो चित्रमयी शकुन्तला को भी अच्छी तरह देखने नही देते !

(दासी का प्रवेश)

दासी—महाराज ! मत्रीजी ने कहला भेजा है, एक धनाढ्य सौदागर निःसतान मर गया है। क्या उसका धन राज्य मे लगा लिया जाय ?

दुष्यन्त—आह ! सतान के अभाव मे मेरी इस राज्य-सपत्ति की भी तो यही दशा होगी ! (उसाँसे लेते है)

६

[मिलन-सूचक कोमल रागिणी की ध्वनि के बाद]

एक तपस्विनी—यह चचलता छोड ! तू हर जगह अपना स्वभाव दिखाता रहता है।

दुष्यन्त—इस तपोभूमि मे कौन यह अशिष्ट आचरण कर रहा है? और, यह मेरी दाहिनी भुजा क्यो फडकी ? ओ मेरी भुजे, जब तूने मगल का तिरस्कार कर दिया, तो फिर व्यर्थ फडककर मुझे क्यो कष्ट दे रही है ?

पहली तपस्विनी—अरे तू सुनता नही ! छोड दे इसे !

दुष्यन्त—ओहो, यह तो अजीब दृश्य ! बच्चा सिंह-शावक को उसकी माँ के स्तन से छीनकर गोद मे लिये खडा है, सिंहनी गुर्रा रही है, सिंह-शावक के केसर अस्तव्यस्त हो रहे है। दो तपस्विनियाँ मना कर रही है !

बच्चा—ओ शेर-बच्चे, तू मुँह फैला मैं तेरे दाँत गिनूँगा।

पहली तपस्विनी—दुष्ट, हमारे बच्चो की तरह पाली बच्चों को तू क्यो तग करता फिरता है ? देख नही है, तेरी शैतानी दिन-दिन बढती जाती है !

दुष्यन्त—अरे, इस बच्चे को देखकर क्यो मेरे हृदय मे पुत्र-स्नेह उमडा पडता है?

दूसरी तपस्विनी—सर्वदमन, इसे छोड दे। नही तो देख, वह सिंहनी गुर्रा रही है, अव वह तुझपर टूटेगी ही?

बालक—टूटेगी ही? ओहो, मुझे डर लग रहा है मौसी!

दूसरी तपस्विनी—शोख! उल्टे मुझे चिढा रहा है!

दुष्यन्त—यह चिनगारी एक दिन अग्नि-ज्वाला वनेगी—भविष्य मे यह बालक प्रतापी बन कर रहेगा!

पहली तपस्विनी—मै तुझे खिलौने दूँगी लल्ला, इसे छोड दे!

बालक—लाओ, कहाँ है खिलौना?

दुष्यन्त—खिलौने का नाम सुनकर ही बच्चे ने किस तरह हाथ फैला दिया—नव उषा ने जिसकी पखुडियाँ अभी-अभी खोली है, ऐसी कमिलिनी-सी इसकी हथेली! अरे, हथेली पर चक्रवर्ती की रेखा यहाँ से ही देख पडती है!

पहली तपस्विनी—इसे भुलावा मे नही रखा जा सकता है, सुव्रते! मेरी कुटिया मे मयूर की एक रगीन मूर्ति है, उसे ले आओ।

वालक—हाँ, मौसी, तव तक मै इस शेर-बच्चे से खेल रहा हूँ!

दुष्यन्त—इच्छा होती है, इस वच्चे को गोद मे उठा लूँ। अहा, अकारण हँसने से जिसके नये-नये दाँत कभी-कभी दिखाई देते है, तोतली वोली मे जिसके वाक्य वडे मीठे लगते है, गोद मे लेने के लिए जो वार-वार आग्रह करता है, ऐसे वच्चे के अग की धूल से भाग्यवानो के ही शरीर धूसरित होते है!

पहली तपस्विनी—क्यो रे, तू मेरी वात नही मानेगा? कोई ऋषिकुमार यहाँ है? अहा! आप? तो आर्य-श्रेप्ठ, आप ही आकर मेरी मदद कीजिए। इस वच्चे के हाथ से इस सिंह-शावक का छुडाना मेरे लिए कठिन हो रहा है।

दुष्यन्त—जैसी आज्ञा! क्यो महर्षिपुत्र .

पहली तपस्विनी—यह महर्षिपुत्र नही है आर्य! लेकिन आपको देखते ही यह इतना शान्त क्यो हो गया? और इस वच्चे की आकृति भी आपसे कितनी मिल रही है!

दुष्यन्त—यह मुनि-कुमार नही, तो किस कुल का दीपक है!

तपस्विनी—पुरु-वश का।

दुष्यन्त—पुरु-वश का? लेकिन पुरुवशी तो प्रथम अवस्था मे पृथ्वी-पालन के लिए भव्य-दिव्य राजप्रासाद मे रहते है, वृक्षो की छाया को तो वे चौथेपन मे अपनाते है।

तपस्विनी—इसकी माँ का सम्वन्ध एक अप्सरा से है, इसीसे उन्होने इसे देवगुरु कश्यप के आश्रम मे प्रसव किया है।

दुष्यन्त—इसकी माँ का सम्वन्ध अप्सरा से? वह श्रीमती किसकी पत्नी है!

तपस्विनी—कौन उसका नाम ले, जिसने अपनी धर्मपत्नी का त्याग कर दिया!

दूसरी तपस्विनी—सर्वदमन, ले यह खिलौना, देख तो इस शकुन्त का लावण्य!

वालक—शकुन्त . ला कहाँ है मेरी माँ?

दूसरी तपस्विनी—(हँसती हुई) मै तेरी माँ शकुन्तला के वारे मे नही कह रही थी। इस शकुन्त, मयूर के वारे मे

दुष्यन्त—आह! यह क्या सुन रहा हूँ!?

पहली तपस्विनी—सुव्रते, सुव्रते, यह क्या हुआ? इसके हाथ का रक्षासूत्र कहाँ गिर गया, सखि!

दुष्यन्त—यहाँ पडा है, सिह-शावक से सघर्ष करते समय शायद गिर गया था! यह लीजिए—

पहली तपस्विनी—मत छूइये, मत छूइये! अरे, आपने तो उठा ही लिया! वहन सुव्रते!

दुष्यन्त—आप लोग चौक क्यो पडी? और क्यो मुझे मना किया था?

पहली तपस्विनी—यह अपराजिता नाम की जडी है। इसके जातकर्म के समय भगवान् कश्यप ने इसे दिया था और कहा था कि यदि भूमि पर गिर पडे तो बच्चे के अतिरिक्त सिर्फ माँ-वाप ही उठाये।

दुष्यन्त—यदि दूसरा उठावे तो!

पहली तपस्विनी—तो नागिन बनकर यह डँस लेगी। हमने कई वार ऐसा होते देखा है, आर्य-श्रेष्ठ!

राम-राज्य

[रेडियो रूपक]

राम-राज्य

(प्रवक्ता)

आज से ठीक सौ वर्ष बाद। याद रखिये, आज से ठीक सौ वर्ष बाद अर्थात् बीस सौ इकावन ईस्वी मे। जरा अपनी कल्पना को तीव्र होने दीजिए– आज की पार्थिवता को पीछे ढकेल कर उसे उडान भरने दीजिए और चले चलिए २०५१ ईस्वी मे।

(१)

(हवाई जहाज के उडने और उतरने के शब्द)

स्वागताधिकारी—नमस्कार श्रीमतीजी, नमस्कार महोदय।

स्त्री—नमस्कार।

पुरुष—नमस्कार।

स्वागताधिकारी—आप कहाँ से पधार रहे है? आपकी शुभ यात्रा का उद्देश्य?

पुरुष—हम दक्षिण-ध्रुव प्रदेश से आ रहे हैं। वहाँ पर हम-लोग एक उपनिवेश बसाने जा रहे है। उस ध्रुव-प्रदेश में हम जो एक नवीन समाज बनाने जा रहे है, उसकी आधार-शिला क्या हो, इसके लिए भिन्न-भिन्न देशो की सामाजिक पद्धति के अध्ययन के लिए, हमने भिन्न-भिन्न देशो मे शिष्टमडल भेजे है। आपके देश में आने का सौभाग्य हम दोनो को मिला है।

स्वागताधिकारी—बडा ही शुभ उद्देश्य! हम आपका हृदय से स्वागत करते है। आपको ज्ञात ही होगा, हमने तो अपने यहाँ बापू के आदर्श के अनुसार रामराज्य की स्थापना कर ली है और,

हमारी आशा है, एक दिन सारा ससार बापू के उस आदर्श को अपनायगा।

स्त्री—हाँ, पूज्य गाँधी जी के महान् देश को अपनी आँखो से देखने के लिए ही तो हम यहाँ भेजे गये हैं।

स्वागताधिकारी—हम आपलोगो को सारी सुविधाएँ देगे। हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही अतिथि को देवता माना गया है—अतिथि देवो भव! (पुकारता है) परिचालक!

परिचालक—महोदय!

स्वागताधिकारी—आप इन्हे जवाहर-अतिथिशाला मे ले जायँ। (आगत व्यक्तियो से) हमने अपने विदेशी अतिथियो के लिए जो विश्रामागार बनाया है, उसके नाम के साथ अपने प्रथम प्रधान मत्री का नाम जोड रखा है—क्योकि उन्होने ही हमे सर्वप्रथम अन्तर-राष्ट्रीय बन्धुत्व का पाठ सिखाया था।

स्त्री—हम उनके स्मारको और स्मृति-चिन्हो को भी देखना चाहेगे।

स्वागताधिकारी—आपको सारी चीजें देखने की सभी सुविधाएँ दी जायँगी। (पुरुष से) लेकिन आप अतिथि-शाला मे जायँ, उसके पहले एक निवेदन।

पुरुष—आज्ञा दीजिये!

स्वागताधिकारी—हमारे यहाँ आज्ञा नही दी जाती, निवेदन किया जाता है। (मुस्कान) निवेदन यह है कि यदि आप के पास कोई अस्त्र-शस्त्र हो, तो उसे यही रख दीजिये।

पुरुष—(शकित) ओहो! तो आप मुझे नि.शस्त्र करना चाह है। यह तो किसी परदेशी पर अत्याचार है।

स्वागताधिकारी—(हँसता हुआ) ह-ह-ह-! हर विदेशी ऐस ही कहता है! महोदय, हम आपसे शस्त्र यही रख देने को इसलि कहते हैं कि हमारे यहाँ शस्त्र रखना वर्वरता और पशुता का चिह्न समझा जाता है। आदमी ने शस्त्र का प्रयोग वनैले भैसो, वाघ-सिहं और विषधर नागो से सीखा! पूज्य वापू ने हमे अहिंसा का पाठ सिखाया था, हमारे गले के नीचे भी पहले यह वात नहीं उतरती थी।

पुरुष—किन्तु, यदि हम पर प्रहार किया जाय, तो हम आत्मरक्षा कैसे करेगे?

स्वागताधिकारी—प्रहार! हमारे देश मे, वापू के इस राम-राज्य में, कोई किसी पर प्रहार नही करता! हम अव पूर्ण सभ्य हो चले हैं—

आदमी जितना वर्बर और असभ्य रहता है, उतना क्रूर और हिंसक होता है। ज्यो- ज्यो सभ्यता आती जाती है, त्यो-त्यो वह दयालु और अहिसक होता जाता है। सभ्यता की पहचान ही है अहिसा।

स्त्री—आपकी वाते सत्य के वहुत निकट मालम होती है।

स्वागताधिकारी—वापू कहा करते थे, अहिसा का सन्देश सवसे पहले स्त्रियाँ और वच्चे समझते है। वापू के कथनानुसार पहला सत्याग्रही एक बच्चा था।

पुरुष—तो क्या आपके देश मे सेना भी नही रखी जाती? यहाँ इन हवाई अड्डे के अगल-वगल कही किसी सैनिक या प्रहरी को नही देखकर मुझे कुछ आश्चर्य हो रहा था।

स्वागताधिकारी—नही! हमारे देश मे सेना नाम की कोई चीज नही है। जव हम स्वतत्र हुए थे, कुछ दिनो तक हमने सेना रखी। हम लडाइयो मे भी शामिल हुए। किन्तु धीरे-धीरे उसकी व्यर्थता सिद्ध हो गई!

पुरुष—और, यदि कोई आपके देश पर चढाई करे, तव?

स्वागताधिकारी—कैसी वाते करते है आप? क्या इस वैज्ञानिक युग मे देशो पर चढाई करने की जरूरत रह गई है, जवकि एक छोटी-सी पुडिया सारे ससार को भस्म कर सकती है? इन परमाणु अस्त्रो के वाद फिर सेना की क्या सार्थकता रह गई? वह तो जहाँ को तहाँ खडी रह जायगी या ढेर हो जायगी।

पुरुष—आपके देश को भस्म नहीं करके आप को गुलाम तो वनाया जा सकता है!

स्वागताधिकारी—ह-ह-ह! गुलाम वनाया जा सकता है? एक वार हमें गुलाम वनाया गया था। उनका शस्त्र-वल भी असीम समझा जाता था। किन्तु वापू की अहिसा के सामने उनकी कोई शक्ति काम आई? और उस समय तक अहिसा पर हमे ऐसी आस्था भी नही थी। वस, देश मे सिर्फ एक मुट्ठी लोग अहिसक थे। उन्ही को लेकर वापू ने उस समय के ससार के सवसे वडे शक्तिशाली राष्ट्र को भगा दिया। आज तो हमारा वच्चा-वच्चा अहिसा का मर्म समझ चुका है।

पुरुष—तो लीजिए, यह पिस्तौल! (पिस्तौल निकाल कर देता है)

स्वागताध्यक्ष—आह! उफ

स्त्री—अरे! आप इस तरह विचलित क्यो हो गये? महोदय, महोदय!

स्वागताध्यक्ष—आह! यदि यह कलमुँही ससार में नही आई

होती, तो बापू को उस दिन उस प्रकार मरना नही पडा होता। श्रीमतीजी, पिस्तौल देखते ही हमारे हृदय मे घृणा की जो भावना उमड पड़ती है, क्या आप लोग उसकी कल्पना भी कर सकेगे? उफ—

स्त्री—गाँधीजी की हत्या ! उसकी कल्पना तो हमे भी कँपा देती है, महाशय !

स्वागताधिकारी—और, उसके बाद भी आपलोग अस्त्र-शस्त्र की बाते करते है? खैर, अभी अतिथिशाला जाइये। फिर कभी बाते होंगी। नमस्कार। परिचालक, रथ लाइये।

स्त्री—नमस्कार, नमस्कार!

पुरुष—नमस्कार, नमस्कार!

(मोटर के निकलने की आवाज)

(२)

(मोटर के ठहरने की आवाज़

प्रबंधक—स्वागत श्रीमती जी, स्वागत महोदय!

स्त्री—नमस्कार!

पुरुष—नमस्कार!

प्रबंधक—अभी हवाई अड्डे से हमें सूचित किया गया है कि आप दोनो पधार रहे है। आइये, आपकी सुख-सुविधा का सारा प्रबन्ध हमने कर रखा है? अतिथिशाला का यह मानचित्र है (कागज खोलने का शब्द)। इनमें ये आवास-कक्ष इस समय खाली है।

स्त्री—और, भोज्य-पदार्थो की सूची भी तो होगी।

प्रबंधक—हाँ, यह लीजिये (कागज का शब्द)।

पुरुष—कक्ष और भोजन के लिए हमें क्या देने पडेंगे? क्या आप हमे बता सकेगे?

प्रबंधक—ह ह. ह.—क्या देने पडेंगे? क्या लेने पडेंगे—विदेशियो के मुँह से यह सुनते-सुनते हम तो हैरान है। महोदय, क्या आपको वायु के लिए कोई मूल्य देना पडता है? जल के लिए कोई मूल्य चुकाना पडता है? फिर भोजन के लिए मूल्य क्या? यह तो मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकता है! और, क्या अपनी छाया के लिए कोई वृक्ष मूल्य खोजता है, जो यह कक्ष आपसे कुछ माँगे?

स्त्री—तो यहाँ भोजन और आवास.

प्रबंधक—हाँ, बापू के राम-राज्य में भोजन और आवास पाने का अधिकार सब नागरिक को प्राप्त है। फिर, आप तो अतिथि है।

पुरुष—धन्य है आपका देश, धन्य है वापू का राम-राज्य! हम इसी राम-राज्य को देखने तो आये है। उसके लिए क्या प्रवध रहेगा!

प्रबंधक—आपकी सेवा मे पथ-प्रदर्शक पहुँच जायेगे। आप जहाँ चाहे, निस्सकोच जा सकते है। आप क्या क्या देखेगे?

पुरुष—कुछ तो उतरते ही देख चुका। मै विशेषत उद्योग-धधे और खेतीवारी ..

स्त्री—और, मै वच्चो की शिक्षा और पारिवारिक जीवन!

प्रबंधक—अच्छा चुनाव! पुरुषो के हिस्से उद्योगधधे, खेतीवारी, स्त्रियो के जिम्मे पारिवारिक जीवन, भावी नागरिको की शिक्षा-दीक्षा! वापू के रामराज्य मे भी यही व्यवस्था है और यही व्यवस्था उचित भी है। क्यो?

(स्त्री और पुरुप हँस पडते है)

(३)

(दूर से सामूहिक गीत और वाद्य की झकार)

पुरुष—हमे आप कहाँ ले आये? यहाँ क्या कोई सगीतशाला है?

स्त्री—अहा, कितनी मधुर झकार।

पथ-प्रदर्शक—सगीतशाला नही, यह तो श्रमशाला है, जिसे पहले कारखाना कहा जाता था! पहले हम कारवार पर जोर देते थे, अव श्रम को ही महत्त्व देते है।

पुरुष—कारखाने में सगीत?

पथप्रदर्शक—श्रम और सगीत मे प्रारभ से ही अविच्छेद्य सवध रहा है न। सगीत की उत्पत्ति ही श्रम से हुई। हमारी स्त्रियाँ प्रारम्भ से ही चक्की पीसते समय, धान कूटते समय, गाती रही है। हमारे मछुए नाव खेते समय, हमारे शिल्पी वडी-वडी शहतीर उठाते समय भी गाते रहे है। किन्तु ज्यो-ज्यो हम तथाकथित सभ्य होते गये, श्रम से सगीत को अलग करते गये। फल यह हुआ कि आज मेहनत एक खटत-क्रिया हो चली है—ऊवानेवाली, थकानेवाली, अकाल वृद्ध वनानेवाली! अव फिर से हमने श्रम को सगीत के साथ नत्थी करके काम को खेल वना दिया है।

पुरुष—पहले हमे कार्यालय मे ले चलिये, वहाँ मैनेजर से कुछ वाते करके तव भीतर चलेगे।

होती, तो बापू को उस दिन उस प्रकार मरना नहीं पड़ा होता। श्रीमतीजी, पिस्तौल देखते ही हमारे हृदय में घृणा की जो भावना उमड़ पड़ती है, क्या आप लोग उसकी कल्पना भी कर सकेंगे? उफ—

स्त्री—गाँधीजी की हत्या! उसकी कल्पना तो हमें भी कँपा देती है, महाशय!

स्वागताधिकारी—और, उसके बाद भी आपलोग अस्त्र-शस्त्र की बातें करते हैं? खैर, अभी अतिथिशाला जाइये। फिर कभी बातें होंगी। नमस्कार। परिचालक, रथ लाइये।

स्त्री—नमस्कार, नमस्कार!

पुरुष—नमस्कार, नमस्कार!

(मोटर के निकलने की आवाज)

(२)

(मोटर के ठहरने की आवाज

प्रबंधक—स्वागत श्रीमती जी, स्वागत महोदय!

स्त्री—नमस्कार!

पुरुष—नमस्कार!

प्रबंधक—अभी हवाई अड्डे से हमें सूचित किया गया है कि आप दोनों पधार रहे हैं। आइये, आपकी सुख-सुविधा का सारा प्रबन्ध हमने कर रखा है? अतिथिशाला का यह मानचित्र है (कागज खोलने का शब्द)। इनमें ये आवास-कक्ष इस समय खाली हैं।

स्त्री—और, भोज्य-पदार्थों की सूची भी तो होगी।

प्रबंधक—हाँ, यह लीजिये (कागज का शब्द)।

पुरुष—कक्ष और भोजन के लिए हमें क्या देने पड़ेंगे? क्या आप हमें बता सकेंगे?

प्रबंधक—ह ह. ह—क्या देने पड़ेंगे? क्या लेने पड़ेंगे—विदेशियों के मुँह से यह सुनते-सुनते हम तो हैरान हैं। महोदय, क्या आपको वायु के लिए कोई मूल्य देना पड़ता है? जल के लिए कोई मूल्य चुकाना पड़ता है? फिर भोजन के लिए मूल्य क्या? यह तो मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकता है! और, क्या अपनी छाया के लिए कोई वृक्ष मूल्य खोजता है, जो यह कक्ष आपसे कुछ माँगे?

स्त्री—तो यहाँ भोजन और आवास ..

प्रबंधक—हाँ, बापू के राम-राज्य में भोजन और आवास पाने का अधिकार सब नागरिक को प्राप्त है। फिर, आप तो अतिथि हैं।

कितना ऊँचा हो गया—चलते-चलाते थोड़ा और श्रम, थोड़ा और मशीन।

स्त्री—तो हम तेजी से चलें।

पुरुष—हाँ-हाँ, तेजी से ही।

(४)

(बच्चो का कलरव सुनाई पडता है)

एक बच्चा—देखो, देखो, मेरे गुलाब मे यह कितना सुन्दर फूल खिल आया है। इसका रग है गुलाब का और गध रजनी-गधा की। कैसी कमाल किया है मैंने।

दूसरा बच्चा—और इधर देखो, क्या ऐसा आलू तुमने कही देखा था? मैंने इसके लिए खास खाद बनाई थी। गुण टमाटर का स्वाद नासपाती का।

तीसरा बच्चा—अरे भाई, दोनो इधर आओ और देखो मेरी यह पुस्तक-धारिणी! इसपर पुस्तके फेक भी दो, तो वे आप-ही-आप पक्तियो मे सज जायेंगी। कैसी कारीगरी की है मैंने?

शिक्षक—बच्चो, अब इधर आ जाओ, थोडा सैद्धान्तिक ज्ञान भी तो ले लो!

सब बच्चे—आया गुरुदेव!

(स्त्री, पुरुष और पथप्रदर्शक का प्रवेश)

स्त्री—क्यो महोदय, यही आपकी पाठशाला है?

शिक्षक—हाँ, यह हमारी पाठशाला ही तो है।

पुरुष—यह पाठशाला है या उद्योगशाला!

शिक्षक—यो समझिये तो पाठशाला, उद्योगशाला और प्रयोगशाला—तीनों एक साथ! बापू ने शिक्षा का यह नवीन प्रयोग प्रारम्भ किया था, जिसे वह मौलिक शिक्षा-पद्धति कहते थे। बच्चो का सबसे पहला काम होता है, दूध पीना, फिर खेलना। भोजन के साथ खेल को जोड दीजिए और फिर इन दोनो का सम्बन्ध शिक्षा मे कर दीजिए; बस शिक्षा का यही मूलसूत्र पकड कर हम आगे बढ़ते हैं। इसी से यह मौलिक शिक्षा कहलाती है।

स्त्री—आपके रामराज्य की सब चीजे ही विचित्र है। क्या मैं इन बच्चो से बाते कर सकती हूँ?

शिक्षक—क्यो नही? रामू! इनसे बातें तो कर बेटा!

पथप्रदर्शक—मैनेजर! अब हमारी श्रम-शालाओ मे किसी मैनेजर की आवश्यकता नही रह गई है। प्रारम्भ मे हमने प्रबधक रखा था। क्योकि उस समय तक हममे पुरानी आदते थी, जो हमे कामचोर बनाती थी। किन्तु, धीरे-धीरे वह आदत दूर हो गई। अब तो लोग स्वयं श्रमशाला में उसी प्रकार आ जाया करते है, जैसे पहले सिनेमाघरो मे खुशी-खुशी जाते थे।

पुरुष—तो वेतन आदि का निर्णय कैसे करते है आप लोग?

पथप्रदर्शक—वेतन? ह-ह-ह-! वेतन कौन दे और किसको दे? समाज की श्रमशाला है; समाज उसके फलो का उपभोक्ता है। अपनी शक्ति के अनुसार सभी श्रम करते है और अपनी आवश्यकता के अनुसार सब उपयोग करते हैं।

स्त्री—किंतु, कितने ही देशो मे तो यह प्रयोग असफल हुआ।

पथप्रदर्शक—क्योकि उनलोगो ने दवाव और जोर से काम लेना चाहा। बापू की कर्मविधि तो अन्त. प्रेरणा के जगाने पर निर्भर होती है। हमने उनकी विधि अपनाई, हम सफल हुए। हाँ, एक बात और—

स्त्री—क्या?

पथप्रदर्शक—बापू बडे-बडे कारखाने के विरुद्ध रहे है। बड़े-बडे कारखानो में मशीन ऊपर रहती है, आदमी उसके नीचे कुचलता रहता है। इससे मनुष्यता विकास नही पाती। फलत मनुष्य और मशीन मे द्वन्द्व रहता है; उत्पादन मे त्रुटि होती है। फिरएक बडे कारखाने के बद होने से देश भर में हाहाकार मच जाता है। अत हमने छोटी-छोटी श्रमशालाएँ ही बनाई है—जहाँ हर आदमी हर आदमी को पहचान सके, अपना सके, अपना भाई बना सके। और, यदि एकाध श्रमशाला मे उत्पादन कम भी हुआ, तो देशव्यापी कुप्रभाव नही पड सके।

(भोपू की आवाज)

स्त्री—अरे, क्या कारखाना बन्द होने जा रहा है? आह, हम इस अलौकिक प्रयोग को देख न सके।

पुरुष—हाँ, इस विचित्र प्रयोग को हम आँखो देखना चाहते थे, महाशय!

पथप्रदर्शक—भोपू तो बज गया, किन्तु जल्द निकलता कौन है? काम को तो हमने खेल बना दिया है। बच्चे क्या खेल के मैदान को जल्द छोडते है? तीन बार ऐसा भोपू बजेगा, तब कहीं श्रमशाला खाली होगी। (सगीत का स्वर तेज होता है) सुनिये, भोपू बजते ही सगीत

(५)

(एक अनहद सगीत: वशी का स्वर· कोयल की कूक)

पुरुष—आप हमे किस मायापुरी मे लिए जा रहे है ?

स्त्री—हाँ, यह मायापुरी ही तो है, चारो ओर लहराते हुए खेत। कही फल-फूल, कही वालियाँ! बीच-बीच मे बगीचे—कही बौरो से लदे, कही फलो से लदे। हवा पराग से बोझीली। फिर यह अनहद सगीत! अहा!

पथप्रदर्शक—ओहो, आप कवि भी है। हाँ, हर स्त्री कुछ कवि होती है! किन्तु यह मायापुरी नही, यह तो मायापुरी का पडोस है, मायापुरी तो देखिए, वहाँ है।

पुरुष—वह तो कोई नगर-सा है? कौन सा नगर है?

स्त्री—किन्तु आप तो हमे गाँव दिखलाने ले आये थे न?

पथप्रदर्शक—वह गाँव ही तो है!

पुरुष—गाँव है? जहाँ के मकान यही से यो चमक रहे है, शायद कोई नमूने का गाँव बसाया है आपने।

पथप्रदर्शक—नही, हमारे सारे गाँव ऐसे ही है। बहुत दिनो की बात है। हमारे बापू की एक शिष्या थी—विलायत की। उन्होने भारतीय गाँव पर लिखा था कि जब रास्ता पकड कर मै चलती हूँ और दुर्गन्ध से नाक फटने लगती है, तो मै समझती हूँ, मै गाँव के निकट आ गई। काश, वह देवी आज होती! खैर, वह न सही, आप तो है। कहिये, आपकी नाक तो नही फट रही!

स्त्री—मेरे तो नाक, कान, और आँख—सब तृप्त हुए जा रहे है, चलिए, हम जरा आपके गाँव को निकट से देखे।

पुरुष—क्या सचमुच ये गाँव है! पक्तियो मे बने ये सुन्दर-सुन्दर मकान! बीच-बीच मे पतली, सुथरी पगडडियाँ। हर घर के सामने रग-बिरगी फुलवारियाँ और, यह शायद बिजली भी . .

पथप्रदर्शक—हाँ, हाँ, बिजली ही तो है। बिजली खेतो को पटाती है, जोतती है, घरो को जगमग करती और चौके घर से सारी मनहूसियत को दूर रखती है! यह बिजली की कृपा है, जिसने हमारे शहरो और गाँवो के भेद-भाव को सदा के लिए दूर कर दिया है!

पुरुष—किन्तु गाँधीजी तो ग्राम-उद्योगो के पक्षपाती थे न? फिर ये वैज्ञानिक साधन

स्त्री—आप किस वर्ग मे पढ़ रहे है?

बच्चा—वर्ग? वर्ग क्या है? बापू के समाज मे वर्ग?

स्त्री—(शिक्षक से) यह बच्चा क्या कह रहा है? क्या यहाँ पाठशालाओं में वर्ग नही रखे जाते है?

शिक्षक—नही श्रीमती जी, (बच्चे से) रामू, यह जानना चाहते है कि तुम क्या सिख रहे हो?

बच्चा—जमीन और बीज के भेदों को समझ चुका हूँ अब मौसम के भेद से जमीन और बीज के भेद के बारे मे प्रयोग कर रहा हूँ। क्या ऐसा गेहूँ नही बनाया जा सकता जो धान के मौसम मे...

स्त्री—रहने दो बच्चे, मै समझ गई....

बच्चा—नही, नही, मै और भी सीख चुका हूँ। मै ऐसी कुर्सी बनाने में लगा हूँ जो बैठते ही मनचाही दिशा में पहुँचा दे।

स्त्री—रहने दीजिए, मै समझ गई, समझ गई। धन्य है आपके शिक्षक जिन्होने ऐसे छोटे-से बच्चों में इतना ज्ञान भर दिया है।

बच्चा—शिक्षक ? शिक्षक किसे कहते है?

स्त्री—तो उन्हे आप क्या कहते है?

शिक्षक—श्रीमती जी, हमारे यहाँ शिक्षक नही होते। शिक्षक वह है, जैसा आपने कहा है, जो बच्चो में ज्ञान भरे। बच्चो में ज्ञान भरने का पेशा हमारे यहाँ नही रह गया है। हमे बच्चो मे जो ज्ञान निहित है, उसे उभाडना भर है। इसलिए जो लोग उन्हे इस कर्म मे सहायता पहुँचाते है, वे शिक्षक नही कहला कर शिक्षा-सहायक कहलाते है। शिक्षक शब्द हमने जानबूझ कर छोड़ दिया है। क्योकि सहायक शब्द से बच्चे सदा यह अनुभव करते है कि उन्हे स्वयं शिक्षित होना है, हमारा काम सिर्फ सहायता देना है उन्हें।

(संगीत का स्वर)

बच्चा—वह नया पाठ प्रारंभ हो रहा है, अब मै जा सकता हूँ?

स्त्री—शिक्षण मे भी आपने संगीत को प्रमुखता दे रखी है!

शिक्षक—श्रम के साथ संगीत और संगीत के साथ शिक्षण—शिक्षण और श्रम को जोडनेवाली कडी तो संगीत ही है न? संगीत को बन्द कर दीजिए, श्रम और शिक्षण दोनो नीरस, शुष्क, और उकतानेवाले, ऊबानेवाले बन गये।

स्त्री—आपके यहाँ सब कुछ विचित्र है।

(५)

(एक अनहद सगीत: वंशी का स्वर: कोयल की कूक)

पुरुष—आप हमे किस मायापुरी मे लिए जा रहे है ?

स्त्री—हाँ, यह मायापुरी ही तो है, चारो ओर लहराते हुए खेत। कही फल-फूल, कही वालियाँ! वीच-वीच मे वगीचे—कही वौरो से लदे, कही फलो से लदे। हवा पराग से बोझीली। फिर यह अनहद सगीत! अहा!

पथप्रदर्शक—ओहो, आप कवि भी है। हाँ, हर स्त्री कुछ कवि होती है! किन्तु यह मायापुरी नही, यह तो मायापुरी का पडोस है, मायापुरी तो देखिए, वहाँ है।

पुरुष—वह तो कोई नगर-सा है? कौन सा नगर है?

स्त्री—किन्तु आप तो हमे गाँव दिखलाने ले आये थे न?

पथप्रदर्शक—वह गाँव ही तो है!

पुरुष—गाँव है? जहाँ के मकान यही से यो चमक रहे है, शायद कोई नमूने का गाँव वसाया है आपने।

पथप्रदर्शक—नही, हमारे सारे गाँव ऐसे ही है। वहुत दिनो की वात है। हमारे वापू की एक शिष्या थी—विलायत की। उन्होने भारतीय गाँव पर लिखा था कि जव रास्ता पकड कर मै चलती हूँ और दुर्गन्ध से नाक फटने लगती है, तो मै समझती हूँ, मै गाँव के निकट आ गई। काश, वह देवी आज होती! खैर, वह न सही, आप तो है। कहिये, आपकी नाक तो नही फट रही!

स्त्री—मेरे तो नाक, कान, और आँख—सव तृप्त हुए जा रहे है, चलिए, हम जरा आपके गाँव को निकट से देखे।

पुरुष—क्या सचमुच ये गाँव है! पक्तियो मे वने ये सुन्दर-सुन्दर मकान! वीच-वीच मे पतली, सुथरी पगडडियाँ। हर घर के सामने रग-विरगी फुलवारियाँ और, यह शायद विजली भी . .

पथप्रदर्शक—हाँ, हाँ, विजली ही तो है। विजली खेतो को पटाती है, जोतती है, घरो को जगमग करती और चौके घर से सारी मनहूसियत को दूर रखती है! यह विजली की कृपा है, जिसने हमारे शहरो और गाँवो के भेद-भाव को सदा के लिए दूर कर दिया है!

पुरुष—किन्तु गाँधीजी तो ग्राम-उद्योगो के पक्षपाती थे न? फिर ये वैज्ञानिक साधन .

पथप्रदर्शक—ग्राम-उद्योग का पक्षपाती होने का अर्थ क्या वैज्ञानिक साधनो से असहयोग करना है ? बापू ने रेल, मोटर, रेडियो, प्रेस सबका प्रयोग किया था। जहॉ विज्ञान मानवता को पीसता है, हम उसे दूर रखते है। विज्ञान को हमने विशाल उद्योगो के एकाधिकार से हटाकर ग्राम-उद्योगो मे जोत दिया है, उसने हमे स्वावलवी बनने मे प्रचुर सहायता की है। बापू का मूलमत्र था स्वावलबन। हर व्यक्ति स्वावलवी हो, हर कुटुँब स्वावलवी हो, हर गॉव स्वावलवी हो और हो सारा राष्ट्र स्वावलवी।

(चर्खे के चलने की घर्र-घर्र आवाज)

स्त्री—अरे, क्या आप लोगो के घरो मे आज भी चर्खे चलाये जाते है ?

पथप्रदर्शक—क्या चर्खे को हम कभी भूल सकते है ? जिसने हमे स्वराज्य दिलाया, जिसको हमने अपने झडे पर रखा, उसे भूल जाना तो अपने इतिहास को, अस्तित्व को भूल जाना है। फिर बापू कहा करते थे, चर्खा ग्रामीण अर्थशास्त्र की धुरी है। धुरी को छोड दें, तो गाडी चलेगी क्या ?

पुरुष—किन्तु चर्खा तो पुराण-पथिता का प्रतीक है।

पथप्रदर्शक—हमारे नये चर्खे को देखिए, तो कहिये ! बापू ने अठारहवी सदी के चर्खे को बीसवी सदी के योग्य बनाया, हमने उसे इक्कीसवी सदी के योग्य बना दिया है। हमारा एक चर्खा पूरे परिवार को वस्त्र-स्वावलवी बना देता है। हम बापू के सपूत है न ?

(लड़कियो के हँसने की आवाज)

स्त्री—ओहो, इधर लडकियाँ आ रही है। कितनी सुन्दर ?

पुरुष—तितलियो जैसी—

पथप्रदर्शक—हाँ, रूप मे तितलियाँ, किन्तु काम मे मधुमक्खियाँ। हमारी स्त्रियाँ युगो से घरेलू कामो पर एकाधिकार रखती आई है, अब तो वे कृषि आदि उद्योगो मे भी हमारा हाथ बँटाती है !

पुरुष—तब तो आप के यहाँ भी स्त्री-पुरुष में सघर्ष होगा !

पथप्रदर्शक—जी नही। जहाँ अधिकार की बात होती है, वहाँ सघर्ष ! यहाँ तो कर्त्तव्य की बात है। हमारे शास्त्रो ने स्त्री को पुरुष की अर्द्धांङिगनी कहा है—सामाजिक और पारिवारिक कर्मो का आधा बोझ अपने ऊपर लेकर उन्होने उसे सार्थक बना दिया है। हमारी नारियो का आदर्श माता कस्तूरबा है—उन्हे आप न भूले।

स्त्री—पूज्य वा! वह तो ससार की नारियो के लिए सदा नमस्य रहेगी।

पुरुष—हाँ, एक बात! आपके यहाँ कुछ लोग जो हरिजन कहलाते थे, गांव मे उनकी वस्ती किस तरफ है? जरा उधर तो चलिए।

पथप्रदर्शक—ह-ह-ह! आप सुदूर भूत की बात कर रहे है। वापू ने कहा था—हमे एक वर्गहीन-वर्णहीन समाज बनाना है! हमने वैसा ही समाज वना लिया है—हमारे यहाँ न कोई धनी है न कोई गरीब, न कोई कुलीन है, न कोई अन्त्यज! सब एक साथ रहे, सब एक साथ उपभोग करे और एक साथ राष्ट्र को बलवान बनाये—इस प्राचीन आदर्श को हमने नये साँचे मे ढाल दिया है। देखते नही, गाँव के सारे घर एक से है। गाँव के घर ही एक-से नही है, हमारे हृदय भी एक हो चुके है।

(दूर से मृदग-झांझ आदि का स्वर)

स्त्री—वह? कोई उत्सव हो रहा है क्या?

पथप्रदर्शक—हमारा हर दिन उत्सव का दिन है। उत्सव से हम दिन का प्रारभ करते है और उत्सव से ही दिन की समाप्ति होती है। सध्या होने को आई न? अव 'जन-गृह' मे गाँव के स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बच्चे सब-के-सब एकत्र होगे। वहाँ नृत्य होगा, गान होगा, नाटक होगे, प्रहसन होगे। रेडियो लगा है, देश-देश की वार्त्तायें सुनी जायँगी—फिर लोग खुशी-खुशी अपने घर जायँगे और सुख की नींद सोयेगे।

पुरुष—कितना सुखी समाज बना रखा है आप लोगो ने।

स्त्री—सचमुच, माया-पुरी बनाई है आपने। मेरी तो इच्छा होती है, यही बस जाऊँ!

पथप्रदर्शक—आप दोनो अपनी बात कह गये—पुरुष प्रतिस्पर्द्धी होता है, नारी आत्म-समर्पिणी! किन्तु हम कहेगे, आप जाइए और अपने देश मे बापू के इस राम-राज्य का सदेश दीजिए।

पुरुष—अब हम वापस जाना चाहते है, क्या अपने राष्ट्रपति के दर्शन हमे करा सकेगे आप?

पथप्रदर्शक—राष्ट्रपति? राष्ट्रपति हमारे देश मे अब नहीं होते। पति शब्द से प्रभुत्व सूचित होता है। हमने उसके बदले, प्रमुख

राष्ट्रसेवक शब्द रखा है। आप उनसे अवश्य मिले। मिलकर आप प्रसन्न हो जायेगे।

स्त्री—कौन-से वह सौभाग्यशाली सज्जन है, जिन्हे ऐसे राष्ट्र का प्रमुख सेवक होने का गौरव प्राप्त है?

पथप्रदर्शक—जिस दिन बापू का अलौकिक बलिदान हुआ, उसके ठीक एक दिन पहले उन्होने प्रवचन किया था कि मैं प्रसन्न तब होऊँगा, जब गाँव मे हल जोतनेवाला व्यक्ति राष्ट्र के राज्य-सिंहासन पर बैठे। एक वैसे ही सज्जन हमारे प्रमुख राष्ट्रसेवक हैं—और उन्होने बापू की छत्र-छाया मे काम भी किया था।

स्त्री—अरे, तो उनकी क्या उम्र है?

पथप्रदर्शक—यही, १२० वर्ष के लगभग। बापू की इच्छा थी, वह १२० साल जीये। वह तो चल बसे, किंतु उम्र की यह धरोहर हमे दे गये है। हमारे प्रमुख राष्ट्रसेवक उनकी इच्छा की पूर्ति कर सके है, यह हमारे लिए सौभाग्य की ही बात है।

पुरुष—एक हल जोतनेवाला व्यक्ति इस सर्वोच्च पद पर कैसे पहुँचेगा? क्या आपके यहाँ उम्मीदवारो मे प्रतिद्वद्विता नही होती?

पथप्रदर्शक—हमारे यहाँ चुनाव मे कोई उमीदवार नही होता। बापू क्या कभी किसी पद के उमीदवार हुए? तो भी वह हमारे सब कुछ थे। हमने वही पद्धति ली है। बापू की जयन्ती-दिवस को हम उत्सव मना कर लौटते है, तो इस पद के लिए किसी एक के लिए अपना मत डाल कर। मत पाने के लिए कोई प्रचार करना तो हमारे यहाँ शिष्टता के प्रतिकूल समझा जाता है और हमारे राष्ट्र में कोई अशिष्ट नही, यह हमारा दावा है।

स्त्री—सबकुछ विचित्र है आपके देश में। चलिए, हम उनके दर्शन कर ले।

(६)

(मोटर के भोपू का शब्द)

स्त्री—नमस्कार!

पुरुष—नमस्कार!

राष्ट्रसेवक—नमस्कार देवी जी, नमस्कार महोदय! आइये, पधारिये।..... तो देख लिया हमारे बापू के रामराज्य को!

पुरुष—क्या धर्म का भेदभाव......

राष्ट्रसेवक—बस, बस, रहने दीजिए। धर्मका भेद भाव तो बापू के रक्त से ही धुल गया। हाँ, जो उसका धब्बा-सा बच गया था, उसे भी हमने दूर कर लिया—यद्यपि उसमे प्रयत्न काफी करने पड़े। अब हमारे यहाँ विश्वासो की विभिन्नता, विचारो की विभिन्नता उसी तरह स्वाभाविक मानी जाती है, जैसी मुखाकृति की विभिन्नता। किसी दो के चेहरे एक हैं? फिर हृदय और मस्तिष्क कैसे एक-से होगे। किन्तु अलग-अलग चेहरे रखकर भी हम सभी मानव है, कुटुम्बी है, बाप है, भाई है, पति हैं, पत्नी है, बहन है, बेटी है, एक-साथ रहते है, आनन्द मनाते है। उसी तरह अलग विश्वास और विचार रख कर भी हम परस्पर प्रेम और आनन्द से रह सकते है, रहते है।

पुरुष—धन्य है आप और धन्य है आपका देश जहाँ एक ऐसा समाज प्रस्फुटित हुआ है, जो संसार के लिए अनुकरणीय है।

राष्ट्रसेवक—धन्य न हम है, न हमारा देश है। धन्य है बापू, जिनके चरणो का अनुसरण कर हम यहाँ पहुँचे है।

स्त्री—मैं तो अपने भाई-बहनो से कहूँगी, बापू का पथ ही विश्व-कल्याण का पथ है—हमे उसी ओर बढना चाहिए। जहाँ मानव मानव का भेद नष्ट हो चुका हो, जहाँ श्रम के साथ सगीत जुडा हो और सगीत के साथ शिक्षण, जहाँ बच्चे फूल की तरह स्वत. प्रस्फुटित होते हो और नारियाँ तितलियो की तरह सुन्दरता रखकर मधुमक्खियो की तरह सचयशील हो, और सबसे बढ़कर जहाँ शस्त्र वर्बरता के चिह्न माने जाते हो और शासन व्यक्तित्व के लिए बधन, भला वह समाज अनुकरणीय न होगा, तो और कौन-सा समाज!

राष्ट्रसेवक—आप तो कविता करने लगी।

स्त्री—सत्य कविता का स्वप्न है। जिन्होने इतने बडे सत्य का स्वप्न देखा, क्या बापू से बढकर भी कोई कवि होगा।

राष्ट्रसेवक—बापू! तुम्हे नमस्कार है, बापू!

पुरुष—अपने देश की ओर से हम भी उनकी स्मृति मे सर झुकाते है—नमस्कार बापू!

स्त्री—नमस्कार बापू!

पुरुष—तो हमें विदा की आज्ञा दीजिए!

राष्ट्रसेवक—आप दोनो का पथ मगलमय हो!

नेत्र-दान

[एकांकी]

पुरुष—क्या धर्म का भेदभाव......

राष्ट्रसेवक—बस, बस, रहने दीजिए। धर्मका भेद भाव तो वापू के रक्त से ही धुल गया। हाँ, जो उसका धब्वा-सा वच गया था, उसे भी हमने दूर कर लिया—यद्यपि उसमे प्रयत्न काफी करने पडे। अब हमारे यहाँ विश्वासो की विभिन्नता, विचारो की विभिन्नता उसी तरह स्वाभाविक मानी जाती है, जैसी मुखाकृति की विभिन्नता। किसी दो के चेहरे एक है? फिर हृदय और मस्तिष्क कैसे एक-से होगे। किन्तु अलग-अलग चेहरे रखकर भी हम सभी मानव है, कुटुम्बी है, बाप है, भाई है, पति हैं, पत्नी है, वहन है, वेटी है, एक-साथ रहते हैं, आनन्द मनाते है। उसी तरह अलग विश्वास और विचार रख कर भी हम परस्पर प्रेम और आनन्द से रह सकते है, रहते है।

पुरुष—धन्य है आप और धन्य है आपका देश जहाँ एक ऐसा समाज प्रस्फुटित हुआ है, जो ससार के लिए अनुकरणीय है।

राष्ट्रसेवक—धन्य न हम है, न हमारा देश है। धन्य है वापू, जिनके चरणो का अनुसरण कर हम यहाँ पहुँचे है।

स्त्री—मै तो अपने भाई-बहनो से कहूँगी, वापू का पथ ही विश्व-कल्याण का पथ है—हमे उसी ओर बढ़ना चाहिए। जहाँ मानव मानव का भेद नष्ट हो चुका हो, जहाँ श्रम के साथ संगीत जुडा हो और सगीत के साथ शिक्षण; जहाँ वच्चे फूल की तरह स्वत. प्रस्फुटित होते हो और नारियाँ तितलियो की तरह सुन्दरता रखकर मधुमक्खियो की तरह सचयशील हो, और सबसे बढ़कर जहाँ शस्त्र वर्बरता के चिह्न माने जाते हो और शासन व्यक्तित्व के लिए बंधन, भला वह समाज अनुकरणीय न होगा, तो और कौन-सा समाज!

राष्ट्रसेवक—आप तो कविता करने लगी।

स्त्री—सत्य कविता का स्वप्न है। जिन्होने इतने वडे सत्य का स्वप्न देखा, क्या वापू से वढकर भी कोई कवि होगा।

राष्ट्रसेवक—वापू! तुम्हे नमस्कार है, वापू!

पुरुष—अपने देश की ओर से हम भी उनकी स्मृति में सर झुकाते है—नमस्कार वापू!

स्त्री—नमस्कार वापू!

पुरुष—तो हमे विदा की आज्ञा दीजिए!

राष्ट्रसेवक—आप दोनो का पथ मंगलमय हो!

लेखक की ओर से

'नेत्रदान' भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त करुण घटना पर आधारित है।

यह विहार का सौभाग्य रहा है कि इसकी पुत्रियो और पुत्रो को लेकर भारतीय साहित्य मे कितने ही काव्य, नाटक, उपाख्यान आदि रचे गये।

सीता, अहिल्या, अम्बपाली, वासवदत्ता तथा चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, अशोक, कुणाल आदि ऐसी पुत्रियाँ और पुत्र इस भूमि के शृगार रहे कि भारतीय साहित्य-स्रष्टाओ को वार-वार अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन के लिए इनके चरित की शरण लेनी पडी।

निस्सन्देह ही जब किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पात्र या पात्री का चरित किसी कलाकार के हाथ मे आता है, तो उसका रूप वही नही रह जाता, जो इतिहास या पुराण मे वर्णित है।

कलाकार उस चरित्र मे अपना रग भरता है, उसके किसी खास गुण पर जोर देता है, उसे उभाडता है और उससे सम्वन्धित घटनाओ की नई व्याख्या भी प्रस्तुत करता है।

यही कारण है कि भिन्न-भिन्न काव्य-ग्रन्थो मे एक ही व्यक्ति का चरित भिन्न-भिन्न रूपो मे पाया जाता है।

विहार के जिन पुत्रो और पुत्रियो को कलाकारो के हाथो में पडने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उनके भी कई रूप हमारे सामने आये हैं।

'नेत्र-दान' जिस घटना पर आधार रखता है, उसे भी कई रूपो मे प्रस्तुत किया जा चुका है। किंतु, इसके लेखक ने जिस रूप को अपनाया है, उसे समझने के लिए इतिहास के उस सुनहले पृष्ठ को एक वार फिर से उलट जाना आवश्यक है।

और, तभी इसकी मार्मिकता का यथार्थ आस्वादन भी सम्भव हो सकता है।

अशोक की महानता

अशोक की महानता ने आधुनिक इतिहास-लेखको का ध्यान अपनी ओर अधिकाधिक आकृष्ट किया है।

कुणाल

कुणाल अशोक का कनिष्ठ पुत्र था और उसके सम्बन्ध मे एक बडी ही करुण कथा बौद्ध-साहित्य मे पाई जाती है।

कुणाल की सौतेली माँ थी तिष्यरक्षिता। वह सिहलनरेश तिष्य की पुत्री थी।

कुणाल बडा ही सुन्दर था, विशेषत उसकी आँखे बडी ही सुन्दर—मादक और मोहक—थी।

कहते है, उन आँखो पर तिष्यरक्षिता मोहित हो गई।

इसी समय अशोक ने कुणाल को उत्तर-पश्चिमी सीमा पर होनेवाले विद्रोह को दबाने के लिए राजधानी से बाहर भेज दिया।

तिष्यरक्षिता चिढ गई। उसने अपना अपमान बोध किया और अशोक की मुहर लेकर एक जाली आज्ञापत्र उसके पास भेजवा दिया कि अपनी आँखे निकाल कर भेज दो।

पितृ-भक्त कुणाल ने अपने पिता की आज्ञा का पालन किया।

वह अधा होकर अपनी पत्नी कचनमाला के साथ इधर-उधर घूमता रहा!

कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने अधे कुणाल की मर्मव्यथा को अपने 'कुणालगीत' मे सूत्रवद्ध कर हिन्दी-साहित्य को एक अभूत-पूर्व देन दी है।

बौद्ध-साहित्य कहता है, कुणाल गाता, भीख माँगता, कचन-माला के साथ एक दिन अनजाने पाटलिपुत्र आ पहुँचा।

तब सारी बाते खुली। अशोक ने तिष्यरक्षिता को दड दिया। कहते है, कुणाल को फिर आँखे भी प्राप्त हुई!

यह नाटक

किंतु, इस नाटक मे कथा का अन्तिम भाग समाहित नही है।

कहा जा चुका है, कलाकार वाध्य नही है कि वह इतिहास को पूरा-पूरा, जैसे-का-तैसा, दुहराये।

यदि वह ऐसा करे, तो ऐतिहासिक इतिवृत्ति और कलाकृति मे भेद ही क्या रह जाय?

पहले मै चाहता था कि अशोक पर ही एक नाटक लिखूँ। किन्तु, जब इसके लिए मैने आवश्यक सामग्रियो की खोज-

विश्व-इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए एच० जी० वेल्स ने अशोक की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सिर पर सोने का ताज पहन कर और हाथ में फौलादी तलवार लेकर जहाँ संसार के अन्य राजाओं ने संहार का भयानक दृश्य उपस्थित किया, वहाँ एक यह भी सम्राट् थे, जिन्होंने भिक्षुओं का बाना धारण कर संसार के कोने-कोने में शांति-धर्म का सन्देश भेजा।

पं० जवाहर लाल नेहरू ने भी अपनी 'विश्व-इतिहास की झलक' में अशोक का उल्लेख बड़े गौरव के साथ किया है।

किन्तु, इतिहास बताता है, अशोक सदा वह अशोक नहीं थे, जिनके शुभ्र कर्तृत्वों की चर्चा संसार के इन दो महापुरुषों ने तथा अन्य इतिहासकारों ने इस प्रकार बारम्बार की है।

अशोक, अपने प्रचंड स्वभाव के कारण, चंडाशोक के नाम से भी अभिहित थे। कहा जाता है, उन्होंने अपने सौ भाइयों की हत्या कर उनके सिर एक कुएँ में डलवाये थे, जिसे आजकल अगमकुआँ कहते हैं, जो पटना से सटे अशोककालीन खंडहरों में आज भी कायम है।

इतिहास यह भी कहता है, उनमें विजय की बड़ी आकांक्षा थी और भारत के कई भूखंडों को सैन्यबल से जीत कर उन्होंने अपने राज्य में मिलाया था।

विजय और राज्य की इसी आकांक्षा के कारण उन्होंने कलिंग पर चढ़ाई की और भीषण नर-संहार के बाद उसे पराजित किया।

किंतु, कलिंग की इस विजय ने ही उनके जीवन को एक नया मोड़ दे दिया।

कहते हैं, कलिंग में की गई निर्मम और भीषण हत्याओं के कारण उनके प्रचंड स्वभाव में भी परिवर्तन हुआ और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अब से वह फिर कभी युद्ध नहीं करेंगे।

उस समय बुद्ध का शांति-धर्म भारत में फैल रहा था।

उन्होंने उस धर्म को स्वीकार किया और अपना शेष जीवन संसार में इसी शांति-धर्म के प्रचार के लिए उत्सर्ग कर दिया।

इस उत्सर्ग का चरम बिन्दु यह रहा कि उन्होंने अपनी पुत्री संघमित्रा और पुत्र महेन्द्र को सिंहल भेज दिया।

अब भी सिंहल में संघमित्रा और महेन्द्र से सम्बन्धित अवशेष पाये जाते हैं और बोधि-वृक्ष की जो डाल उनलोगों द्वारा सिंहल ले जाई गई, वह एक महान वृक्ष के रूप में आज भी जीवित है।

अत मैने इस नाटक का प्रारम्भ सिहल से ही किया है।

तिष्यरक्षिता पाटलिपुत्र जा रही है, इससे वढकर प्रसन्नता की वात सघमित्रा के लिए और क्या हो सकती है? वह फूली नही समा रही है, किन्तु महेन्द्र के मन मे आशका जगती है।

आशका—किसके लिए ?

एक दुर्वल, कोमल, असहाय प्राणी के लिए।

हाँ, कुणाल को मैने एक कलाकार के रूप मे चित्रित किया और कलाकार से वढकर इस प्रपची ससार मे दुर्वल, कोमल, ्राय प्राणी और कौन है ?

इसके वाद, रक्षिता पाटलिपुत्र आती है— वही से, जहाँ उसकी वहन और पूज्य अग्रज है, अत कुणाल स्वभावत ही उसकी आकृष्ट होता है।

ार, जव उसे यह पता चलता है, रक्षिता भी कला की उपा- ै और वह एकाकीपन से घवराती है, तव ममता-वश उसका और वढ़ता जाता है।

दृश्य का सार यही है।

अशोक राजपाट और धर्म-प्रचार मे फँसे है, इधर एक युवती की एकान्त कला-साधना चलती है।

परिणति क्या होगी ?

ा ही अव कुणाल की पत्नी कचनमाला चिंतित होती

ो वह जानती है, उसपर उसका विश्वास है। वह का से कहती है—"परिचारिके, मै कुमार को जानती की मीमा तक पहुँच चुके है जहाँ वासनाओ की ्ती। उज्ज्वलता ही जहाँ का रग होता गंध होती है।"

ढूँढ शुरू की, तो मुझे अशोक से अधिक अशोक-परिवार कलाकृति के लिए कोमल, आकर्षक जँचा।

संघमित्रा, महेन्द्र और कुणाल—तीनो के चरित्र को लेकर मैंने तीन एकाकी लिखे। ये तीनो रेडियो से प्रसारित हुए तथा कई स्थानो पर अभिनीत भी हुए।

'नेत्रदान' कुणाल-सम्बन्धी एकाकी है।

एकाकी का यह नाम सिर्फ मौलिकता की खोज मे ही नही रखा गया, बल्कि मै इस घटना की जैसी व्याख्या रखना चाहता था, उसके उपयुक्त यही नाम था।

इस करुण घटना का मूल-स्रोत मै कलिंग के युद्ध तक ले जाना चाहता था।

युद्ध मानवता का सदा अभिशाप रहा है। कल वह अभिशाप था, आज भी अभिशाप है और आगामी कल में भी वह मानवता के लिए अभिशाप ही रहेगा।

जो युद्ध करते है या कराते है, उन्हे प्रायश्चित देना होगा। चाहे आज दे, या कल देने को बाध्य हो!

सम्राट् अशोक की हिय की आँखे तुरत खुली। उन्होने प्रायश्चित देने मे कोई कसर नही उठा रखी। इसीसे वह इतिहास मे अमर हुए।

किंतु, उनके परिवार को भी इस प्रायश्चित मे शामिल होना पडा!

सबसे पहले संघमित्रा और महेन्द्र को—स्वत, स्वेच्छा से। कुणाल सबसे कोमल था, अत सभी उसे बचाना चाहते थे।

किन्तु क्रूर नियति ने उससे वह प्रायश्चित वसूल किया, जिसकी किसी ने कल्पना तक नही की थी!

नाटक की रूपरेखा

बौद्ध-साहित्य कहता है, जब सम्राट् अशोक ने बुद्ध का शान्ति-धर्म स्वीकार किया, तो सिंहल-नरेश ने अपना दूत उनके पास भेज कर निवेदन किया कि इस धर्म के प्रचार के लिए वह किसी योग्य व्यक्ति को उसके देश मे भेजे।

तब संघमित्रा और महेन्द्र दोनो वहाँ भेजे गये।

वही, इस बात का भी उल्लेख है कि सिंहल-नरेश ने अपनी पुत्री को उपहार-रूप में अशोक के पास भेज दिया था।

यदि सिर्फ प्रेम और कला का द्वद्व ही मुझे दिखाना होता, तो नाटक को यही समाप्त किया जाना चाहिये था। कई कला-प्रेमी मित्रो ने भी ऐसी राय दी थी।

किन्तु, मैने कला को कभी मानसिक विलास या विहार का साधन नही माना।

अनावश्यक रूप से सोद्देश्यता लाना भी कला की हत्या करना है। किन्तु, उसे आवश्यकता से अधिक उन्मुक्त विचरण करने देना तो मानव-कर्तव्यो के प्रति उदासीनता दिखाना है।

छठे और अन्तिम दृश्य मे हम फिर सिंहल पहुँच जाते है और फिर सघमित्रा और महेन्द्र के वार्तालापो मे डूब जाते है।

इस घटना को जानकर भिक्षुप्रवर महेन्द्र भी विचलित हो उठे है, और जब सघमित्रा को इसकी खबर होती है, वह तो बेहोश हो जाती है।

किंतु, मानव-चेतना अन्तत अपना ऊर्ध्वगामी रूप दिखाती है। महेन्द्र इस घटना की व्याख्या करते है—"कलिग, अशोक, सघ-मित्रा—सिंहल, तिष्यरक्षिता, कुणाल ये सब एक ही घटना-शृंखला की कडियाँ है।"

नाटक के पहले दृश्य मे उन्होने कहा था—"कलिंग मे हमने जो हत्याये की, रक्त बहाया, अभी शायद उसका पूरा प्रायश्चित नही हो पाया है।"

किंतु, अब स्वीकार करते है—"मित्रे, कलिंग का प्रायश्चित पूरा हुआ। हमने असख्य गर्दने काट कर जो रक्त बहाया, उसका मूल्य हमे आँखो के रक्त से चुकाना पडा—सुन्दरतम आँखो के रक्त से।"

यही नही, महेन्द्र चाहते है, इस घटना से लोग पाठ ग्रहण करे—

"फिर कलिंग न बने, बहुत ठीक। लेकिन कलिंग न बने, इसके लिए एक नया ससार बनाना होगा, मित्रे! उठो, चलो—आँसू पोछो, प्रयत्न मे लगो। यदि एक-एक व्यक्ति अपने कर्तव्य को समझे, उसमे जुट जाय, तो फिर नया ससार बस कर रहेगा, बसकर, बसकर रहेगा।"

इन्ही शब्दो के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाट्य-कला

किसी भी कलाकृति का निर्माण सरल और सहज कार्य नही। नाटक की रचना तो और भी कठिन है।

तीसरा दृश्य यहाँ समाप्त होता है।

चौथे दृश्य मे कुणाल के वाहर चले जाने के वाद रक्षिता के हृदय मे उठनेवाली प्रतिक्रियाओ के घात-प्रतिघात के चित्र प्रस्तुत किये गये है।

वह अपमान वोध करती है। फिर इसमे उसे अपने देश और अपने वर्ण के अपमान का वोध होता है—

"मै सिंहल से आई हूँ न? सिंहल मे राक्षसी वसती है न?" वह आप ही आप कहती है—

"रक्षिते, तू राक्षसी है न? वे तुम्हे राक्षसी समझते है। फिर क्यो कोमल भावना? जिसने मानवी रक्षिता का अपमान किया, वह राक्षसी रक्षिता का प्रकोप सहे।"

सवसे वढकर वह इस अपमान मे कचनमाला का हाथ देखती है। आग मे घी पडता है। वह निश्चय कर लेती है—

"चेहरे पर आँखें—कितनी सुन्दर! किन्तु, इन काली हथेलियो पर "

और इस निश्चय का फल पाँचवे दृश्य मे देखिये।

कचनमाला के कधे पर हाथ रखे कुणाल पाटलिपुत्र के निकट पहुँचता है। यहाँ की हवा मे, यहाँ के वातावरण मे वह कुछ ऐसी चीजें पाता है जिससे उसे लगता है, वह किसी परिचित स्थान में पहुँच गया। इस हवा मे गगा की—पाटलिपुत्र के निकट की गगा की—शीतलता है क्या? और, कोयल की इस काकली मे आम के वौरो की गध भी घुली है क्या?

मानता हूँ, इसमे मेरा पाटलिपुत्र-सम्वन्धी पक्षपात वोलता है, किन्तु मै अपने को इससे वचा नही सकता था।

यही पर मैने, कुणाल की ही कलाकार-सुलभ वाणी मे, उस करुण घटना का वर्णन दिया है कि किस तरह उसने अपनी आँखें स्वय निकाल कर भेजी थी।

और जव उसे पता चलता है, यह उसकी छोटी माताजी का कुचक्र था, तो वह वोल उठता है—

"तुमने सुना है न कचने, प्रेम अधा होता है। क्या कला भी अधी होती है?"

नाटक लिखते समय जो वाक्य अनायास लिख गया, उसकी मार्मिकता से आज भी मै अभिभूत हूँ।

यदि सिर्फ प्रेम और कला का द्वद्व ही मुझे दिखाना होता, तो नाटक को यही समाप्त किया जाना चाहिये था। कई कला-प्रेमी मित्रो ने भी ऐसी राय दी थी।

किन्तु, मैंने कला को कभी मानसिक विलास या विहार का साधन नही माना।

अनावश्यक रूप से सोद्देश्यता लाना भी कला की हत्या करना है। किन्तु, उसे आवश्यकता से अधिक उन्मुक्त विचरण करने देना तो मानव-कर्तव्यो के प्रति उदासीनता दिखाना है।

छठे और अन्तिम दृश्य मे हम फिर सिहल पहुँच जाते हैं और फिर सघमित्रा और महेन्द्र के वार्तालापो मे डूब जाते हैं।

इस घटना को जानकर भिक्षुप्रवर महेन्द्र भी विचलित हो उठे है, और जब सघमित्रा को इसकी खबर होती है, वह तो बेहोश हो जाती है।

किंतु, मानव-चेतना अन्तत अपना ऊर्ध्वगामी रूप दिखाती है। महेन्द्र इस घटना की व्याख्या करते हैं—"कलिग, अशोक, सघ- मित्रा—सिहल, तिष्यरक्षिता, कुणाल ये सब एक ही घटना-शृ खला की कडियाँ हैं।"

नाटक के पहले दृश्य मे उन्होने कहा था—"कलिग मे हमने जो हत्याये की, रक्त बहाया, अभी शायद उसका पूरा प्रायश्चित नही हो पाया है।"

किंतु, अब स्वीकार करते है—"मित्रे, कलिग का प्रायश्चित पूरा हुआ। हमने असख्य गर्दने काट कर जो रक्त बहाया, उसका मूल्य हमे आँखो के रक्त से चुकाना पडा—सुन्दरतम आँखो के रक्त से।"

यही नही, महेन्द्र चाहते है, इस घटना से लोग पाठ ग्रहण करे—

"फिर कलिंग न बने, बहुत ठीक। लेकिन कलिंग न बने, इसके लिए एक नया ससार बनाना होगा, मित्रे। उठो, चलो—आँसू पोछो, प्रयत्न मे लगो। यदि एक-एक व्यक्ति अपने कर्तव्य को समझे, उसमे जुट जाय, तो फिर नया ससार बस कर रहेगा, बसकर, बसकर रहेगा।"

इन्ही शब्दो के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाट्य-कला

किसी भी कलाकृति का निर्माण सरल और सहल कार्य नही। नाटक की रचना तो और भी कठिन है।

नाटक दृश्य-काव्य है। नाटक पढा भी जाता है, किन्तु उसका उद्देश्य तो होता है रगमच पर खेला जाना।

कुछ गज लम्बे-चौडे स्थान मे, कुछ घडियो के अन्दर, उन सव वातो का अवतरण करना जो एक व्यक्ति या समूह के जीवन मे भिन्न-भिन्न स्थानो पर, भिन्न-भिन्न समयो मे घटित हुई।

फिर यदि नाटक का नायक ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ, तो जिम्मेवारी और वढ जाती है।

कलाकार को कुछ स्वाधीनता प्राप्त है, किन्तु उस स्वाधीनता की भी सीमा है, जिसका अतिक्रमण कर वह समाज के सामने अपराधी वन जा सकता है।

अत कलाकार को पग-पग पर चौकस और सावधान रहना पडता है।

"नेत्रदान" की रचना के समय भी ऐसे प्रसग आये है।

वौद्ध-कथा के अनुसार तिष्यरक्षिता कुणाल की आँखो पर मोहित हुई।

एक नाटककार यह भी कर सकता था कि रगमच पर ही रक्षिता कुणाल से प्रणय की भीख माँगे।

कुछ रसिको को यह अच्छा भी लगता, मुझे दुख और खेद के साथ कहना पडता है कि ऐसा किया भी गया है, किन्तु क्या यह भारतीय परम्परा के अनुरूप होता?

और, आँखो पर मोहित होने का अर्थ क्या सदा वासना ही है?

मैने अपने नाटक मे इसे रहस्यमय ही रहने दिया है। आँखो पर मोहित होने की वात को सत्य मानकर उससे होने वाली भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की प्रतिक्रियाओ से मैने भ्रमो और भ्रान्तियो का ताना-वाना वुना। और यह ताना-वाना स्वभावत ही इस करुण घटना का स्वाभाविक कारण वना।

एक स्थान पर मैने कहा है, कला का काम उठाना है, गिराना हीन। वौद्ध युग की इस मनोरम कथा का उपयोग जिन्होने नैतिक पतन के लिए किया है, उन्होने अशोक-परिवार के प्रति महान अपराध किया है, जिसे इतिहास कभी क्षमा नही करेगा।

यो ही रगमच पर ही कुणाल मे आँखे निकलवा कर एक करुण दृश्य उपस्थित कराया जा सकता था, जो दर्शको के मुँह से अचानक चीख निकलवा देता।

किन्तु, भारतीय नाट्य-परम्परा इसे भी रोकती है और मेरा विचार है, यह उचित ही है।

हाल ही मैंने पेरिस मे एक प्रसिद्ध ग्रीक ट्रेजडी (शोकान्त नाटक) का अभिनय देखा था। उसमे नायक पश्चाताप मे अपनी आँखे आप फोड लेता है। वहाँ भी देखा, यह आँख फोडने की क्रिया वह रगमच पर नही करता। हाँ फूटी हुई आँखो को लिए, अधा बना, करुणा की प्रतिमा-सा, वह रगमच पर आता है और अपने पश्चाताप-मिश्रित हृदयोद्गारो से दर्शको को भाव-विभोर बना डालता है।

जब मै वह नाटक देख रहा था, मुझे अपने कुणाल की याद आ रही थी।

सबसे कठिन बात रही तिष्यरक्षिता की मनोवेदना के चित्रण की। वह अपनी मनोव्यथा किससे कहे? विदेश मे आई एक राजकुमारी अपनी हृदय-कथा किसके सामने उँडेले? पाटलिपुत्र की किसी सखी या परिचारिका की क्या बात, सिंहल से उसीके साथ आई किसी दासी से भी तो वह मुँह खोलकर ये बाते नही कर सकती थी।

अत. मैंने एक नई पद्धति से काम लिया है। नाट्य-साहित्य मे यह पद्धति विरल है। अपने ही दर्पण मे अपनी छाया को देखती हुई वह सारी बाते कह जाती है। इससे लम्बी स्वोक्ति सम्बन्धी ऊब भी नही आती और अभिनय के लिए पूरा मौका भी मिलता है।

मुझे सन्देह था, यह पद्धति रगमच पर कैसी उतरेगी। किन्तु अभी-अभी एक मित्र ने बताया है, एक विख्यात कालेज की कुछ लडकियो ने जब इस नाटक का अभिनय किया, यह दृश्य बडा ही प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ।

समय के अनुसार रगमच मे और अभिनय कला मे भी परिवर्तन हो रहे है। मैंने इसे लिखते समय दोनो पर ध्यान रखा है।

कथोपथन

नाटक का प्राण होता है उसका कथोपकथन। यदि वह जानदार और जोरदार नही रहा, तो नाट्य-कला सम्बन्धी सारी सावधानियो के बावजूद नाटक फीका-फीका रह जायगा।

अपनी भाषा और शैली पर मुझे अनायास प्रशंसा मिल चुकी है। कथोपकथन का सम्बन्ध इनसे अधिक है। यदि भाषा में प्रवाह

और शैली मे बाँकपन नही रहा, तो कथोपकथन में जान आ नही सकती। खुरदरे वाक्य, बोझिल शैली और लम्बे-लम्बे सलाप कथोपकथन की हत्या ही कर डालते है। मैंने सदा ही इन दुर्गुणो से बचने की कोशिश की है।

कथोपकथन में कही, कोई ऐसा वाक्य या वाक्याश हो, जो सारे नाटक में भिन्न-भिन्न लोगो के मुँह से भिन्न-भिन्न प्रसगो में आवे, किन्तु वह किसी खास बात की ओर ही इशारा करे, तो यह तारतम्य, समूचे शरीर मे व्याप्त प्राण की तरह, उसे सचमुच प्राणवान बना डालता है।

पहले दृश्य मे ही कुणाल के लिए दुर्बल, कोमल असहाय विशेषण का जो प्रयोग हुआ, वह नाटक के अन्त तक बार-बार आता है और यो सारे नाटक को एक सूत्र मे बाँधता है। एक-सूत्रता नाटक की सबसे बडी खूबी समझी जाती है।

किन्तु, इस तरह के प्रयोग के लिए बहुत कौशल चाहिए, नही तो बार-बार का यह प्रयोग उसे भोडा भी बना दे सकता है।

यो ही यदि कथोपकथन में आगत घटना की ओर भी सकेत हो जाय, तो नाटक सजीव हो उठता है।

कुणाल की आँखो की सुन्दरता की चर्चा हो रही है कि वह कचनमाला के कक्ष मे प्रवेश करता है। फिर सादगी-सादगी में बताता है, इन आँखो को छोटी माताजी बहुत पसद करती है और चाहती है वह सदा इन्हे देखती रहे। किंतु, यह कैसे हो? तुम जो हो। फिर वह कह उठता है—

"कचने, उस समय मुझे एक दिल्लगी सूझ गई। मैंने कहा, आर्ये, यदि आप इन आँखो से दूर नही रहना चाहती, तो मैं एक काम करूँ—आँखें निकाल कर आपके समर्पित करता हूँ, शरीर कचन के पास रहेगा।"

इस पर कचनमाला व्याकुल हो जाती है। और, उसकी व्याकुलता कैसी सार्थक सिद्ध होती है।

यदि स्वभावत. ही कुछ सूक्तियाँ कथोपकथन में आ जायें, तो वह आभूषण के रत्नो की तरह उसकी शोभा को और भी चमका देती है।

"कभी सुन्दरतम वस्तु ही ससार में सर्वनाश का कारण बन जाती है।"

"घर छोडना, पति या पुत्र छोडना उतना कठिन नही है, जितना सच्चे कलाकार के लिए, कला का त्याग करना—सच्चे कलाकार के लिए कला उसके जीवन की साँस होती है।"

"हँसी और रुदन जुडवे भाई-बहन है।"

"जवानी की राह फिसलन-भरी है, तो उसके पैरो मे शक्ति और दृढता भी है।"

"बुढापा—जिन्दगी की लाश!"

"जितना ही आदमी धर्म की ओर प्रेरित हो, समझ, उसके हृदय मे कही उतनी ही बडी अशाति है!"

"हर कहने मे कुछ-न-कुछ मानी छिपा भी रहता ही है।"

"खडहर बताता है, इमारत बुलन्द रही होगी।"

"जो मानव का अपमान करता है, वह राक्षस पाता ही है।"

"भिखारी के लिए नाम क्या, धाम क्या?"

"पवित्र से पवित्र धरोहरो की भी चोरी होती आई है।"

"क्या कला भी अंधी होती है?"

"ममता मनुष्य की सबसे बडी कमजोरी है।"

"किसी भी महान यज्ञ मे सुन्दरतम की बलि देकर ही पूर्णाहुति की जाती है।"

ये सब सूक्तियाँ इस नाटक के लिए शृगार का काम करती होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

किन्तु, सच कहता हूँ, ऐसी सूक्तियाँ प्रसगवश आपसे आप आ गई है। जहाँ प्रयत्न करके सूक्तियाँ लाने की चेष्टा होगी, कथोप-कथन का सारा शीराजा बिखर जायगा!

भाषा और शैली

भाषा के रूप को लेकर हिन्दी-ससार मे कुछ दिनो से एक अखेर-खाता चल रहा है।

एक जमाना था, जब हिन्दी को उर्दू मे मिला-जुला कर एक नई भाषा गढने की कोशिश की गई थी और उसका नाम रखा गया था——हिन्दुस्तानी!

अब हिन्दी मे सस्कृत ठूँसठाँस कर एक नई भाषा गढी जा रही है और इसके एक प्रबल समर्थक ने इसके लिए एक नया नाम भी पेश कर दिया है—भारती!

हिन्दुस्तानी और भारती की दुहरी पाट मे बेचारी हिन्दी पिस रही है।

इन दो छोरो से बचने की मैंने हमेशा कोशिश की है। हमारा विहार सदा मध्यम मार्ग का अनुयायी रहा है न?

और; इतिहास ने अब तो सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी भाषा का जन्म इन मध्यम मार्ग के अनुयायियो द्वारा इसी विहार-भूमि में हुआ था।

अभी उस दिन पूना मे था, तो एक विद्वान मराठी मित्र ने एक बडे पते की बात कही।

उन्होने कहा—दिल्ली और लखनऊ हिन्दी को उर्दू की ओर घसीट कर ले जाना चाहते हैं और काशी और प्रयाग सस्कृत की ओर। हिन्दी का स्वाभाविक रूप तो विहार मे ही देखने मे आता है और इसके प्रमाण मे उन्होने पूज्य राजेन्द्र बाबू की आत्म-कथा से लेकर हमलोगो की रचनाओ तक के भी कुछ नाम गिनाये।

मैंने अपने मित्र के कथन मे अपने प्यारे विहार और उसके साहित्यकारो के प्रति एक महान उत्तरदायित्व का बोध किया।

हिन्दी का इतिहास बताता है, जनता की भाषा के रूप मे ही हिन्दी का जन्म हुआ था और मेरी निश्चित आशका है, ज्योही वह जनभाषा के पद को छोडकर कुछ विशिष्ट व्यक्तियो और समूहो की भाषा बनेगी, सस्कृत की तरह उसकी भी मृत्यु होकर रहेगी।

एक दिन सस्कृत भी राजभाषा थी, अत हमें इस भ्रम में नही रहना चाहिए कि राजाश्रय ही हिन्दी को जीवित रख सकेगा।

जन-जीवन से निकटतम सम्पर्क ही किसी भाषा की वृद्धि और विकास का प्रधान कारण होता है।

फिर नाटक की भाषा तो ऐसी होनी ही चाहिए, जिसे जनता आसानी से समझ सके, नाटक का यथार्थ रसास्वादन कर सके।

क्योकि नाटक दृश्य काव्य है, तो उसके दर्शको में जनता को कैसे बाद दिया जा सकता है?

"नेत्रदान" में भी, अपनी अन्य रचनाओ की तरह, मैंने इस बात पर सदा ध्यान रखा है।

जो लोग समझते हैं कि उत्कृष्ट रचना के लिए क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करना अनिवार्य है, उनकी समझ-बूझ पर मुझे तरस आती है।

ससार के जितने वडे साहित्य-स्रष्टा हुए है, उनकी भाषा ऐसी रही है कि साधारण जन भी उसका स्वाद ले सके।

फिर, मुझे यह सदा याद रहा है कि मेरी रचनाये सवसे पहले मेरे वाल-वच्चे ही पढा करते है। छपती तो है ये पीछे, मूल प्रति के रूप मे ही वे उसे पढने के लिए छीना-झपटी करने लगते है।

अत भाषा मे सरलता और भावो मे शिष्टता का मुझे सदा स्मरण रहा है।

फिर एक वात और । चूँकि मै भाषा का आदि-स्रोत जनता को मानता हूँ, अत जनता मे प्रचलित शव्दो और मुहावरो को लेने मे मुझे जरा भी झिझक नही रही है।

यह मै अपना सौभाग्य मानता हूँ कि विहार की जनता की जिह्वा पर चढे और मँजे मँजाये कितने शव्दो और मुहावरो को मेरी रचनाओ द्वारा साहित्य मे प्रवेश करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है ।

"नेत्रदान" मे भी ऐसे शव्दो और मुहावरो की कमी नही है।

मै चाहता हूँ, यह मेरी हार्दिक कामना है, कि विहार की अगली पीढी के लोगो मे यह प्रवृत्ति दिन-दिन वढे।

रही शैली की वात। शैली तो व्यक्तित्व का एक अश होती है। व्यक्तित्व के विकास के साथ ही शैली का विकास होता है। होते-होते वह दिन भी आता है कि विना नाम-मुहर के भी लाखो के वीच, व्यक्तित्व की ही तरह, शैली भी आप से आप पहचानी जा सकती है।

यह मेरा दूसरा सौभाग्य है कि मेरी शैली भी हिन्दी ससार मे एक विशिष्ट स्थान वना सकी है।

छोटे-छोटे वाक्य, चलते-फिरते मुहावरे, साफ-सुथरे शव्द, यहाँ तक कि छोटे-छोटे पैराग्राफ को मै उत्तम शैली के प्रमुख उपादान मानता हूँ।

शैली अभ्यास खोजती है। और व्यक्तित्व के निर्माण की तरह शैली का निर्माण भी प्रारम्भ मे कुछ पथ-प्रदर्शन चाहता है।

यह धृष्टता मै नही कर सकता कि मेरी शैली का अनुसरण किया जाय, सिर्फ यही कहूँगा कि यदि प्रारम्भ से ही ऐसी चेष्टा की जाय तो हर व्यक्ति अपने लिए उपयुक्त शैली का निर्माण कर सकता है।

मैं अपनी भावी पीढ़ी से यह भी आशा करता हूँ कि वह इस ओर भी सदा सचेष्ट रहेगी।

एकांकी

चलते-चलाते यह भी जान लेना है कि यह नाटक का छोटा रूप एकांकी है।

जिस तरह काव्य के बाद खंडकाव्य की ओर प्रवृत्ति बढ़ी और उपन्यास की जगह कहानियाँ ले रही है, उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र मे एकांकी भी अपने लिए स्थान बना रहा है।

समय और सुविधा, दोनो ही लोगो की प्रवृत्ति को छोटी चीजो की ओर खीच रहे है।

नाटक मे कई अंक होते है, एक-एक अंक मे कई दृश्य होते है—यद्यपि अब रंगमंच पर ध्यान देकर एक ही दृश्य मे एक अंक समाप्त करने की चेष्टा की जाती है।

किन्तु, एकांकी मे एक ही अंक होता है और उसी के अन्दर कई दृश्यो मे उसे समाप्त किया जाता है।

जहाँ नाटक मे कथा का फैलाव होता है, पात्रो की भरमार होती है, वहाँ एकांकी मे किसी बड़ी घटना का एक ही पक्ष ले लेते है और उसे कुछ ही पात्रो द्वारा अभिव्यक्त करते है।

हिन्दी मे धीरे-धीरे एकांकी नाटको का चलन बढ़ता जा रहा है।

खास कर स्कूलो और कालेजो के लिए तो एकांकी बहुत ही उपयुक्त होता है, क्योकि थोड़े से पात्र-पात्रियो और कम साधनो से ही इन्हे खेल लिया जा सकता है।

अध्ययन-अध्यापन मे भी एकांकी में बहुत सुविधायें है।

कोमलमति किशोरो के मस्तिष्क मे एकबारगी अनेक पात्रो के चरित भरने की चेष्टा उन्हे भ्रमजाल में डाल दे सकती है। एकांकी द्वारा पहले उनमें नाटक के प्रति रुचि पैदा की जाय, फिर उनके सामने पूरे नाटक रखे जायँ।

यो तो मै मानता हूँ कि ऐसे नाटक भी हो सकते है, जो अनेक अंको और दृश्यो के बावजूद किशोरो के लिए बहुत ही उपयुक्त हो और उन्हे भी कम साधनो के साथ खेला जा सकता हो।

'नेत्रदान' का जो विषय है, उसपर बड़े-बड़े काव्य, आख्यान,

नाटक लिखे जा सकते है—लिखे भी जायेगे। किन्तु मैने जान-बुझ कर इसे एकाकी मे ही भरने की कोशिश की है।

गागर मे सागर भरना आसान नही है, किन्तु यदि इसमे सफलता मिली, तो यह एक कमाल ही माना जा सकता है।

कमाल का मेरा दावा नही, किन्तु मुझे इसका सन्तोष अवश्य है कि 'नेत्रदान' ने इस करुण घटना को एक नये रूप मे अवश्य प्रस्तुत किया है।

यह दीवाल पर की बडी और बहुरगी चित्रकारी नही, किन्तु हाथी दाँत पर की एक छोटी-सी चमकती तस्वीर जरूर बन गई है।

अन्त में

मेरी आँखो के सामने दुनिया का जो नक्शा है, वह बडा ही सुन्दर और मोहक है।

गेहूँ से गुलाब की ओर—एक वाक्याश मे वह नक्शा यह है।

मेरा विश्वास है आज जो अन्नाभाव है, नगापन है, गरीबी है, गदगी है, अज्ञान है, अविचार है, स्वतन्त्र भारत मे, हम सबके प्रयत्नो से, ये सब शीघ्र दूर होगे।

और, इनके स्थान मे सुख, ऐश्वर्य, स्वास्थ्य, स्वच्छता, ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य सबकी दिन-दिन वृद्धि होती जायगी।

यही दुनिया मेरी गुलाब की दुनिया होगी—जहाँ चारो ओर मस्ती होगी, आनन्द होगा, उल्लास होगा, हास्य होगा!

आज हमे फुर्सत कहाँ कि आनन्द भी मना सके। किन्तु, उन दिनो हम अधिकाधिक इस ओर प्रवृत्त होगे।

तब हम अधिक कविता चाहेगे, सगीत चाहेगे, नाटक चाहेगे, नृत्य चाहेगे।

जैसा शुरू मे ही कह चुका हूँ, बिहार के लिए यह सौभाग्य की बात है कि उसका प्राचीन इतना महान और रगीन है कि उसके बेटो और बेटियो को इन सबके लिए पात्र या पात्रियाँ चुनने में कठिनाई नही होगी।

हमारा प्राचीन इतिहास सदा भारतीय साहित्य को उत्तमोत्तम पात्र और पात्रियाँ देता रहा है। वह हमें भी देता रहेगा।

अभी हमारे इतिहास के कितने ही सुनहले पृष्ठ बद ही पडे

हैं। किन्तु, जिनपर रचनायें हो चुकी हैं, मुझे लगता है, हमे फिर से उनपर भी अपनी कलम या कूचीं का प्रयोग करना पडेगा।

दो उदाहरण लीजिये—सीता और चन्द्रगुप्त।

एक भवभूति को वाद दीजिये, तो क्या सीता की करुण कथा को उस गौरव के अनुरूप चित्रित किया जा सका है, जिसकी वह अधिकारिणी है।

और, क्या यह वात नही है कि चन्द्रगुप्त के नाम से आज तक चाणक्य की महत्ता का ही चित्रण होता रहा?

मेरा विश्वास है, विहार की आनवाली पीढी अपने पूर्वजो की कीर्ति को उनके गौरव के अनुरूप ही नाना रूपो मे ढालेगी।

'नेत्रदान' उस सुनहले भविष्य की ओर एक अगुलि-निर्देश मात्र है।

यदि इसने ऐसी प्रेरणा हमारे किशोरो और किशोरियो मे भरी, तो समझूँगा, मेरी मेहनत सफल हुई।

पात्र-पात्रियाँ

पात्र

कुणाल

सम्राट् अशोक का कनिष्ठ पुत्र

महेन्द्र

सम्राट् अशोक का ज्येष्ठ पुत्र

पात्रियाँ

संघमित्रा

सम्राट् अशोक की पुत्री

तिष्यरक्षिता

सिंहल-नरेश की पुत्री· अशोक की नई रानी

कंचनमाला

कुणाल की पत्नी

परिचारिका

पहला दृश्य

[सिंहल-द्वीप का एक संघाराम। रात काफी बीत चुकी है। भक्तो की भीड़ छँट गई है।

संघाराम के मध्य-भाग में स्थित भिक्षु महेन्द्र का विहार। महेन्द्र अपने आसन पर अर्द्धध्यानावस्थित अवस्था में बैठे हैं। उनसे थोड़ी दूर पर भिक्षुणी संघमित्रा बैठी है।

विहार के एक कोने में एक दीप-दंड पर शत-वर्तिका दीप जल रहा है। उसकी कुछ बत्तियाँ बुझ चुकी हैं। शेष की लौ भी धीरे-धीरे धीमी होती जा रही है।

महेन्द्र की पलकें जरा हिलती हैं। संघमित्रा उनसे पूछती है—]

संघमित्रा—कुछ सुना है भैया ?

महेन्द्र—(कुछ बोलते नही, आँखे कुछ खुलती-सी)

संघमित्रा—सुना है भैया, रक्षिता को

महेन्द्र—(आँखे खोलते हुए) क्या ?

संघमित्रा—राजकुमारी रक्षिता को सिंहल-नरेश पाटलिपुत्र भेज रहे है।

महेन्द्र—(जैसे चौंककर) रक्षिता को ? पाटलिपुत्र ?

संघमित्रा—हाँ, भैया ! सिंहल-नरेश महाराज तिष्य, अपनी एक मात्र प्यारी पुत्री रक्षिता को, पिताजी की सेवा में, पाटलिपुत्र भेज रहे है।

महेन्द्र—क्या कह रही हो, मित्रे ?

संघमित्रा—हाँ, हाँ भैया, रक्षिता पाटलिपुत्र जाने वाली है। अभी संध्या समय उसकी एक परिचारिका संघाराम में आई थी—हमारी संध्या-अर्चना में सम्मिलित होने। अर्चना के बाद, उसने मुझे एकान्त में बताया—यद्यपि इसकी सूचना अभी जनसाधारण को नहीं दी गई है, किन्तु सिंहल-नरेश ने यह निश्चय कर लिया है और रक्षिता को यात्रा की तैयारी करने का आदेश भी दे दिया है।

महेन्द्र—(लम्बी साँस के साथ) हूँ!

संघमित्रा—(साश्चर्य) भैया, यह लम्बी साँस, यह हूँ! क्या आप को इस समाचार से प्रसन्नता नहीं हुई भैया! मैं तो, जब से यह खबर मिली, आनन्द-विह्वल हुई जा रही हूँ! अहा! रक्षिता पाटलिपुत्र जा रही है। पाटलिपुत्र—हमारी प्यारी राजधानी, जिसके चरणों को स्वयं गंगा-मैया, अपनी सारी सहायक नदियों से राजस्व लेने के बाद, दिन-रात पखारा करती है——जिसके नागरिक-नागरिकाओं के सारे शारीरिक और मानसिक कलुषों को धो-धोकर वह उन्हें शाश्वत जीवन और यौवन प्रदान करती है! अहा, हमारा पाटलिपुत्र! भैया, हमारे उस नगर में कितना जीवन है, यौवन है।

महेन्द्र—हाँ, जीवन है, यौवन है! (फिर उसाँस लेते हैं)

संघमित्रा—(कल्पना के उछाह में उसाँस पर ध्यान न देती हुई) और, भैया, उस जीवन और यौवन में जब रक्षिता की कला का समावेश होगा! अहा! सिंहल की कला से पाटलिपुत्र और भी सुन्दर, सुखद और मुखर हो उठेगा, भैया! आपने देखा है न? रक्षिता—कैसी नाचती है, कैसी गाती है, कैसी बजाती है! और वह सुन्दर भी कितनी है, भैया?

महेन्द्र—पगली! कभी सुन्दरतम वस्तु ही संसार में सर्वनाश का कारण बन जाती है!

संघमित्रा—(चौंकती हुई) सर्वनाश . . . सुन्दरतम वस्तु . . . भैया, आप यह क्या कह रहे हैं?

महेन्द्र—कोई विशेष बात नहीं— संसार का एक प्रकटतम तथ्य-मात्र! सोचो न—कहीं रक्षिता के ये गुण ही पाटलिपुत्र के लिए अमंगल सिद्ध हो गये तो?

संघमित्रा—(भयत्रस्त-सी) अमंगल! रक्षिता के ये गुण अमंगल! उफ़, मैं तो सोच रही थी कि अच्छा ही हुआ कि जब पिताजी

ने मुझे यहाँ भेजा, तो महाराज तिष्य अपनी पुत्री को पाटलिपुत्र भेजे। शिष्टाचार का नियम भी तो .

महेन्द्र—(बीच मे ही बात काटकर) शिष्टाचार का नियम। मित्रे, क्या तुम इतना भी नही देख पाती कि तुम्हारे यहाँ आने और रक्षिता के वहाँ भेजे जाने मे क्या अन्तर है? तुम यहा आई थी तथागत के शान्ति-धर्म का प्रचार करने, भिक्षुणी बनकर। किन्तु रक्षिता क्यो भेजी जा रही है, किस रूप मे भेजी जा रही है? वह भिक्षुणी बनाकर नही भेजी जा रही, यह तो स्पष्ट ही है।

सघमित्रा—हाँ, यह बात तो है भैया! तो भैया, क्या आपको इसकी खबर पहले से थी?

महेन्द्र—थी। महाराज तिष्य ने मुझसे इस बारे मे राय ली थी। मैंने उदासीनता प्रकट की। इस उदासीनता को उन्होंने मेरा सकोच मान लिया। किन्तु, मित्रे, तब से मैंने जितना ही सोचा है, मुझे चिन्ता ही चिन्ता हो रही है। रक्षिता वहाँ भिक्षुणी बनाकर नही भेजी जा रही है। वह युवती है, सुन्दरी है, कला की आचार्या है। भले ही वह सम्राट् की सेविका कहकर भेजी जा रही हो, किन्तु, यदि उसमे महत्वकाक्षा जगे (रुक जाते है)

संघमित्रा—महत्त्वकाक्षा जगे? (चौकती-सी) और, वह सम्राज्ञी बनना चाहे! क्यो भैया? (साश्चर्य) ओहो, रक्षिता हमारी माताजी की सौत बनेगी? सौत

महेन्द्र—हमारी माताजी की सौत! ह-ह-ह (उपेक्षा की हँसी) मित्रे, रक्षिता क्या खाकर उनकी सौत बन सकेगी? हाँ, सम्राज्ञी वह बन सकती है। जिस पद को पैरो से ठुकराकर माताजी विदिशा जा बैठी है, रक्षिता उस जूठी पत्तल को पाटलिपुत्र मे चाट सकती है। इसके लिए माताजी को तनिक भी दुख नहीं होगा, और न यह मेरे, तुम्हारे या किसी और के लिए चिन्ता का विषय है।

संघमित्रा—तो और किस बात की चिन्ता हो रही है, भैया?

महेन्द्र—पिताजी वृद्ध है,—दिन रात धर्म-कार्यों में रत, शासन-कार्यों मे व्यस्त! वह घरेलू मामलो मे न ध्यान देते है, और न देगे। इधर क्या रक्षिता सम्राज्ञी बनकर ही सन्तुष्ट हो जायगी? वह युवती है, सुन्दरी है, कला की आचार्या है! कला! सौन्दर्य! यौवन!—तीन-तीन अमोघ अस्त्र! कुछ भी अनर्थ हो सकता है, मित्रे!

संघमित्रा—कला, सौन्दर्य, यौवन !—हाँ, कुछ भी अनर्थ हो सकता है, भैया ! (भयभीत-सी होती है)

महेन्द्र—किन्तु, इस प्रसग मे पिताजी को नही लाना, और न मैं साम्राज्य के लिए ही कोई सकट देख रहा हूँ। पिताजी सासारिकता से बहुत ऊँचे उठ चुके है और मौर्य-साम्राज्य की नीव अब शेषनाग की पीठ तक जा चुकी है। मुझे कुछ चिन्ता है, तो एक दूसरे ही कोमल, दुर्बल, असहाय प्राणी के लिए !

संघमित्रा—दुर्बल ? कोमल ? असहाय ? (आश्चर्य में) वह कौन प्राणी है, भैया ?

महेन्द्र—तुम भूल गई उसे ?

संघमित्रा—(स्मरण की चेष्टा मे) दुर्बल, कोमल..........

महेन्द्र—कुणाल !

संघमित्रा—(जैसे चिल्ला पडती हो) कुणाल भैया ! दुर्बल कोमल असहाय ! हाँ कुणाल भैया कोमल है, दुर्बल है, असहाय है— उन्हे माताजी ने छोड दिया, हमने छोड दिया—हाँ, हाँ, दुर्बल, कोमल, असहाय ! क्या रक्षिता उनपर प्रहार करेगी भैया ?

महेन्द्र—सिंह के शिकार से लौटा हुआ शिकारी रास्ते मे हिरन पाकर उसे नही छोडता, मित्रे ! दुर्बल, कोमल, असहाय सदैव दया ही नही उत्पन्न करते, हिंस्र प्रवृति को भी उद्दीप्त करते है।

संघमित्रा—ओह, भैया, भैया, इसे रोकिये, रोकिये ! कुणाल भैया को बचाइये, बचाइये !

महेन्द्र—(गम्भीर होकर) मित्रे, हम एक अजीब युग से गुजर रहे है। बहुत-सी असम्भव घटनायें, हमारी-तुम्हारी आँखो के सामने, घट चुकी। क्या हम-तुम उन्हे रोक सके ? उलटे हमी उनके प्रवाह मे बह गये। शायद घटनाओ का वही स्रोत बेचारी रक्षिता को घसीट कर पाटलिपुत्र ले जा रहा है ! रह-रहकर चिन्तायें आ घेरती है, किन्तु इन बातो मे ज्यादा सिर खपाना क्या हमारे भिक्षु-जीवन के लिए उपयुक्त है ? हम अपने कर्तव्य-पथ पर बढते चले, देखें, युग-प्रवाह हमे क्या-क्या दिखाता है !

संघमित्रा—उफ्, कुणाल भैया ! दुर्बल, कोमल, असहाय ओह ! ओह ! (मुँह ढँकर सिसकियाँ लेती है)

महेन्द्र—मित्रे, चिल्लाने मे, रोने-धोने मे कुछ नही होने-जाने

का। कलिंग मे हमने जो हत्याये की, रक्त बहाया, अभी शायद उस का पूरा प्रायश्चित नही हो पाया है! पिताजी चेष्टा मे लगे है, हम-तुम अपने को तपा रहे है किन्तु! किन्तु! . किन्तु, छोडो इन बातो को। जाओ, अपने विहार मे जाओ, सोओ। रात काफी बीत चुकी है। शतवर्त्तिका की सभी वत्तियाँ बुझ चुकी, सिर्फ एक बाकी है, उसे भी बुझाती जाओ. .

[सघमित्रा आँसू पोछती हुई उठती है। दीपक की ओर बढती है। उसकी आँखो से अचानक आँसुओ की धारा फूट पडती है। जब वह झुक कर दीपक बुझा रही है, आँसू की एक बूंद उसकी लौ पर गिरती है—दीपक बुझ जाता है— वह चीख उठती है—'घोर अन्धकार!]

दूसरा दृश्य

[पाटलिपुत्र का राजप्रासाद। तिष्यरक्षिता का विलास-कक्ष। सगीत के साधन-उपसाधन इधर-उधर सजा कर रखे गये है। बीच में रक्षिता बैठी है—शृगार-प्रसाधनो से मडित। सामने कुणाल बैठा है। रक्षिता के मुख-मण्डल पर हार्दिक उथल-पुथल की छाया। कुणाल के चेहरे पर सादगी और सौम्यता खेल रही है]

कुणाल—तो, भैया वहाँ क्या करते है आर्ये?

रक्षिता—आपके भैया! कुमार, अह, वह क्या मनुष्य है? नही, नही वह तो देवता है। सारा सिहल उन्हे देवता की तरह पूजता है। और क्यो न पूजे? क्या उनका व्यवहार साधारण भिक्षु-सा होता है? वह तो एक साथ ही भिक्षु, चिकित्सक, सेवक—क्या-क्या नही है? जहाँ कही अज्ञान है, पीडा है, दुख है, शोक है, वहाँ भिक्षु महेन्द्र उपस्थित! अभी उस साल हमारे देश मे महामारी फैली—अपने को अपना नही पूछता था! किन्तु, आपके भैया!—अहा! कही दवा दे रहे, कही परिचर्या कर रहे!—गन्दगियो को अपने हाथ से धोने और शवो को ढोकर उनका अन्तिम सस्कार करने में भी उन्हे सकोच नही होता था। आप जुटे थे, भिक्षुओ को जुटाया था। सारा सिहल उनके धन्य-धन्य से गूंज उठा!

कुणाल—मेरे भैया ऐसे ही हैं आर्ये! वह जिस ओर मुड़ेंगे, कमाल कर दिखायेंगे। भैया! (भावनाविभोर होकर प्रणाम करता हुआ) प्रणाम भैया! और मेरी मित्रा—आपलोगों की संघमित्रा——वह क्या करती रहती है, आर्ये?

रक्षिता—देवी संघमित्रा, सारे सिंहल की आराध्या बन चुकी है। उनके शील और सेवा पर सारा सिंहल मुग्ध है। सब कहते हैं, कैसा होगा वह देश, जिसमे देवी संघमित्रा जैसी नारियाँ उत्पन्न होती हैं?

कुणाल—आह, मेरी नन्ही बहन! (लम्बी साँस लेता है)

रक्षिता—कुमार, संघमित्रा जैसी बहन पर क्या 'आह' करने की आवश्यकता है? ऐसी बहन तो संसार मे सबको मिले——जो कुल को उज्ज्वल करे, देश को उज्ज्वल करे, विदेश को उज्ज्वलता दे! देवी संघमित्रा को देखकर ही तो मुझे आपके देश मे आने की प्रेरणा मिली! उनकी स्मृति से ही मेरा सिर झुक जाता है, कुमार! (हाथ जोड़कर प्रणाम करती है)

कुणाल—आह, मित्रा ने क्या-क्या नही छोड़ा? खिलौने-सा पुत्र, देवता-सा पति, स्वर्ग-सा घर! किन्तु, यह तो सब कोई जानते हैं। आर्ये, मेरी समझ में मित्रा का सबसे बड़ा त्याग था, अपनी कला का सदा के लिए परित्याग कर देना! घर छोड़ना, पति या पुत्र छोड़ना उतना कठिन नही है, जितना सच्चे कलाकार के लिए कला का त्याग करना। सच्चे कलाकार के लिए, उसकी कला जीवन की साँस होती है। आर्ये, सिंहल ने मेरी बहन का सिर्फ ढाँचा-मात्र पाया है, अपने प्राण को वह यहीं गंगा-मैया को समर्पित कर गई! उफ्, उस दिन अपने सारे वाद्य-यन्त्रों और संगीत-साधनों को किस प्रकार उसने निर्ममता से गंगा के जल मे डाल दिया——एक-एक कर उन्हें उठाती, चूमती, सिर से लगाती और फिर काँपते हाथों मे (आँखों में आँसू आ जाते हैं, गला रुँध जाता है)

रक्षिता—(उसकी आँखें भी छलछला आती हैं) हाँ, कुमार, कलाकार के लिए सबसे बड़ा त्याग है कला का परित्याग! इतना बड़ा त्याग कर ही तो देवी संघमित्रा ने अपने को इतिहास के लिए अमर बना लिया है! देवी संघमित्रा कभी गाती, बजाती और नाचती भी होंगी, इसका अनुमान तो वहाँ मुझे प्राय होता था। साधारणत. चलते-फिरते समय भी, मैं उनके पदों में एक सूक्ष्म प्रकार

की समगति पाती थी, उनकी मामूली बातचीत मे भी अद्भुत स्वर-सधान का अभ्यास मिलता था, और उनकी उँगलियाँ, जहाँ भी ताल और लय मिले, वहाँ सहज ही नृत्यशील हो उठती थी। सचमुच, कला सच्चे कलाकार के लिए जीवन की साँस होती है, कुमार।

कुणाल—आप ही इसे अच्छी तरह समझ सकेगी, क्योकि आप भी कलाकार है न ? (सगीत-साधनो पर दृष्टि डालते हुए) आप अपना देश छोड आई, किन्तु, क्या इन्हे छोड सकी ?

रक्षिता—आह, इन्हे छोड पाती। (उसाँस लेती है)

कुणाल—क्यो ? इनसे तो कुछ मन ही वहलता होगा।

रक्षिता—कुमार, कला अपने लिए वातावरण चाहती है। यहाँ तो

कुणाल—हाँ, हाँ, भैया कहा करते थे, यह राजप्रासाद नही, बौद्ध-विहार हो चला है। जब से मित्रा गई, यह तो पूरा बौद्ध-विहार हो गया है। मैने भी गाना-बजाना छोड दिया है, आर्ये।

रक्षिता—छोड चुके होगे। देवी सघमित्रा ने छोड दिया आपने .

कुणाल—नही, नही आर्ये। कहाँ मित्रा, कहाँ मै। वह महाप्राण थी और मै दुर्वल । आह, जब कभी बादल गरजते है, पिकी कूकती है, भौरे गूँजते है, कलियाँ चटखती है—हृदय आकुल हो उठता है। कण्ठ मे एक सुरसुरी, अँगुलियो मे एक तरह की झिन-झिनी अनुभव करने लगता हूँ। कहाँ मित्रा, कहाँ मै। वह महाप्राण, मै दुर्वल

रक्षिता—सभी कलाकार दुर्वल और कोमल होते है, कुमार।

कुणाल—दुर्वल और कोमल। हाँ, हाँ, आपको यह वातावरण खलता होगा ।

रक्षिता—इसे तो मैने स्वय अपनाया है, फिर मै क्या शिकायत करूँ ? क्यो करूँ ? किन्तु . (आँखें भर आती है)

कुणाल—आपकी स्थिति का कुछ अनुभव कर सकता हूँ, देवी। देश से दूर— स्वजन-परिजन से दूर ..

रक्षिता—(व्याकुल होती है) कुमार—कुमार। यह बात मत बढाइये । मै इसे भुलाने की कोशिश मे हूँ कुमार। उफ् कभी-कभी ऐसा लगता है, कलेजा मुँह को आ रहा हो। यह एकान्त,

यह गला दबोचनेवाला सन्नाटा . .आह! (आँखो की अश्रुधारा आँचल से पोछती है)

कुणाल—तो आर्ये, एक निवेदन । क्यो न मैं कभी-कभी आ जाया करूँ और सगीत-साधना में आपका कुछ साथ दूँ ? कला हमारी ढाल, हमारी रक्षक भी तो है ।

रक्षिता—(कुछ प्रसन्न मुद्रा मे) कुमार, कुमार ! हम कलाकार एक दूसरे के हृदय के कितने निकट होते है ! आपने तो जैसे मेरी बात ही छीन ली। किन्तु, कुमार . छोडिये ! उसे भुलाने ही दीजिये ! जिस घाव को भरना है, उसे फिर कुरेदने से . .(अचानक रुक जाती और ऊर्ध्व में देखने लगती है)

कुणाल—देवि ! एक बात कहूँ। इसमे मेरा स्वार्थ भी है ! आपके निकट जब-जब आता हूँ, मालूम होता है, अपने भाई-बहन के निकट पहुँच गया ! लगता है, भैया ने, मित्रा ने आपको अपना प्रतीक बनाकर यहाँ भेजा है ! आर्ये, आप कल्पना नही कर सकती कि भैया मुझे कितना मानते थे ! और मित्रा . वह मुझसे कभी दूर होती थी, आर्ये ! मालूम होता था, जैसे हम जुडवे भाई-बहन हो—बचपन में एक साथ खाया, सोये; जवानी में एक साथ गाया, रोये !

रक्षिता—रोये ?

कुणाल—(हँसकर) हाँ, हाँ आर्ये, हम कभी-कभी साथ-साथ रो भी लेते थे। हँसी और रुदन भी जुडवें भाई-बहन है न आर्ये ! क्यो ? (मुस्कुराता है)

रक्षिता—(उदास होकर) भगवान किसी को रुदन न दें।

कुणाल—(उसी तरह मस्ती में)किन्तु, उससे बचा कौन है आर्ये! देख रहा हूँ, वह रह-रहकर आपकी आँखो में भी झाँक जाता है। वह . वह वह ! (उँगली से रक्षिता की डबडबाई आँखो की ओर इंगित करता हुआ मुस्कुराता है)

रक्षिता—(गहरी साँस लेती हुई) ओह, कुमार ! इसकी चर्चा मत कीजिये कुमार ! (हाथो से आँखें ढाँप लेती है)

तीसरा दृश्य

[कंचनमाला का कक्ष। वह विषण्ण, विह्वल-सी बैठी है। रह-रहकर उसांसे लेती है। परिचारिका आती है। धीरे-धीरे वह कंचनमाला के निकट पहुँचती है]

परिचारिका—देवि, इधर आप बहुत उदास .

कंचन—(बीच ही मे बात काटकर) कुमार कहाँ है ?

परिचारिका—छोटी सम्राज्ञी के कक्ष मे होगे भद्रे ! हाँ, हाँ, वही है ! सुनिये न, वह सगीत-ध्वनि (सगीत की झकार सुनाई पडती है)

कचन—यह दिन-रात का सगीत !

परिचारिका—अच्छा है, भद्रे, अच्छा है ! मत्रो की बुद-बुदाहट से कान पक गये थे—अच्छा हुआ छोटी सम्राज्ञी ने फिर से इस घर मे सगीत-नृत्य की प्रतिष्ठा की। आपको भी तो सगीत बहुत प्रिय था भद्रे ! आप भी इसमे क्यो नही सम्मिलित होती ? देवि ! आपका और कुमार का सम्मिलित गीत-नृत्य देखे-सुने तो कितने दिन हो गये !

कचन—परिचारिके, पिछली बातो को मत छेड। गया हुआ आदमी लौट भी आये, जो दिन गये—गये !

परिचारिका—(गम्भीर होकर) अन्धी नही हूँ भद्रे ! सब कुछ देख रही हूँ। हाँ, बात कुछ सीमा से बाहर जा रही है ! तो आप कुमार से क्यो नही कहती कि मर्यादा का अतिक्रमण

कंचन—क्योकि मै कुमार को जानती हूँ। कुमार कलाकार है, कलाकार बीच मे रुक नही सकता ! कलाकार को सबसे अधिक आनन्द मिलता है सीमा का अतिक्रमण करने से। कलाकार—सीमा का शत्रु ! (कुछ रुक-कर, सोचकर) शायद यह उसके लिए आवश्यक भी हो ! यदि वह ऐसा न करे, तो कला की अभिवृद्धि ही रुक जाय—वह जहाँ-की-तहाँ खडी रहे, या चक्कर काटे ! एक नई धुन, एक नई गत, एक नई रेखा, एक नया रग, एक नई उक्ति, एक नई उपमा—इनके लिए कलाकार की आत्मा छटपटाती रहती है। सिंहल की इन युवती ने कुमार के सामने कला का एक नया सागर लहरा

दिया है—रग नया, तरगे नई। कुमार उन तरगो से खेल रहे है—क्या उन्हे इससे रोका भी जा सकता है? (दीर्घ उच्छ्वास लेती है)

परिचारिका—किन्तु, राजभवन मे तरह-तरह की बाते . .

कंचन—वे सारी बाते झूठी होगी, परिचारिके! मै कुमार को जानती हूँ। वह कला की उस सीमा तक पहुँच चुके है, जहाँ वासनाओ की छाया भी पहुँच नही सकती। उज्ज्वलता ही जहाँ का रग होता है, पवित्रता ही जहाँ की गन्ध होती है! कुमार नही, नही। कुमार की ओर से मुझे तनिक भी आशका नही है परिचारिके! तो भी, न जाने क्यो, मुझे बार-बार लगता है, जैसे यह कुछ अच्छा नही हो रहा। लगता है, क्षितिज के किसी अदृश्य छोर पर कही आँधी पल रही है! उफ्!

परिचारिका—देवि, क्षमा कीजिये तो मै कहूँ।

कंचन—बोल . .

परिचारिका—(कचनमाला की ओर देखती रह जाती है)

कंचन—बोल, बोलती क्यो नही?

परिचारिका—भद्रे, नई सम्राज्ञी को जब-जब देखती हूँ, मुझे बार-बार उस काली सर्पिणी की याद आ जाती है, जो उस रात अचानक प्रासाद के प्रागण मे निकल आई थी—वैसा ही रग, वैसी ही चमक, वैसा ही चपल सारा शरीर, जैसे भीतर के जहर से काँप रहा हो! वही गर्दन, वही दृष्टि—जैसे कही किसी का मर्म ढूंढा जा रहा हो। (व्याकुल होकर) देवि, देवि, कुमार को वहाँ जाने से रोकिये!

कंचन—(गम्भीरता से) जानती हूँ, सखि, वह आग से खिलवाड कर रहे है। किन्तु, उस जिद्दी हठी बच्चे को रोक रखना क्या इतना आसान है? क्या करूँ, समझ मे नही आता। चिन्ता खाये जा रही है। समझाती हूँ, तो कहते है,—तुम स्त्रियाँ बडी ईर्ष्यालु होती हो! स्त्रियाँ ईर्ष्यालु! किन्तु, भूल जाते है कि स्त्रियाँ ईर्ष्यालु होती है तो क्यो? क्योकि वह अपनी जाति के सबल तत्व को जानती है और जानती है पुरुष-हृदय के उन दुर्बल स्थान को जहाँ प्रहार किये जाने पर, यह भारी भरकम जानवर औंधे मुँह गिर पडता है! सोची न, स्त्रियों की आँखो के एक बूँद पानी ने ही क्या-क्या न किया-कराया है!

परिचारिका—बहुत सही कह गई भद्रे! फिर जवानी की राह—फिसलन-भरी!

कंचन—(क्रोध की मुद्रा मे) जवानी को बहुत बदनाम किया गया है परिचारिके! जवानी की राह फिसलनभरी है, तो उसके पैरो मे शक्ति और दृढता भी है! मुझे तो बुढापे से डर लगता है!

परिचारिका—बुढापे से!

कंचन—हाँ, बुढापे से! जो भोग नही सकता, किन्तु छोड भी नही सकता! जिसकी अशक्तता जलन की धूनी रमाये रहती है! जो अपने को भुलाने के लिए तरह-तरह का उपचार खोजता है, किन्तु पाता नही। बुढापा जिन्दगी की लाश

परिचारिका—देवि, देवि, आप किधर लक्ष्य कर रही है? क्या आपको सम्राट् से . . . .

कंचन—हाँ, मुझे सम्राट् से भय है! भय है, स्वय सम्राट् शायद यह पसन्द न करे कि कुमार और सिंहल-कुमारी इस प्रकार दिन-रात एक साथ रहा करे।

परिचारिका—ओह, आप यह क्या कह रही है? सम्राट् को तो धर्म-चर्चा . . .

कंचन—परिचारिके, इस प्रसग पर हमे कुछ कहने का अधिकार नही है! लेकिन एक बात याद रख—जितना ही आदमी धर्म की ओर प्रेरित हो, समझ, उसके हृदय मे कही उतनी ही अशान्ति है! और, उस अशान्ति से जलते हृदय मे, जिस दिन निराश किशोरी का भग्न हृदय, प्रतिहिंसा से उद्वेलित होकर, नया ईधन डालेगा, उस दिन उसकी लपट से कौन किसकी रक्षा कर सकेगा?

परिचारिका—निराश किशोरी—भग्न हृदय!

कंचन—हाँ, मेरा विश्वास है, एक-न-एक दिन सिंहल-कुमारी को अनुभव करना पडेगा कि मेरे कुमार उस धातु के नही हैं जिसकी कल्पना उन्होने कर रखी है। फिर क्या होगा? उफ्! मालूम होता है, अशोक-परिवार पर ही किसी कुग्रह की शनि-दृष्टि पड गई है! माताजी कहाँ गई, जेठजी कहाँ गये, छोटी दीदी कहाँ गई? सबके सब चले

गये और मेरे जिम्मे एक अजीव जीव सौप गये—दुर्वल, कोमल . . . (उसाँसे लेती है)

(दूर से किसी के आने की कुछ आहट)

परिचारिका—(उस ओर चकित दृष्टि से देखती, अचानक खिल पडती और कह उठती है) अहा! वह देखिये, कुमार आ रहे है (दूर से कुमार आते दिखाई पडते है) ओहो, हमारे कुमार कितने सुन्दर है, भद्रे! सुन्दर, सुडौल, छरहरा वदन और उसपर वे आँखें—सदा अधखुली, अधमुँदी! मानो एक नाल पर दो अधखिले कमल! हाँ, हाँ, एक नाल पर दो अधखिले कमल! वही आकार, वही रग, वही मादकता, वही मोहकता! क्या ससार मे कोई ऐसा हृदय है, जो इन आँखो पर मुग्ध न हो!

(कुणाल का प्रवेश)

कुणाल—किन आँखो की वाते हो रही है? (परिचारिका को देखकर) ओ, तुम! अच्छा, परिचारिके, जाओ, जरा मेरे लिए थोडा पेय का तो प्रवन्ध करो! (अचानक कह उठता है) अह, छोटी माताजी थका डालती है! (परिचारिका घूरती है, उस ओर घूम-कर) अरी, तुम गई नही! (परिचारिका जाती है) हाँ, हाँ सच कह रहा हूँ, कचने, छोटी माताजी थका डालती है! यह गाइये, वह गाइये, यह वजाइये, वह वजाइये! एक दिन कहने लगी—शायद आप नृत्य भी जानते होगे! वोलो, मै उनसे क्या कहता?

कंचन—तो क्या आपको कोई जवाव नही सूझा?

कुणाल—अरे, किस-किस वात का जवाव सूझे! वह अजीव नारी है कचने! कव क्या वोल जायँगी, कुछ ठिकाना है? अभी उस दिन की वात है, वडी देर तक मेरा मुँह निहारती रही, फिर कह उठी—कुमार, आपकी ये आँखें कितनी सुन्दर है! यहाँ भी तो शायद इन आँखो की ही चर्चा हो रही थी! क्या मेरी आँखें सचमुच वडी सुन्दर है, कचने?

कंचन—जव नई माताजी कह रही है . . .

कुणाल—कहा न तुम्हे कचने, यह छोटी माताजी अजीव नारी है। जव उनसे यही पूछा—तो, उनकी आँखो में आँसू छलछला आये और वोली—कुमार, आपको मालूम नही, ये आँखें कैसी है, एक वार इन आँखो को देखकर उनसे अलग रहना . . .

कंचन—(उसांसे लेती हुई) हूँ . . . ।

कुणाल—किन्तु, मैंने उन्हे बीच मे ही टोक दिया, कचने ! और कहा—आर्ये, इसका मतलब तो यह हुआ कि मैं आपके ही पास बैठा रहूँ । क्या यह सम्भव है ? आदमी सदा एक ही जगह कैसे बैठा रह सकता है ? और वह कचनमाला जो है ! जानती हो कचन, तुम्हारा नाम सुनते ही वह बोल उठी—देवी कचनमाला ! कितनी सौभाग्यशालिनी है वह !

कंचन—(व्यग्य मे) हाँ, मैं बडी सौभाग्यशालिनी हूँ !

कुणाल—और, कचने, उस समय मुझे एक दिल्लगी सूझ गई। मैंने कहा—आर्ये, यदि आप इन आँखो से दूर नही रह सकती, तो मैं एक काम करूँ—आँखे निकालकर आपको समर्पित कर देता हूँ, शरीर कचन के पास रहेगा !

कंचन—(व्याकुल होकर) कुमार, कुमार ! ओहो, यह क्या बोल रहे है आप ?

कुणाल—छोटी माताजी भी इसी तरह व्याकुल हो उठी थी, कचने ! झट उन्होने अपने हाथो से मेरा मुँह बन्द कर दिया और जानती हो, भावना-विभोर होकर बार-बार मेरी आँखो को चूमने लगी । सच कहता हूँ, जब वह आँखो को चूम रही थी, तो मुझे अपनी माताजी की याद आ गई ! आह ! वह भी यो ही मेरी आँखे चूमा करती थी, और कहा करती थी—कही मेरे बेटे की इन आँखो को किसी चुडैल की आँख न लग जाय !

कंचन—उनकी आशका निराधार नही थी, कुमार !

कुणाल—कचने ! माताजी ! (लम्बी उसाँस के साथ) आह, माताजी कहाँ चली गई ? क्यो चली गई ? क्या माताजी को हमारी याद नही आती होगी, कचने ! उफ्, यह—यह कैसी बात हो गई—माताजी विदिशा मे, भैया और मित्रा सिंहल मे . . .

कंचन—(दृढ स्वर मे) शायद हमे भी पाटलिपुत्र छोडना पडे कुमार !

कुणाल—यह क्या कह रही हो कचने ? हम पाटलिपुत्र छोड देंगे, तो छोटी माताजी का क्या होगा ? एक दिन उन्होने कहा भी था—कुमार, आप नही होते, तो जाने मेरी यहाँ क्या गति हुई रहती ? और, यह कहकर ऐसा मुँह बना लिया कि तुम्हारी याद आ गई !

कंचन—मेरी ?

कुणाल—अरी पगली, तुम कभी भुलाई जा सकती हो! तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी भक्ति, तुम्हारा भोलापन! लेकिन एक बात। भोलेपन मे छोटी माताजी तुम्हे भी मात दे सकती है। एकदम बच्ची, कुछ समझती नही। एक दिन कहने लगी—कुमार, आप मुझे 'आर्ये' नही कहा कीजिये, यह माता का सम्बोधन सचमुच उनका कहना सही था, कचने! उम्र मे मुझसे भी छोटी, शायद तुमसे भी। उन्हे 'आर्ये' कहते मुझे भी जाने कैसा लगता है! मैंने कहा—बात तो जँचती है, किन्तु फिर क्या कह कर पुकारूँ आपको ?

कंचन—और आप दोनो चेष्टा के बाद भी कोई नया सम्बोधन नही पा सके ?

कुणाल—अभी तक तो हम नही पा सके है कचने, तुम्ही बता दो न! और हाँ, हाँ, इसी सिलसिले मे वह यह भी कहने लगी—मुझे जो आप 'आप-आप' कहकर पुकारते है, यह भी अच्छा नही लगता। और उसी साँस मे यह भी पूछ बैठी—क्या देवी कचन-माला को आप 'आप' ही कहकर सम्बोधित करते है ? और, ज्योही मेरे मुंह से निकला—वह तो पत्नी है और आप माता! तो फिर क्या हुआ, जानती हो ? वह एकबारगी मेरी गोद मे सिर धरकर रो उठी—उफ्, हिचकियाँ, आँसुओ की अविरल धारा! और सच कहूँ, तो मेरी आँखो मे भी आँसू छलछला आये कचने! (कचन-माला काँप उठती है, उसकी आँखो मे भी आँसू छलछला आते हैं) अरे, यह तुम्हारी आँखें भी. . . . . .

कंचन—(रुँधे गले से) अब इस राजभवन को हम छोड़ें, कुमार! ओह, ओह . . . .

कुणाल—यो छोडना चाहो, तो सुयोग भी है। अभी उस दिन महामात्य से मालूम हुआ कि उत्तर-पश्चिम सीमा पर कुछ उप-द्रव हो रहा है और पिताजी चाहते है कि यदि मैं कुछ दिनो तक उस ओर जाकर रहूँ, तो शायद मामला सुलझ जाय।

कंचन—हाँ, मामला सुलझ जाय! (लम्बी उसाँसें लेती है)

कुणाल—क्यो कंचने, तुम्हारे इन कहने मे कुछ और भी मानी है क्या ?

कचन—मेरे कुमार, हर कहने मे कुछ-न-कुछ मानी छिपा रहता ही है। किन्तु मेरे भोले, मेरे भावुक! अच्छा है, तुम इनसे परे हो। उपद्रव—सीमा पर! किस सीमा पर? सम्राट्! व्यर्थ मे स्त्रियाँ बदनाम की जाती है कि उनमे ईर्ष्या की मात्रा अधिक होती है। हर कमजोर मे ईर्ष्या होती है। हूँ! उपद्रव! सीमा पर! कैसा उपद्रव? किस सीमा पर? (कुणाल से लिपटती हुई) हाँ, हाँ, कुमार हम यहाँ से चले, रास्ते मे ही विदिशा मे माता जी के दर्शन भी कर लेगे! चले . चले, (कचन-माला कुमार से लिपट जाती है)

चौथा दृश्य

[तिष्यरक्षिता अपने विलास-कक्ष में। उसके चारो ओर वाद्य, संगीत और नृत्य के साधन बिखरे पड़े हैं। वह दर्पण के सामने बैठी है, उतरा हुआ चेहरा, बिखरे बाल, गीली आँखें, बड़ी देर तक दर्पण में अपने को देखती है, फिर अपने प्रतिबिम्ब से बोल उठती है—]

रक्षिते! यही है तू! यही गति होनी थी तेरी! कहाँ पैदा हुई, कहाँ रहने आई! अब मर, मर, रक्षिते!

(थोडी देर आँखे मूँद लेती है)

मरेगी रक्षिते? हाँ, हाँ, जीना चाहती है, किन्तु सिवा मृत्यु के कौन चारा है तेरे लिए? यह उपेक्षित जीवन, अपमानित जीवन, लाछित जीवन! क्या इस जीवन से मृत्यु अधिक दुखद, भयप्रद और वीभत्स होगी? तुझे मरना चाहिये, मरने को तैयार होना चाहिये, रक्षिते!

(गला सहसा रुँध जाता है)

पिताजी, पिताजी,, यह आपने क्या किया? मुझे कहाँ भेज दिया पिताजी! अजीव यह देश है, अजीव यहाँ के लोग हैं! समझ में नही आता, क्या कहते हैं, क्या चाहते हैं?

(क्रोध की मुद्रा में)

नही, जानबूझकर यहाँ मेरी उपेक्षा की गई है! रक्षिते, पगली,

अपने को धोखे मे मत रख। जानबूझकर तेरी उपेक्षा की गई है! हाँ, जान-बूझकर उपेक्षा की गई है, किन्तु इस ढग से कि तू धोखे मे रहे! उँह, इस सारे भवन मे ढोग ही ढोग भरा है। धर्म का ढोग, प्रेम का ढोग, कला का ढोग!—ढोग! ढोग! ढोग!

(मुस्कुराती हुई)

बूढे सम्राट्! अह, क्या कहने है! दिन भर इस चिन्ता मे कि इस देश मे धर्मदूत भेजो, उस देश मे धर्मदूत भेजो, यहाँ स्तूप खडा कराओ, वहाँ स्तूप खडा कराओ। स्तूप खडा कराओ, उनपर अच्छे-अच्छे उपदेश लिखवाओ। और उनका आरम्भ करो इस वाक्य से—'देवानाम् प्रिय, प्रियदर्शी अशोक!' 'देवानाम् प्रिय' तो समझी, किन्तु, यह 'प्रियदर्शी' क्या बला है बूढे सम्राट्? क्या आप अपने को सुन्दर भी समझते है! बूढा! (खिलखिला पडती है) नही, नही रक्षिते, हँस मत! सम्राट् कभी सुन्दर भी रहे होगे, जरूर रहे होगे—खडहर बताता है, इमारत बुलन्द रही होगी! किन्तु कैसा करुण! खडहर समझ रहा, वह इमारत है। बूढे सम्राट्! तुम पर क्रोध नही, करुणा ही आती है! किन्तु, किन्तु

(अचानक भौहे चढ जाती है)

किन्तु कुमार, तुम! तुम!! सम्राट् दुर्बलताओ के साथ भी महान है, किन्तु तुम? ओह, कैसा नाटक दिखाया तुमने? जैसे भोले हो, जैसे बच्चे हो, जैसे कुछ समझते ही नही हो तुम!

नही, नही, तुम्हे घमड है कुमार, अपने रूप का, अपनी आँखो का, उन आँखो का! आँखो का?

(उत्तेजना कम हो जाती है, गला रुँध जाता है)

किन्तु, रक्षिते! सत्य से दूर मत भाग! वैसी आँखें संसार मे कही देखी नही गई होगी! वे आँखे, मादक आँखे! मोहक आँखे! कुमार, कुमार! वे आँखें तुम्हे कहाँ से मिली?

(फूटकर रो पडती है, फिर सम्हलती है)

नही, वह तो चला गया! कहाँ चला गया? क्यो चला गया? कचने! यह सारी खुराफात तुम्हारी है! तुम कुमार को ले भागी हो। मुझसे छीनकर तुम कुमार को ले भागी हो! तुम मुझसे डर गई। डर गई! जब-जब मै तुम्हारे सामने हुई देखा, तुम मुझे देखते ही काँप उठती रही! क्यो काँपती रही?

क्यो, क्यो ? (कुछ सोचती हुई) हॉ, हॉ, मै सिहल से आई हूँ न ! सिहल मे राक्षसी बसती है, तुम्हे डर था, तुम्हारे कुमार को ..

(दर्पण मे घूरती हुई)

किन्तु रक्षिते ! तू क्या सचमुच राक्षसी है ? राक्षसी का चेहरा ऐसा ही होता है ? राक्षसी के बाल ऐसे ही होते है ? राक्षसी के अधर ऐसे ही होते है ? और, राक्षसी की आँखे ! ये आँखे ! (अचानक कुणाल की आँखो को याद आ जाती है) और, वे आँखे——कुमार, कुमार !

(फिर आँखे मूँद लेती है)

पिताजी, पिताजी! मुझे आपने कहाँ भेज दिया, पिताजी! किन लोगो के बीच मे भेज दिया! यही भेजना था, तो किसी सघाराम मे भेजा होता, भिक्षुणी बनाकर भेजा होता! इस राजभवन मे क्या भेज दिया—किन लोगो के बीच मे भेज दिया? सिहल—अभिशापित देश! तुम्हे ये लोग राक्षसपुरी समझते है, तुम्हारी बेटियो को राक्षसी समझते है! राक्षसी! राक्षसी! कचने, क्या मै राक्षसी हूँ? कुमार, क्या मै राक्षसी हूँ?

(अचानक उठकर खडी होती है)

राक्षसी हूँ, तो सम्हल, कचने! कुमार को लेकर कहाँ भागी? कहाँ भागी, कहाँ जायगी?

यह राक्षसी जो तुम्हारे पीछे लगी है कचने! कुमार कहाँ जाओगे, यह राक्षसी जो तुम्हारे पीछे पडी है! वे आँखे! वे आँखे! तुम्हे उन आँखो पर घमड है कुमार! कचने, तुम उन आँखो को बचाने के लिए भाग गई हो! और कुमार, उन आँखो के बल पर तुमने मुझे अपमानित किया, लाछित किया? उन आँखो के बल पर!

(मुट्ठी बाँधती हुई)

तो, तो ...जिन आँखो के बल पर जिन आँखो के बल पर .....हाँ, हाँ, जिन आँखो के बल पर .

(अचानक मुट्ठी ढीली पड जाती है—बेचैन हो उठती है)

आह, वे आँखें—आह, वे मादक, मोहक आँखें! वे आँखें, वे आँखें. ..

(फिर सम्हलती और मुट्ठी बाँधती हुई)

किंतु, तुम उन्हे देख न सकोगी कचने! तुम उन्हे बचा नही

सकोगी कचने ! उनपर राक्षसी की नजर पड गई है। राक्षसी! राक्षसी! राक्षसी!!

(एक क्षण रुककर,)

कुमार याद है, तुमने कहा था, कहिये, तो ये आँखे निकालकर आपको दे दूँ। तुमने व्यग किया था कुमार। तुमने मेरी अभिलाषा का उपहास किया था, कुमार। तो, तो . ..

(गम्भीर होकर दर्पण के सामने फुसफुसाती हुई)

चुप रक्षिते। चुप रह। चुप रह। कोई सुन न ले, कोई जान न ले। वे आँखे—वे आँखे। इन हथेलियो पर। आँखे हथेलियो पर. ..। चेहरे पर आँखे,—कितनी सुन्दर। (हँस पडती है) जब वे इन हथेलियो पर होगी—(अचानक विषण्ण होती हुई) उँह, उँह——उफ्, उफ्। (फिर सम्हलती सी) लेकिन, यह दुर्बलता कैसी ? रक्षिते, तू राक्षसी है न। वे तुम्हे राक्षसी समझते है न? फिर क्यो यह कोमल भावना? मानवी रक्षिता का जिसने अपमान किया, वह रक्षिता की राक्षसी का प्रकोप सहे। जो मानव का अपमान करता है, वह राक्षस पाता ही है—सम्हलो, सम्हलो, कुणाल।

(उत्तेजना मे दर्पण के सामने से हट कर टहलती हुई)

कचने। हाँ, हाँ, इन्हे अपने रग पर घमड है, सोने के ऐसे दमकते रग पर—तभी तो नाम रखा है—कचनमाला, कचनमाला। और रक्षिते। तुम काली हो न? तुम्हारे बाल काले है न? तुम्हारी आँख काली है न? आँखे। (कुणाल की आँखे याद आ जाती है) उफ्,। उफ्। नही, नही। (पूरी दृढता से) हाँ, हाँ, वे आँखे अब इन काली हथेलियो पर। इन काली हथेलियो पर। हाँ, हाँ, वे दोनो आँखे, इन दोनो हथेलियो पर। चेहरे पर आँखे—कितनी सुन्दर। किन्तु हथेलियो पर—काली हथेलियो पर। हा हा . हा .. हा . हा . हा हा .

(अट्टाहास करती हुई जाती है)

पाचवाँ दृश्य

[अंधा होकर कुणाल अपनी पत्नी के साथ भिखारी के रूप में चल पड़ता है।

आगे-आगे कचनमाला, पीछे-पीछे उसका कंधा पकड़े, कुणाल। चलते-चलते, भूलते-भटकते वह पाटलिपुत्र के कहीं आसपास पहुँच जाता है;]

कुणाल—कचने, हम कहाँ पर हैं कचने?

कंचन—हमने नाम-धाम कहना और पूछना छोड दिया है न?

कुणाल—यह तो अच्छा ही किया है हमने। भिखारी के लिए नाम क्या, धाम क्या? चले चलो, वढे चलो—कुछ मिल जाय, खा लो, जहाँ थक जाओ, सो लो। किंतु कचने, कुछ खास वात है कि पूछ रहा हूँ—हम कहाँ पर हैं?

कंचन—क्या खास वात अनुभव कर रहे हैं आप?

कुणाल—जानती है पगली, अन्धे की ज्ञानेन्द्रियाँ वडी तीव्र हो जाती है! अभी-अभी हवा का एक झोका आया और शरीर से स्पर्श किया, तो मालूम हुआ, जैसे कोई परिचित आकर गले मिल रहा हो! क्या निकट मे कोई तालाव है? और उसमे कमल फूले हैं? पुरइन पर बूँदे किस तरह चमक रही होगी कचने? या— या वगल मे कही नदी है? गगा तो नही? कचने, यो तो गगा हर जगह की शीतल, पवित्र! किंतु, पाटलिपुत्र के निकट की गगा ... . अहा! कचने, कही हम पाटलिपुत्र के निकट . ...

कंचन—कुमार, कुमार, पाटलिपुत्र का नाम न लीजिये, पुरानी वातो की चर्चा मत कीजिये—यह अच्छी वात है कि हम उन्हे भूल गये!

कुणाल—भूल तो गये ही है और भूलकर अच्छा ही किया है हमने। किंतु, न जाने क्या वात है कचने, कि आज इतनी उत्सुकता जगी है! मालूम होता है कि वही पुरानी जगह में आ गया हूँ! वही हवा, वही गंध, वही स्वर-लहरी—जरा ध्यान से तो सुन! वह कोयल किसी घनी अमराई में वोल रही है या नही? यों तो कोयल जिस डाल पर वोल लेती है, उसकी वोली

फिर भी कितना साफ कोआ, और बीच की वह पुतली—मालूम होता था, जैसे वह मुझसे पूछ रही हो—कुमार, मेरा क्या कसूर था कि मुझे यो .

कंचन—कुमार, कुमार!

कुणाल—और वह राजदूत भी चिल्ला उठा था, कुमार! कुमार! लेकिन, मैंने सोचा, तनिक भी विचलित होता हूँ, विलम्ब करता हूँ, तो फिर मुझसे यह काम पूरा नही होने का। मैंने छुरी की नोक बाई आँख मे भी उसी तरह घुसेड दी—लेकिन, आह! मै उस बेचारी आँख को देख भी न सका! बेचारी बाई आँख—न जाने वह कहाँ गिरी, पात्र मे या पृथ्वी पर!

कंचन—ओह, ओह! (कुमार से लिपट जाती है)

कुणाल—(उसको पीठ सहलाता हुआ) कचने, कचने! एक बात बता दो कचने! कचने, तुमने देखा था, वह कहाँ गिरी थी? कही जमीन पर न गिर गई हो! बेचारी बाई आँख!

कचन—ओह, ओह, कुमार, कुमार! (फूट-फूटकर रो पडती है)

कुणाल—हाँ, हाँ, वह राजदूत भी इतने जोरो से चीख उठा था कि राजभवन मे हल्ला मच गया, और मैंने थोडी देर के बाद ही तो तुम्हे इसी तरह चिल्लाते सुना था—"कुमार, कुमार, ओह, ओह!" उफ्, तुम कितनी रोई थी! (कचन के सिर पर हाथ फेरते हुए) कचने, कचने, किंतु अब क्यो रो रही हो? पगली, वह स्वप्न था! सारा स्वप्न! ससार को दार्शनिको ने जो स्वप्न कहा है, वह कितना सत्य है कचने! किंतु, एक बात है मेरी रानी! बार-बार मन मे प्रश्न उठा करता है—यह क्या हुआ? पिताजी ने यह क्या किया? एक बार मन में आया था, कोई षड्यत्र तो नही—इसीलिए उस राजाज्ञा को कई बार अच्छी तरह देखा था! किंतु, नही, पिताजी की ही तो मुहर थी!

कंचन—पिताजी की ही मुहर थी, क्या इसका अर्थ सदा यह होगा कि आज्ञा भी पिताजी की होगी?

कुणाल—जरूर, जरूर। पिताजी के अतिरिक्त कौन दूसरा उसपर उनकी मुहर लगा सकता है? सम्राट् की मुहर—ससार मे सबसे पवित्र धरोहर!

कंचन—पवित्र से पवित्र धरोहरो की भी चोरी होती आई है, कुमार!

कुणाल—अरे, तू क्या बोल गई कंचने? चोरी!—किसने चोरी की होगी? नहीं, नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। वह मुहर सदा पिताजी के पास ही रहती है!

कंचन—जैसे पिताजी के पास कोई नहीं रहता . . . . . . .रहती।

कुणाल—रहता..... ... रहती . ....तो क्या तुम्हें छोटी माताजी.. . ...

कंचन—उन्हें माता कहकर इस पवित्र शब्द का अपमान न कीजिये कुमार! सत्य नहीं छिपता। पहले मैं भी भ्रम में थी, पिताजी के बारे में भी संदेह उग आया था। शायद, उसी का यह प्रायश्चित कर रही हूँ! किंतु, आज वह सत्य तो घाट-बाट की चर्चा बन चुका है। मैं यह बात आप से जान-बूझकर छिपाये हुई थी कुमार! सब की जिह्वा पर यह चर्चा है—साम्राज्य की एक-एक प्रजा यह सब जान गई है।

कुणाल—सच? क्या सचमुच ऐसी बात है, कंचने?

कंचन—जाने दीजिये कुमार! हम सब कुछ भूल गये, इसे भी भूल जायँ। जिसने भिखारी का जीवन वरण कर लिया है, वह अब साम्राज्य और सम्राज्ञी आदि की बातें भला क्यों सोचे?

कुणाल—(कहता जाता है) क्या सच? क्या सचमुच तुमने ऐसी चर्चा सुनी है? अरे, अरे, उफ्! (और सोचने लगता है)

कंचन—आप यह क्या सोचने लगे?

कुणाल—कुछ नहीं, कुछ नहीं। (कुछ रुककर) कंचने, मेरी कंचने! मेरी दुलारी कंचने! एक बात मस्तिष्क में कौंध गई! तुमने सुना है न कंचने, प्रेम अन्धा होता है?

कंचन—हूँ!

कुणाल—और, क्या कला भी अन्धी होती है? ..ह ह ... ह ..(हँसता है)

छठा दृश्य

[सिंहल-द्वीप का संघाराम। दोपहर का सन्नाटा। भिक्षु महेन्द्र व्यग्रता से टहल रहे हैं। संघमित्रा आती है—वह खड़ी है; किंतु महेन्द्र टहलते जा रहे हैं। कुछ देर के बाद संघमित्रा पुकारती है—]

संघमित्रा—भैया!

(महेन्द्र टहलते जा रहे हैं)

संघमित्रा—भैया!

(महेन्द्र फिर भी टहल ही रहे हैं)

संघमित्रा—भैया, मैं!

महेन्द्र—(रुककर) ओ मित्रे!

संघमित्रा—भैया, यह

महेन्द्र—हाँ, यह उद्विग्नता! नहीं, नहीं, यह भिक्षु के उपयुक्त नहीं। कहीं पर कुछ हो, कुछ हो जाय, हमें तो हमेशा शांत रहना है! सम्यक् समाधि, सम्यक् समाधि!

संघमित्रा—इधर दो-तीन दिनों से आपको बहुत ही आकुल देख रही हूँ भैया! ज्योंही आप एकान्त में हुए कि व्याकुलता

महेन्द्र—ओहो, इतनी बारीकी से देखा करती हो तुम मुझे!

संघमित्रा—यहाँ और कौन है, जिसे अपने से बढ़कर देखूँ? भैया ममता मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है न!

महेन्द्र—सही कह रही हो मित्रे! ममता मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है। नहीं तो रक्षिता कुछ करे, कुणाल का कुछ हो जाय, हमें क्या लेना-देना है इन बातों से! (घूमने लगता है)

संघमित्रा—(आतुर होकर) रक्षिता? कुणाल? भैया, क्या आखिर कुछ होकर ही रहा?

महेन्द्र—हाँ, मेरी आशंका सोलह आने सच साबित हुई मेरी बहन! आह कुणाल! कुणाल! (आँखों में आँसू आ जाते हैं)

संघमित्रा—भैया! आपकी आँखों में ये आँसू!

महेन्द्र—हाँ, जिन्दगी में शायद पहली बार ये आँसू निकले हैं मित्रे! कम-से-कम जब से होश हुआ—याद नहीं, कभी रोया होऊँ!

करुणा का स्रोत न जाने कब से अवरुद्ध था। बहुत दिनों पर फूटा है! और जब फूटा है ... ...! आह बहने दो, बहने दो! बहने दो मेरी नन्हीं बहन! (आँसू झर-झरकर गिरने लगते हैं)

संघमित्रा—(व्याकुल होकर) भैया क्या बात है भैया? कुणाल भैया को क्या हुआ? क्या हुआ कुणाल भैया को? (निकट जाकर) बोलते क्यों नहीं? कुणाल भैया को क्या हुआ? उफ् ओह! (फूट पड़ती है)

महेन्द्र—(अपने आँसुओं को रोकते हुए) मित्रे नहीं नहीं। हम दोनों में से एक को तो होश में रहना ही है! हा कुणाल! (गला रुँध जाता है) कुणाल...........

संघमित्रा—कुणाल भैया! कुणाल भैया! उन्हें क्या हुआ भैया! वह कहाँ है भैया? भैया, भैया! (लिपट जाती है)

महेन्द्र—कुणाल भैया को क्या हुआ? हाय रे कुणाल! वज्र गिरा भी, तो कमल-नाल पर! हम, तुम पिताजी, माताजी .. .. सब सस्ते निकल गये! सस्ते निकल गये निकल गये, और सबसे बड़ा दान देना पड़ा उसे, जो हम सबमें सबसे दुर्बल था!

संघमित्रा—दान? क्या दान देना पड़ा कुणाल भैया को? बताइये भैया—बताइये, नहीं तो, मेरी छाती फट जायगी—ओह, ओह! (कलेजे को दोनों हाथों से पकड़ती है)

महेन्द्र—(संघमित्रा को सम्हालते हुए) मित्रे! मित्रे! ठीक नहीं, यह ठीक नहीं, हम सबको कुछ-न-कुछ देना पड़ा है—कुणाल जरा पीछे पड़ गया था इसीलिए उसे सबसे बड़ा दान देना पड़ा!

संघमित्रा—(खीजकर) दान! दान! दान! क्या दान? बताइये, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी भैया, पागल . पागल ... .पागल (विक्षिप्त-सी चिल्लाने लगती है)

महेन्द्र—शान्त बहन, शान्त! तुम इस तरह क्यों रही हो? सोचो, कंचन कैसे होगी! बेचारी. . .उफ्—अन्धे की लाठी!

संघमित्रा—अन्धे की लाठी! कौन अन्धा हुआ भैया? कुणाल भैया . . ..अन्धा! अन्धा! कौन अन्धा?

महेन्द्र—(बात काटकर) हाँ, तुम्हारा कुणाल भैया अन्धा हो गया है!

के नेत्र ! कुणाल भैया की आँखें—वे कितनी सुन्दर थी भैया ! क्या रक्षिता की कुदृष्टि उनपर पड़ी ?

महेन्द्र—'कु' या 'सु'——ये तो मानव अपनी मनोभावना के अनुसार विशेषण लगाता है, मेरी नन्ही बहन ! हम-तुम इसपर व्यर्थ क्यों सिर खपायें ? जानती हो, किसी भी महान यज्ञ में सुन्दरतम की बलि देकर ही पूर्णाहुति की जाती है ? पिताजी ने जो महानतम धर्म-यज्ञ प्रारम्भ किया था: इस बलि के बाद, वह अब पूर्ण हो गया !

संघमित्रा—हाय रे वह यज्ञ, आह री यह बलि !

महेन्द्र—मित्रे, यज्ञ और बलि दोनो में गठबन्धन है। जहाँ यज्ञ, वहाँ बलि। और निरीह मूक पशुओ की जगह, चेतन, उद्बुद्ध मानवो की बलि कही सुन्दर है, श्रेयस्कर है। और उसमें भी कुणाल ऐसे शुद्ध और शुभ्र मानव की सुन्दरतम आँखें पाकर तो बलि भी धन्य हो उठी होगी मित्रे ! उठो मित्रे ! ऐसे भाई को पाकर हम भी अपने को धन्य-धन्य समझें।

संघमित्रा—भैया, भैया ! ओह ! कुणाल भैया. . .

(फिर फूट पड़ती है)

महेन्द्र—मित्रे, कलिंग का प्रायश्चित्त अब पूरा हो गया। हमने जो असंख्य गर्दनें काटकर रक्त बहाया उसका मूल्य हमें आँखो के रक्त से चुकाना पड़ा—सुन्दरतम आँखो के रक्त से ! शुद्ध, शुभ्र, कोमल, निर्मल मानव की सुन्दरतम आँखो के पवित्रतम रक्त से। इतिहास का यह सबसे बड़ा पाठ . . .

संघमित्रा—हाय रे वह पाठ ! आह रे कलिंग ! कलिंग ! कलिंग !

(आँखें मूँद लेती है)

महेन्द्र—मित्रे, कलिंग पर नाराज मत हो। कलिंग स्थान नहीं, एक प्रतीक है;—कलिंग प्रतीक है युद्ध का, हत्या का, मानवता के संहार का ! युग-युग से कलिंग होते रहे हैं, और अभी शायद. . . . .

संघमित्रा—क्या फिर कलिंग होंगे भैया ? क्या फिर कोई कुणाल बनेगा भैया ? कुणाल भैया ! कुणाल भैया ! भैया, भैया, भगवान फिर कहीं कलिंग न बनायें . . . .

महेन्द्र—फिर कलिंग न बने, बहुत ठीक! लेकिन कलिंग न बने, इसके लिए हमे एक नया ससार बनाना होगा, मित्रे! उठो, चलो, हम एक ऐसा ससार बनाये, जहाँ कलिंग न हो, युद्ध न हो, हत्या न हो, सहार न हो। कलिंग, अशोक, सघमित्रा, रक्षिता, कुणाल,——ये सब एक ही घटना-श्रृखला की कड़िया है मित्रे! कुणाल ने नेत्र-दान देकर हमारे, और ससार के नेत्र खोलने की चेष्टा की है। यदि इतने पर भी हम न चेते, तो ससार की रक्षा कोई भगवान भी नही कर सकता, मित्रे! उठो, चलो——आँसू पोछो, प्रयत्न मे लगो। यदि एक-एक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को समझे, उस मे जुट जाय, तो फिर नया ससार बसकर रहेगा——बसकर, बसकर, बसकर रहेगा!

[पटाक्षेप]

गाँव के देवता

[रेडियो रूपक]

गाँव के देवता

पोखन ठाकुर

(दूर से झाझ-करताल के शब्द सुनाइ पडते है—शब्द धीरे-धीरे धीमे होते जाते है और पृष्ठभूमि मे बाते होती है)

गिरिजा—भैया, भैया, ब्रह्म-बाबा के गीत शुरु हो गये। चलो भैया, हम तमाशा देखे—चलो।

शंकर—हाँ, हाँ, गीरू, अभी चला। लेकिन, खाली हाथ चलोगी ब्रह्मबाबा के स्थान मे। जाओ, तुम माँ से अक्षत-सुपारी माँग लाओ; मै अभी बाडी में से कुछ फूल तोड लाता हूँ।

गिरिजा—लेकिन देर न करना भैया। कही ऐसा न हो कि हम यही रहे और वहाँ ब्रह्मबाबा आवे और चले जावे।

शंकर—आवे और चले जावे। तुम निरी पगली है गीरू! अरी, ब्रह्मबाबा न आते है, न जाते है। वह तो हमेशा उस पीपल के पेड पर रहकर हमलोगो की रक्षा करते है। जब हमारे गांव में हैजा-प्लेग आता है, वह दूर भगाते है उसे। जब वर्षा के अभाव में हमारा खेत सूखता है, वह पानी बरसा देते है....

गिरिजा—और, भैया, उस दिन जब तुम बीमार पड़े थे ब्रह्म-बाबा ने ही तो तुम्हे अच्छा किया—दीदी कह रही थी।

शंकर—और उस दिन जब तुम मेले मे खो गई थी, किसने तुम्हे माँ के पास ला दिया। वह जो बूढ़ा साधू था न—दीदी कहती थी, ब्रह्मबाबा ही उस रूप मे आये थे। हम पर जब कोई सकट आता है, ब्रह्मबाबा हमारी सहायता के लिए नाना रूप धर कर दौड़ पड़ते है।

गिरिजा—उस साधु ने मुझे मिठाइयाँ खिलाई थी भैया! उसका चेहरा कैसा दिप था!

शंकर—देवता के चेहरे वैसे ही दिपते होते है, गीरू!

(झाझ-करताल के शब्द फिर तेज हो जाते है और जोर से डाक देकर कोई बोल उठता है—"हे! हे! दुहाई पोखन ठाकुर ब्रह्म की!")

शंकर—तो क्या हमारे ब्रह्म बाबा कोई आदमी थे चाचाजी?

माधोसिंह—हाँ आदमी ही थे! और हमी लोग के पुरखो मे से थे। तभी तो हम पर इतनी कृपा रखते है वह!

शंकर—आदमी थे?

गिरिजा—क्या सचमुच वह आदमी ही थे चाचाजी?

माधोसिंह—हाँ, हाँ वह आदमी थे! हाड-माँस के आदमी। हमी लोगो की तरह जमीन पर चलनेवाले आदमी—दो पैर के, दो हाथ के। किन्तु, आदमी होकर वह आदमी से कुछ पृथक थे, तभी वह देवता हो गये!

शंकर—आदमी से देवता हो गये?

गिरिजा—अरे?

माधोसिंह—अचरज की बात है, किन्तु सही बात यही है बेटी! यह जो हमारा गाँव है, वह पहले जगल था। हमारे पुरखे पच्छिम से आये गायो का एक बड़ा झुड लिये! यहाँ अच्छी चरागाह थी, यह छोटी-सी नदी थी। बस गये यहाँ। तब तक गाँव छोटा ही था—कि पोखन-ठाकुर का अवतार हुआ!

शंकर—अवतार ! ! अवतार तो भगवान के होते हैं चाचा जी !

माधोसिंह—हर बडे आदमी मे देवत्व का अश होता है, बेटा ! पोखन ठाकुर बचपन से ही कुछ अजब स्वभाव के थे। बडे सूधे, बडे सरल ! गायो को ले जाकर दिन भर जगल मे चराया करते, गाये चरती और आप पेड पर चढकर वशी बजाया करते !

गिरिजा—चाचाजी, तभी दीदी कहती थी; ब्रह्मबाबा अब भी कभी-कभी आधी रात को वशी बजाया करते है, वह वशी बजाते हैं।

(वशी का स्वर सुनाई पडता है)

शंकर—(डर के स्वर मे) चाचा जी यह वशी . . .

माधोसिंह—हाँ, हाँ, बडी रात हो गई न ! किन्तु इस वशी से डरो मत बच्चो ! यह वशी हमारी रक्षा की वशी है ! मालूम होता है, हमारी आज की पूजा से ब्रह्मबाबा बहुत प्रसन्न हुए हैं !

गिरिजा—चाचाजी ! मुझे भी डर ? . . .

माधोसिंह—तू तो पूरी डरपोक है गिरिजा ! नजदीक आ, या माँ के पास जा ! शकर, तुम और सुनना चाहते हो ?

शकर—डर तो मै भी गया था। चाचाजी ! लेकिन, किस्सा सुना ही दीजिय ! बडी विचित्र कहानी . .

माधोसिंह—हाँ, हाँ देवताओ की कहानियाँ विचित्र होती ही है ! तो, हमारे पोखनबाबा धीरे-धीरे जवान हुए ! देवताओ की तरह का ही शरीर था उनका। पाँच-पाँच हाथ के गभरू जवान ! साड ऐसी ऊँची गरदन, भैसे के पुट्ठे ऐसी चौडी छाती; जामुन के पेड मे धक्के दे देते, तो सारे पके जामुन जमीन पर पथार लग जाते थे।

गिरिजा—आह, तब मै नही हुई। नही तो ब्रह्मबाबा से जामुन गिरवा कर खूब खाती।

शंकर—तुझे तो हमेशा भूख लगी रहती है गिरिजा। हाँ, तो चाचाजी, . .

माधोसिंह—पोखन बाबा बडे हुए तो लोगो ने शादी की चर्चा चलाई, लेकिन उन्होने नाही कर दी ! उन्हे अब कुश्ती लडने, मुग-दर भाजने और खेत नापने मे ही फुर्सत कहाँ थी ? गाँव के ख्वरे के इन सारे खतो को उन्ही ने ही पहले पहल पैदावार के लायक

वनाया था शकर। लेकिन, गाय से उनका प्रेम अन्त तक न छूटा। दोपहर तक ये सारे काम होते, दोपहर से शाम तक गाये चराते। एक दिन सध्या समय वह गाये लिये आ रहे थे कि एक अजीव गुर्राहट सुनाई दी.......

(वाघ की गुर्राहट की आवाज़—फिर दूर पर हल्ला—आदमियो—और पशुओ के भागने के शव्द—लोग चिल्लाते है "वाघ—वाघ")

एक व्यक्ति—क्या कहा? पोखन ठाकुर वाघ से लड रहे है।

दूसरा व्यक्ति—पोखन ठाकुर वाघ से लड रहे है।

तीसरा व्यक्ति—वाघ से लड रहे है, पोखन ठाकुर . . .

(वाघ की गुर्राहट धम-धम की आवाज़)

माधोसिह—और थोडी देर के वाद लोग वहाँ पहुँचे तो देखते है, वाघ का सिर भुर्ता-भुर्ता हो गया है और पोखन ठाकुर लहू-लुहान खडे मुस्कुरा रहे है।

शंकर—अव तो सचमुच डर लग रहा है चाचाजी।

माधोसिह—लेकिन देवता की कहानी अधूरी नही छोडी जाती है, वच्चो! पोखन-वावा का उससे भी वडा करतव तो तव देखा गया जव हमारे इस गाँव की सीमा को लेकर झगडा ठन गया।

शंकर—गाँव की सीमा?

माधोसिह—हाँ जी। गाँव की सीमा! जव यह गाँव वस चुका, तो पीछे से वगल के जगल में एक और वस्ती वसी। उस वस्ती और हमारे गाँव के वीच मे क्या सीमा रहे, इसको लेकर तकरार मची। पच ने फैसला दिया, तो भी उन लोगो ने नही माना। एक दिन वे लोग सीमा पर आ डटे—भाले, गँडासे और लाठियो से लैस होकर! उनकी तायदाद वडी थी। हम लोगो के पुरखे डर गए कि पोखन-वावा का ब्रह्म जागा—उन्होने अपनी लाठी निकाली और

पोखन वावा की माँ—वेटा, वेटा, अकेले मत जाओ, वेटा। सुना है, उन्होने कितने पहलवान वुलाए है।

पोखन वावा—माँ, चुप रहो। यह हो नहीं सकता कि कोई सीमा पर चढ आवे और हम घर मे वैठे रहे। और पहलवान! पहलवान ही अपनी माँ का दूध नही पीते है, अम्मा।

गांव का एक बुजुर्ग—रहने दो पोखन, अभी हम टाल जायँ। हम भी तैयारी कर लेगे, तो . ...

पोखन वावा—नही नही। जव दुश्मन ने चुनौती दे दी, तो रुकना कायरता है। आपलोग मेरे पीछे आवे, मै चला ....

माँ—वेटा, वेटा। मै तुम्हे नही जाने दूँगी, वेटा!

माधोसिंह—कहते है, माँने उनकी वाँह पकड ली। माँ को वाँह से टाँगे हुए पोखन वावा आगे वढे। वेटे की इस रुद्रमूर्ति के सामने माँ को हार माननी पडी।

(माँ के रोने की आवाज़)

पोखन—पहला वार तुम करो।

एक पहलवान—पोखन, आज नही वचोगे, लौट जाओ। माँ को निपूती मत वनाओ।

पोखन—तुम अपनी जोरू को विधवा मत वनाओ। जाओ उसकी चूडी पहनकर उस वेचारी के सिन्दूर की रक्षा करो।

पहलवान—वढ के वोल रहे हो पोखन।

पोखन—वढ के वार करो या भागो।

(लाठियो का खटाखट)

शंकर—उफ! वडी लडाई हुई होगी चाचाजी।

गिरिजा—हमारे पोखनवावा क्या वही मारे गए चाचाजी?

माधोसिंह—नही। दुश्मनो के वारो को उन्होने वचा लिया और फिर वार-पर-वार करने लगे—एक गिरा ,दूसरा गिरा, फिर तो भगदड मच गई। हमारी सीमा रह गई! हमारी इज्जत रह गई। हम उन्ही की दी हुई जमीन को आज तक भोग रहे है। प्रणाम है पोखन वावा।

गिरिजा—प्रणाम है, ब्रह्मवावा।

शंकर—प्रणाम है, पोखन वावा।

माधोसिंह—किन्तु, जैसी शानदार थी हमारे पोखन वावा की जिन्दगी, उससे भी शानदार तो हुई उनकी मृत्यु।

गिरिजा—किस तरह उनकी मृत्यु हुई चाचाजी।

माधोसिंह—उसे मृत्यु कहना भी अपराध होगा गोरू। वह मृत्यु नहीं शहादत थी—शहादत। एक दिन आधीरात को गाँव में आग लगी। जाड़े की रात थी। सभी गायें गोठों में बँधी थीं। लोग तो भगे, किन्तु बेचारी गायें! वे खूँटों में बँधी छटपट कर रही थीं; रँभा रही थीं, चिल्ला रही थीं।

एक स्वर—हाय, हाय, गायें जल रही हैं।

दूसरा स्वर—उफ्, उफ्, कौन भीतर जाकर उन्हें खोले।

तीसरा स्वर—इन लपटों में कौन कूद सकेगा?

माधोसिंह—लपटों में कौन कूदेगा? वह देखो पोखन बाबा। पोखनबाबा ने बदन से उतार कर कपड़े फेंक दिए। कमर में सिर्फ लँगोट, और शरीर को कंबल से लपेट कर एक हाथ में बंधन काटने का हँसुआ लिए हुए, लपटों में कूद पड़े।

(हाय-हाय- -हा-हा- हा- हा-की आवाज)

माधोसिंह—उसके बाद लोगों ने देखा, एक-एक गाय बंधन कट जाने पर गोठ से निकल कर भागी आ रही है। एक-एक कर सारी गायें निकलीं—किन्तु!

(हाय-हाय! हाय-हाय की आवाज)

शंकर—क्या पोखन बाबा जल मरे?

गिरिजा—चाचाजी, चाचाजी! पोखनबाबा को क्या हुआ चाचाजी?

माधोसिंह—वह शहीद हो गए—अमर शहीद। जब आग बुझी, लोगों ने देखा उनकी अधजली लाश एक खूँटे के निकट है। उनका यह बलिदान उनकी यह वीरता! हमारे पुरखों ने उनकी स्मृति में यह पीपल का पेड़ रोपा। वह प्रायः उन्हें दिखाई पड़ते थे। हमलोग पापी हो गए हैं, इसलिए हम उनके दर्शन नहीं कर पाते। किन्तु जब कभी संकट आता है......

(झांझ और करताल के शब्द)

गिरिजा—भैया भैया बरम बाबा के गीत शुरू हो गए। चलो भैया हम तमाशा देखें।

शंकर—चाचाजी ने उस दिन जो कहानी कही थी उसके बाद भी इसे तमाशा समझती हो गिरिजा। चलो अपने गाँव के अमर शहीद

के नाम पर हम श्रद्धांजलि अर्पित करें। अमर शहीद के नाम पर। गाँव के त्राता के नाम पर!

गिरिजा—ठीक भैया, ठीक। मैं अभी अक्षत-रोली, चंदन, आरती लाई। आप फुलवाड़ी से फूल लेते आवें।

(झाझ-करताल के शब्द फिर एकबार तेज होकर विलीन हो जाते हैं)

बिकू बाबू

(चार-पाँच आदमियों की एक ही साथ आवाज़—"ॐ विष्णवे स्वाहा, नमोश्री विष्णवे; ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, नमो श्री ब्रह्मणे"—इन मंत्रों को पढ़कर जैसे वे आहुतियाँ दे रहे हों!)

शंकर—उमा, उमा, जल्दी कर उमा! देख, देख, आहुति शुरू हो गई। क्या प्रसाद नहीं पायगी?

उमा—हाँ, हाँ, आज पूर्णिमा न है भैया? हर पूर्णिमा को यह अच्छा प्रसाद मिल जाया करता है हमें—खड़े दूध की खीर!

शंकर—खीर की कल्पना से ही तेरी जीभ पानी-पानी हो गई।

उमा—भैया, खीर है ही ऐसी चीज़। उस पर भी बिकू-बाबू पर चढ़ी हुई खीर!—नया-नया मिट्टी का बर्तन—कपिल-गैया का गाढ़ा-गाढ़ा दूध। बासमती का चावल—जुही-सा उजला, चंदन-सा महमह। फिर गोयठे की धीमी-धीमी आग में पकी यह खीर—कितनी मीठी कैसी सुगन्ध-भरी, कितनी स्वाद-भरी। भैया बिकू-बाबू के प्रसाद की यह खीर खाने को जीभ पर पानी न आए तो समझिए वह जीभ ही नहीं! क्या आप नहीं ललचते हैं भैया, इस खीर के लिए?

शंकर—देख, देवता के प्रसाद पर यों लार न टपकाया कर। पहले उन्हें चढ़ा लेने दे—सब देवता पायेंगे, हम तो सीठी पाते हैं।

उमा—और सीठी जब इतनी मीठी है, तो....

शंकर—फिर कहता हूँ, देवता के प्रसाद पर जो मन लार टपकाया कर....... समझी?

उमा—आपने कहा तो मैंने मान लिया! दुहाई विकू-बाबू की, कसूर हुआ हो तो माफ करना! अच्छा, भैया एक बात। क्या विकू बाबू भी पोखन ठाकुर की तरह कोई आदमी ही थे?

शंकर—अच्छी याद दिलाई तूने, आज शाम को चाचाजी से पूछेंगे। किन्तु, सुनो उमी, मालूम होता है, अब होम समाप्त हो रहा है, चलो जल्दी चले।

(चार-पाँच आदमियो की एक ही साथ आवाज़—ॐ विष्णवे स्वाहा, नमोश्री विष्णवे आदि)

× × × ×

चाचा—हाँ, विकू-बाबू भी आदमी ही थे हमारे बाबा पोखन ठाकुर की तरह। पोखन ठाकुर तो हमारे गाँव के थे, किन्तु विकू-बाबू तो हमारे खान्दान के—हमारे अपने खास पुरखे।

शंकर—वह कब हुए थे, चाचाजी?

चाचा—हमलोगो की सातवी पीढी मे—वह हमारे बाबा के बाबा के बाबा के बाबूजी के बडे भाई थे।

उमा—उनकी अपनी औलाद से हममे से कौन है चाचाजी?

चाचा—उनकी अपनी औलाद कोई थी ही नही! एक बात देखोगी बिटिया, हमारे गाँव के जितने देवता है, वे, प्राय सब-के-सब, ब्रह्मचारी रहे है—कोई अपना बाल-बच्चा बाबू कहनेवाला नही था, इसीलिए गाँव-भर के बच्चे उन्हे बाबू कहते थे और कब न चल बसे, आज तक वह बाबू कहला रहे है—अब सारे गाँव के बाबू है वह!

शंकर—शादी नही की थी? क्यो नही की थी? क्या वह साधु हो गए थे?

चाचा—साधु का मतलब अगर घर छोड़कर वैरागी या सन्यासी बन जाने से है, तो उन्होने घर कभी नही छोडा। किन्तु घर रहकर भी वह साधु थे! बडे सूधे-सादे, बडा नेक स्वभाव। घर-गृहस्थी मे जो समय बचता, उसे पूजा-पाठ मे लगाते। कभी किसी को दुर्वचन न कहा, कभी किसी ने उन्हे क्रोध मे नही देखा। शान्त, निरीह! तुम्हे सुनकर अचरज होगा, बडे-बडे बिगडैले भैसे उनकी बोली सुनकर ही खडे हो जाते थे। अच्छा, कभी तुमने भैस की लडाई देखी है शंकर!

उमा—भैंस की लड़ाई ? वडी भयानक होती होगी चाचाजी ! क्यो भैया, आपने कभी देखा है ?

शंकर—नही रे ! कैसी लड़ाई होती है चाचाजी !

चाचा—सचमुच वडी भयानक, वडी भयानक ! ये भैंसे पालतू तो हो गए है, लेकिन अभी इनके मन से जगलीपन नही गया। जगल मे तो ये वाघो से भी भिड जाते है और उसे टुकडे-टुकडे कर देते है—जगली भैंसो से भयानक जानवर शायद ही कोई दूसरा हो !

शंकर—अरे रे, चाचाजी, वे वाघ से भिड जाते है ?

चाचा—हाँ, रे ! भैंसो का यह भयानक रूप तव देखने को मिलता है जव दो भैंसे लड़ जाते हैं। एक दूसरे को कोसो तक खदेडता है और तवतक चैन नही लेता है जव तक एक दूसरे की अँतड़ियाँ न निकाल दे।

उमा—उफ़, उफ़, चाचाजी, चाचाजी, सुनकर ही डर लगता है !

चाचा—एक वार ऐसे ही दो भैंसो मे लडाई हो रही थी। दोनो लड रहे थे—उनकी सींगो की ठक, ठक—उनके नयुनो से निकली राक्षस ऐसी साँसे—उनकी उठापटक—लोग दूर पर खडे देख रहे थे कि इतने मे लोगो ने देखा, एक भैंसा शायद हार कर भागा लोगो की तरफ—अपनी जान वचाने को लोगो मे हाहाकार मच गया, भगदड मच गई ! "भागो, भागो"—"वापरे, दैया रे" का शोर मचा था। सव भगे। किन्तु विकू-वावू खडे रहे !

उमा—खडे रहे !

शंकर—खडे रह गये !

चाचा—हाँ, खडे रह गए। अगला भैंसा काफी आगे था, वह विकू-वावू को सामने देख कर कुछ कतरिया गया और उनके पीछे आकर खडा होगया—जैसे उसे शरणस्थली मिल गई हो। पिछला भैंसा वेतहाशा आ रहा था। ज्यो ही निकट आया, लोगो मे हाहाकार मच गया। किन्तु, विकू-वावू खडे है, मुस्कुराते हुए।

उनके मुँह से निकला—"रुको ! रुको महेसर !!"

"रुको, रुको महेसर !" यह क्या, भैंसे के अगले पैर अनायास ऐसे रुके कि मालूम हुआ, पीछे से वह उलट जायगा। फिर वह सम्हल कर खडा हुआ। अव दोनो तरफ दो भैंसे है और वीच में विकू-वावू !

भैंसो की नाक मे जोरो की साँसे चल रही है—जैसे दो भाथियाँ चल रही हो। दोनो भैंसे एक दूसरे को देख रहे है—एक मानो कह रहा हो, अब छिप कहाँ रहे हो? दूसरा कह रहा हो—अब तो मैं शरण मे आ गया, तुम करोगे क्या?

अब बिकू-बाबू आगे बढे और चढाई करने वाले भैंस के निकट पहुँचकर उसकी गरदन सहलाते हुए कहने लगे—"महेसर, महेसर, यह क्या महेसर? भगे हुए पर वार कर रहे हो? छी, छी, छी! यह तो तुम्हारी आदत नही थी!" और वह भैंसे को यो ही सहलाते ए अपने घर ले आए। तब से वह भैंसा अपने ही गाँव मे रहा। हाँ, जब बिकू-बाबू चल बसे, वह भी कहाँ चला गया, लोगो को पता न लगा!

शंकर—चाचाजी, चाचाजी, इस कहानी पर तो विश्वास नही होता!

चाचा—बडे आदमियो की जिन्दगी मे ऐसी चीजे होती है, जो हम साधारण आदमियो के दिमाग मे नही आती! सुना नही, एक बार गाँधीजी की देह पर से एक मणिधर नाग ससर कर चला गया था!

उमा—शायद इसीलिए ऐसे बडे आदमियो को हम देवता कहने लगते है, चाचा?

चाचा—हाँ, हाँ, बहुत सही कह रही बेटी! अब तुम लोग जाओ, मुझे खेत मे काम करने जाना है। फिर कभी उनकी बाते सुनाऊँगा।

शंकर—अच्छा चाचाजी!

उमा—हाँ, सुनाइयेगा जरूर चाचाजी!

× × × ×

उमा—चाचाजी, बिकू-बाब के बारे मे और कुछ बताइये न?

चाचा—अच्छा, लेकिन शंकर कहाँ है? उसे भी बुलाओ न?

उमा—भैया, भैया! चाचाजी बुला रहे है, भैया! बिकू-बाबू की कहानी सुनिए!

चाचा—अभी आया, उमा!

शंकर—हाँ, तो कहिए चाचाजी! हमारे बिकू-बाबू!

चाचा—कहा था न? विकू-वावू वडे सरल, वहुत सूधे आदमी; विल्कुल ही निरीह थे। कभी किसी पर हाथ न उठाया—कभी किसी जीव की हत्या न की। उनके सामने कोई साँप को भी नही मार सकता था। और, वडे अचरज की वात—वडे-वडे विषधर उनके सामने फन झुका देते थे। कहते है, एक वार हमारे उस दलान से एक वडा पुराना गेहुँअन निकला—इतना पुराना कि वह काला पड गया था, उसकी दुम पूरी-की-पूरी झड गई थी।

"साँप, साँप"! "साँप, साँप"!

इस चिल्लाहट को सुन कर विकू-वावू दालान से वाहर हुए। देखते है, वह साँप गडेली मारे, फन काढे वैठा है और लोग उसे घेरे हुए है। रह-रह कर वह फुफकारे मार रहा है। उसकी फुफकार से ही भगदड मच जाती। किन्तु वह निश्चिंत वैठा है, मानो वह खेलवाड कर रहा हो। लेकिन, शायद वह भूल गया था कि उससे भी खेलवाड करनेवाला कोई इस दुनिया मे है। विकू-वावू आए।

वोले—"ओहो, तुम? नगेसर! अरे, यह क्या नगेसर!"

विकू-वावू कहते हुए उस विषधर के निकट! वह जोरो से फुफकारा! विकू-वावू अट्टहास कर उठे—हा हा हा हा!

"नगेसर, अरे तू मुझसे दिल्लगी करने चला है। किन्तु तेरा रग-रग पहचानता हूँ नगेसर! चल, चल, तुझे तेरी जगह पर पहुँचा आऊँ!"

अव नागराज का फण नत है और विकू-वावू उनके निकट पहुँच-कर उसकी गरदन पकड लेते है! वह लटक रहा है, जैसे वह काले लत्ते का वना गुडिया-साँप हो!

उमा—चाचाजी, चाचाजी! यह तो अजीव वात मालूम पडती है—सचमुच वह अलौकिक पुरुष थे!

चाचा—उमा, वह खूँखार जीवो के वारे मे, कहते थे—"ये लोग हमारे पूर्व जन्म के साथी है। वेचारो ने गलतियाँ की थी, उससे उन योनियो मे इन्हे जन्म लेना पडा है। इसलिए हमें सदा सुकर्म ही करना चाहिए। वुरे कर्म इसी जन्म मे ही नही, अगले जन्मो तक हमें खदेड मारते है, उमा।

× × × ×

(चार-पाँच आदियो द्वारा किए गए फिर हवन और आहुतियो के मत्र सुनाई पडते है—"ॐ विष्णवे स्वाहा, नमोश्री विष्णवे! ॐ श्री ब्रह्मणे स्वाहा, नमो श्री ब्रह्मणे!")

उमा—भैया, भैया, पूर्णिमा आई—फिर खडे दूध की खीर!

शंकर—और फिर चाचाजी से विकू-बाबू की कहानी!

उमा—हाँ, हाँ! चाचाजी, विकू-बाव के बारे मे कुछ और बताइये चाचाजी!

चाचा—विकू-बाबू को डर तो छू नही गया था। दया और करुणा भी उनमे कूट-कूट भरी थी। गाँव मे कोई बीमार पडे उसकी सेवा मे हाजिर! उसके पास जाते, उसे दवा देते, उसकी शुश्रूषा करते—अरे, यदि कोई उसके घर मे नही हुआ, तो उसकी गदगी साफ करने मे नही हिचकते!

शंकर—अपने हाथो से ही उनकी गदगी साफ कर देते!

चाचा—हाँ, रे! और बीमार आदमी चमार ही क्यो न हो। एक बार विकू-बाबू रात मे कही से आ रहे थे कि उन्होने पुकार सुनी—

"आह! पानी! आह पानी! पानी! पानी!" वह झटपट घर के भीतर घुसे। देखा रघुआ चमार बीमार होकर पडा है।

"क्या है रघु? ओह, तुम्हे यह क्या हुआ है?"

"पानी! पानी! हाय, पानी!"

विकू-बाबू दौडते हुए घर पहुँचे, पानी लाए, उसे पिलाया। उसे हैजा हो गया था, लोगो ने मना किया, छूत लग जायगी, वहाँ मत रहो—

"विकू-बाबू, विकू-बाबू; हैजा है हैजा! भगवती माई से खेलवाड मत कीजिए"

"भगवती माई से खेलवाड! बच्चा माँ से न खेलवाड करेगा, तो करेगा किनसे? किन्तु यह हैजा भगवती माई नही है, यह गदगी की चुडैल का करतब है! सफाई से रहो, फिर यह चुडैल पास न फटके!"

चाचा—कहा था न ? बिकू-बाबू बडे सरल, बहुत सूधे आदमी; बिल्कुल ही निरीह थे। कभी किसी पर हाथ न उठाया—कभी किसी जीव की हत्या न की। उनके सामने कोई साँप को भी नही मार सकता था। और, बडे अचरज की बात—बडे-बडे विषधर उनके सामने फन झुका देते थे। कहते है, एक बार हमारे उस दलान से एक बडा पुराना गेहुँअन निकला—इतना पुराना कि वह काला पड गया था, उसकी दुम पूरी-की-पूरी झड गई थी।

"साँप, साँप"! "साँप, साँप"!

इस चिल्लाहट को सुन कर बिकू-बाबू दालान से बाहर हुए। देखते है, वह साँप गड़ली मारे, फन काढे बैठा है और लोग उसे घेरे हुए है। रह-रह कर वह फुफकारे मार रहा है। उसकी फुफकार से ही भगदड़ मच जाती। किन्तु वह निश्चिंत बैठा है, मानो वह खेलवाड़ कर रहा हो। लेकिन, शायद वह भूल गया था कि उससे भी खेलवाड करनेवाला कोई इस दुनिया मे है। बिकू-बाबू आए।

बोले—"ओहो, तुम ? नगेसर ! अरे, यह क्या नगेसर !"

बिकू-बाबू कहते हुए उस विषधर के निकट ! वह जोरो से फुफकारा ! बिकू-बाबू अट्टहास कर उठे—हा हा हा हा !

"नगेसर, अरे तू मुझसे दिल्लगी करने चला है। किन्तु तेरा रग-रग पहचानता हूँ नगेसर ! चल, चल, तुझे तेरी जगह पर पहुँचा आऊँ!"

अब नागराज का फण नत है और बिकू-बाबू उसके निकट पहुँच-कर उसकी गरदन पकड लेते है ! वह लटक रहा है, जैसे वह काले लत्ते का बना गुडिया-साँप हो !

उमा—चाचाजी, चाचाजी ! यह तो अजीब बात मालूम पडती है—सचमुच वह अलौकिक पुरुष थे !

चाचा—उमा, वह खूँखार जीवो के बारे में, कहते थे—"ये लोग हमारे पूर्व जन्म के साथी है। बेचारो ने गलतियाँ की थी, इससे उन योनियो में इन्हे जन्म लेना पडा है। इसलिए हमें सदा सुकर्म ही करना चाहिए। बुरे करम इसी जन्म में ही नही, अगले जन्मो तक हमें खेद मारते है, उमा।

× × × ×

दूसरा—विकू-बाबू, विकू-बाबू ! आपके बिना हम गरीबो की ओर कौन ध्यान देगा विकू-बाबू !

एक बुढिया तो उनके चरणो से लिपट गई—"विकू-बाबू, हम आपको जाने नही देगे विकू-बाबू ! मेरे बच्चे को आपने ही बचाया था ? अब मुझे भी साथ लेते चलिए !"

लेकिन रोने-धोने से कही जानेवाला रुकता है। विकू-बाबू ने एक बार आँखे खोली ! बोल न सके—हाँ, हाथो को इस तरह उठाया, मानो लोगो को अभय दे रहे हो !

शंकर—तो इसी से पूर्णिमा को यह हवन होता है उनके नाम पर, 'क्यो चाचाजी !'

उमा—और, चूँकि खीर खाकर अन्तिम प्रस्थान किया था, इसके लिए खीर का प्रसाद चढता है !

चाचा—बहुत ही सही कहा तुम लोगो ने ! यह हवन, यह प्रसाद, सारे गाँव को, विशेषत हमारे वश को अनेको सकटो से बचाता आया है !

(धीमे स्वर मे हवन के मत्र की आवाज़)

शंकर—शायद हवन पूरा हो गया चाचाजी !

उमा—तब चलो भैया, हम प्रसाद .....

शंकर—खीर, खीर, खीर ! तुम्हारा ध्यान तो सिर्फ खीर पर रहता है उमा !

चाचा—हाँ, हाँ, बेटी, सिर्फ प्रसाद पर ही ध्यान नही रखना। विकू-बाबू के जीवन से हमे शिक्षा भी लेनी है। हम लोग यदि उनके पथ पर चले, तो हममे से हर आदमी देवी-देवता बन जा सकते है। प्रणाम करो उन्हे बेटी !

उमा—प्रणाम विकू-बाबू !

शंकर—प्रणाम विकू-बाबू !

—०—

और वही हुआ। विकू-वावू ने रघुआ को चगा कर ही लिया—यद्यपि इसके लिए उन्हे कई रातो जागना पडा।

उमा—ओहो, कितने दयावान थे हमारे विन्दू-वावू!

चाचा—उनकी करुणा की हद तो तव हो गई, जब गाँव मे एक आदमी को कुष्ठ हो गया, तो उसकी जिन्दगी भर-सेवा करते रहे।

शंकर—कुष्ट, कोढ! चाचाजी, चाचाजी, कोढियो को तो देखते ही मेरी आत्मा काँप उठती है ... ..

चाचा—किसकी नही काँपती है, शकर! किन्तु विकू-वावू के नजदीक तो वह सव से प्यारा, जो दूसरो के लिए सबसे घिनावन! उस कोढी के घाव धोते, पीव पोछते, उस पर चदन लेप करते और जब वह मरा तो अपने कधो पर उसे नदी घाट तक ले आये।

उमा—ओह, ओह, चाचाजी! विकू-वावू सचमुच देवता थे!

शंकर—चाचाजी, मै कहूँ! जव वह जीवित थे, तभी देवता हो गए थे—मरके तो देवता वहुत लोग होते है!

चाचा—वहुत सही कहा तुमने बेटा। और वह मरे भी देवता ही की तरह शकर! वूढे हो चले थे, किन्तु काफी चलते-फिरते! ए दिन घर मे जाकर कहा—मेरे लिए खीर वनाओ। यही स दूध की खीर। खीर वनी। खूव सराह-सराह कर खाया। खाक जरा लेटे, फिर खेतो की ओर गए और खलिहान मे पहुँचते-पहुँच लोगो से कहा—

मै जा रहा हूँ—आज पूर्णिमा है न?

लोग चिल्ला पडे—

'हाँ, हाँ, पूर्णिमा है—आश्विन की पूर्णिमा! किन्तु यह क्या कह रहे है आप?"

"जो कह रहा हूँ, सही कह रहा हूँ! जरा पुआल डाल दो और उस पर कुश की चटाई! मै चला।"

कुश की चटाई डाली गई। विकू-वावू उत्तर दिशा सिर करके लेट गए। उनकी आँखें झिपने लगीं। लोग रोने लगे।

एक—विकू-वावू, विकू-वावू! आपके बिना यह गाँव सूना हो जायगा, विकू-वावू!

नया समाज

पहला दृश्य

पर्दा उठते ही एक करुण दृश्यावली आँखो को नम कर देती है। मच की एक ओर से एक बूढा किसान दुबला-पतला, अस्थिककाल, कमर मे सिर्फ लगोटी लगाये, कधे पर कुदाल रखे, रग-मच पर आता है। उसकी वगल मे नगधडग एक छोटा-सा वच्चा है। एक मुस्तडा आदमी हाथ मे लाठी लिये उसके पीछे है। वह किसान को धक्के देता है, घूँसो से पीटता है। वच्चा चीखता है। वच्चे को झटका देकर मच की वगल मे फेक देता है। वच्चे का चित्कार सुनाई पडता है। वूढा किसान उस मुस्तडे की ओर चिनगारियाँ भरी आँखो से देखता है। मुस्तडा आदमी उसके सिर पर एक लाठी जमाता है। सिर को हाथो से पकडे आह! ओह! करता वह मच की वगल से निकल जाता है। मुस्तडा आदमी मूँछो पर ताव देता मच की दूसरी ओर से वाहर होता है।

मच की दूसरी ओर से एक फटी हाफकमीज पहने एक नौजवान मजदूर रुखा-सूखा चेहरा लिये मच पर आता है। उसकी आँखें धँसी है उसकी कमर झुकी है। उसके पीछे खाकी कोट-पेंट लगाये मिल का जमादार है। अपनी छडी से खोदता, ठेलता वह उस मजदूर को लिये जा रहा है। उसके पीछे मजदूर की नवयुवती पत्नी है, फटी-चिटी साडी पहने। उसके हाथ मे टूटी टोकरी है। वह लडखडाती थहराती, उसासे लेती, उनके पीछे-पीछे जाती है। तीनो मच की पहली ओर से निकल जाते है।

विनय—खाओ-पीओ, कुछ मीठी गप करो! कैलाश, तुम खाने-पीने की बात इसलिए करते हो कि तुम्हारे पास इसकी प्रचुरता है किन्तु देश मे ऐसे कितने सौभाग्यशाली है, जो अच्छी तरह खा-पी सके। और, जिनके पेट मे भूख का राक्षस खाँव-खाँव करता है, उनके दिमाग मे मीठी गप आ नही सकती है, कैलाश।

कैलाश—फिर तुममे हीन भावना आई विनय। हमेशा यह क्या सोचा करते हो कि तुम गरीब हो? अरे यार, युनिवर्सिटी के सबसे अच्छे लडके हो तुम, एम० ए० हुए कि प्रोफेसर, अफसर जो चाहो बन जाओ। फिर तो मौज-ही-मौज!

विनय—मौज-ही-मौज! मालूम होता है जैसे दुनिया मे मौज के सिवा कुछ है ही नही!

कैलाश—यार, है क्यो नही? किन्तु और चीजे छाँछ है, और मौज है मक्खन! अपना सिद्धान्त है—मक्खन खाओ, छाँछ को फेंको।

विनय—और मक्खन सबके सामने धरा पडा है न? कैलाश, जब-जब तुमसे बाते करता हूँ, इच्छा होती है, इतना बल पाऊँ कि इस समाज को जल्द-से-जल्द चूर-चूर कर डालूँ और उसकी जगह पर एक ऐसा समाज बनाऊँ जहाँ कैलाश की तरह के पढे-लिखे समझदार लडको को इस तरह बुद्धिहीन नही बन जाना पडे। कैलाश, आज के समाज मे कोई मौज कर नही सकता!

कैलाश—वाह यार, वाह! कैसी अनोखी सूझ है तुम्हारी। आज के समाज मे कोई मौज कर नही सकता? तो हम लोग यह क्या कर रहे है?

विनय—जिसे तुम मक्खन समझते हो, वह प्राणनाशक कीटाणुओ का लोदा है—हाँ प्राणनाशक कीटाणुओ का लोदा जो तुम्हारी जीवनी शक्ति खाया करता है! तुम मौज नही करते मौज के नाम पर आत्मघात कर रहे हो! तुम देख नही रहे, सर्वनाश तुम्हारे सामने खड़ा है! (गभीर बन जाता है)

कैलाश—सर्वनाश! विनय, विनय, मै बार-बार कहता हूँ मुझे ऐसे शब्दो से मत डराया करो। सचमुच जब तुम भवो पर त्योरी डालकर, चेहरे को गम्भीर बनाकर, एक अजीब संजीदा आवाज में कहते हो—'सर्वनाश तुम्हारे सामने खडा है'; तो सच कहता हूँ मालूम होता है, कोई राक्षस सामने खडा हो गया! उफ!

मंच की पहली ओर से एक पढा-लिखा वेकार नौजवान आता है। कोट-पैंट-टाई सव है, किन्तु सव गदे, जगह-जगह पैवद। उसके पीछे उसकी पत्नी है—तीन वच्चो को साथ लिये। पत्नी और वच्चो के पहनावे भी गदे और अवतर। सवसे पीछे एक वुढिया और एक वुड्ढा। इन दोनो की आँखो से आँसू आ रहे है। पढा-लिखा वेकार नौजवान करुण दृष्टि से कभी दर्शको की ओर कभी वाल-वच्चो की ओर, तो कभी अपने वृद्ध माँ-वाप की ओर देखता है। सवके सव धीरे-धीरे मच की दूसरी ओर से निकल जाते है।

मच की दूसरी ओर से जमीदार का एक नौजवान वेटा, एक वूढा मिल-मालिक, एक चोर-वाजार का व्यापारी और उनके पीछे उनके कारिंदे और कर्मचारी आते है। सव-के-सव वने-ठने। सवके हाथ में शराव की वोतले। सभी पीते है, ठहाके लगाते है, गुनगुनाते है, शोर करते है और इसी प्रकार रग और मौज मे शरावोर है कि पर्दा गिरता है।

दूसरा दृश्य

कैलाश का वँगला। एक सजा-सजाया कमरा। कैलाश और विनय वाते कर रहे है। कैलाश गाँव के जमीदार का पढा-लिखा वेटा विनय उसी गाँव के एक गरीव किसान का वेटा—शिक्षित, नये विचारो मे पला, पगा।

विनय—यही है तुम्हारा समाज—आज का समाज। जिसमे अन्न-दाता किसान भूखो मरता है, जहाँ वैभवदाता मजदूर धक्के खाते फिरते है, जहाँ पढे-लिखे लोग या तो परीशान है या सारे अनैतिक कार्य किया करते है, जहाँ माताएँ और वहने अर्द्धनग्न घूमा करती है और जहाँ देश के भावी नेता वे सुकुमार वच्चे बिलखते चलते है। और एक मुट्ठी लोग उनके सीने पर बैठ कर मौज उड़ा रहे है। कैलाश, कैलाश, यह समाज चल नहीं सकता, चल नहीं सकता।

कैलाश—फिर तुम्हारा लेक्चर शुरू हुआ। अरे यार, छोड़ो इन झमेलो को। आओ-आओ, कुछ मीठी बात करें।

(आशा चाय बनाकर देती है)

कैलाश—(चाय पीते हुए) कैसी अच्छी चीज़ है यह चाय! विनय, क्या चाय से भी कोई अच्छी चीज़ है दुनिया मे? बताओ—

विनय—क्या सबसे अच्छी चीज़ तुम्हे यही मालूम पडती है, कैलाश!

कैलाश—नही, नही गलती हो गई—इससे भी अच्छी चीज़ है!—(खीसे निपोड कर हँसता है)

विनय—जिन अच्छी चीजो को तुम देख रहे या कल्पना कर रहे हो, उससे भी अच्छी चीज़े दुनिया मे है, कैलाश! किन्तु, हमारा यह वर्त्तमान समाज उनकी ओर हमारा ध्यान कहाँ जाने देता है! अभी तो हम पत्तियो और फूलो पर, बाहरी रग और गध पर ही लट्टू है—अभी तो क्षणिक वस्तुओ के ही फेरे मे बँधे है! यह समाज बदलने दो, फिर ऐसी अच्छी से अच्छी चीज़े ऊपर आयेगी, जिनकी कल्पना भी हम नही कर पाते। वह समाज, नया समाज! काश, उसकी कल्पना तुम कर पाते कैलाश!

कैलाश—तुम्ही उस कल्पना की दुनिया के पीछे दौडते रहो, विनय, अपने को तो जो सामने है . . . .

विनय—उफ, उसकी कल्पना तुम कर पाते कैलाश! (कल्पना करते-करते खिल उठता है।)

आशा—कैसा होगा वह समाज विनय बाबू, जिसकी कल्पना ही आपको तन्मय कर रही है!

कैलाश—आशा, तुम इन बातो मे न पडो। यह पागल है, पागल, तुम्हे भी पागल बना देगा। इसका पागलपन सक्रामक है, मुश्किल से अपने को मै बचा पाता हूँ! चलो, जाओ यहा से, हटो .

(आशा करुण दृष्टि से विनय की ओर देखती है, किन्तु विनय जब तक कुछ बोले, कैलाश गुस्से में कहता जाता है)

आशा, हटो, जाओ!

(आशा जाती है)

विनय—तुमने उन्हे भगा दिया। तुम उन्हे भगाओ, या खुद भागो, इस राक्षस की चपेट से बच नही सकते। देखो, कैलाश, वह

विनय—हाँ वह राक्षस ही है कैलाश! राक्षस से भी भयानक! वह आ रहा है, वह आ रहा है हमारे समाज से उन सब को बीन लेने, चुन लेने को जो हमारे समाज में राक्षस हैं—

कैलाश—विनय, लेकिन मैं उनलोगों में नहीं। देखो मैं किसी धड़ से भी राक्षस लगता हूँ?

विनय—(मुस्कुराते हुए) कैलाश सवाल व्यक्ति का नहीं है, सवाल है प्रणाली का। जहाँ मेहनत करनेवाले, उत्पादन करनेवाले भूखों मरें, नंगे रहें, और बैठे-ठाले लोग मौज उड़ावें; जहाँ जन्मते ही कोई अपने को परम पवित्र और अन्य लोगों को अछूत समझने की गुस्ताखी करें, जहाँ नारियों को अपना सौंदर्य और यौवन बेचने को मजबूर होना पड़े, जहाँ कुत्तों-बिल्लियों को दूध पिलाया जाय और आदमी के बच्चे दाने-दाने को बिल्लाते फिरें—कैलाश, जहाँ गरीबी, गुलामी, अनैतिकता और अत्याचार का बोलबाला हो, उस समाज की भित्ति में ही राक्षसता है और वह राक्षस का ही शिकार होगा!

कैलाश—उफ उफ! फिर वही राक्षस। अरे यार, बारबार आरजू करता हूँ छोड़ो इन बातों को। कुछ मीठी बातें करो—आगा, आगा!

(भीतर से आवाज—'हाँ भैया!')

जरा चाय भेजो आगा! (फिर विनय से) विनय, घबराओ मत, अब थोड़े दिनों में तुम भी कोई अच्छी जगह पर पहुँच जाओगे फिर तो ....

विनय—फिर तो मैं भी मौज किया करूँगा, क्यों?

कैलाश——और क्या?

विनय—कैलाश, फिर कहता हूँ, सवाल व्यक्तिगत सुखदुख का नहीं है और सच पूछो तो—यह युग ही नहीं है जिसमें कोई समझ-दार और ईमानदार आदमी सुख से रहने की बातें भी सोच सके। जब घर में आग लगी हो क्या कोई चैन से खुर्राटे ले सकता है? आह! (उदास मुद्रा)

(चाय लेती हुई आगा आती है)

कैलाश—फिर वैताल पीपल की डाल में जा लटका! अरे यार, छोड़ो इन बातों को। पीओ चाय। आगा, जरा मन से चाय बनाना! हाँ!

सुनो, सुनो,
सुनो, सुनो,
इन्हे हमे हटाना है,
नया जगत बसाना है
बसाना है
बसाना है
नया समाज लाना है—
बदल दो,
बदल दो इस समाज को
बदल दो!

चौथा दृश्य

विनय की झोपडी। वह एक पुस्तक पढ रहा है कि गाँव का किसान बूढा गरभू लाठी ठेकते उसके सामने आता है। कैलाश पुस्तक रख देता है। उसी समय दूसरी ओर से रहमान आता है, चीनी-मिल का एक मजदूर। तीनो मे बाते होती है—

गरभू—विनय भैया, विनय भैया, तुम हमलोगो के लिए अवतार हो, भैया! आह, इस जालिम जमीन्दार ने. . .

रहमान—विनय दादा, विनय दादा, सचमुच आप हमलोगो के लिए पैगम्बर बनकर आये है! दादा! यह कारखाना? कौन कहता है, इसमे ऊख पेरी जाती है—इसमे तो पेरी जा रही है इन्सानियत!

गरभू—ये जमीन्दार जमाने से हमें बेगार में, तरह-तरह के अबवाब मे, जुल्म मे, पीसते रहे, अब ये हमारी जमीन छीन रहे है यह कहकर कि बडे पैमाने पर खेती करेगे! यह ट्रैक्टर हमारे खेतो पर नही चलता है भैया, हमारी छाती पर चलता है, छाती पर! उफ!

रहमान—ढोंग की हद हो गई विनय दादा! कैलाश बाबू ने पहले कहा—हम ट्रैक्टर से खेती करेगे कि जमीन की पैदावार बढे। और कारखाना खोला यह कह कर कि देश में उद्योग-धंधे फैलाने है! किन्तु कैसा तमाशा? पैदावार बढाने के पहले किसानो के मुँह

सर्वनाश तुम्हारे ऐसे लोगों को निगलने के लिए खड़ा है—देखो, देखो, वह, वह........

(विनय उँगलियों से ऊपर की ओर दिखाता है—कैलाश काँपने लगता है)

तीसरा दृश्य

गाँव के चौराहे पर कुछ किशोर-किशोरियाँ गाते हुए जा रहे हैं—

बदल दो,
बदल दो इस समाज को
बदल दो!
जहाँ न प्रेम-प्रीति है,
अनीति ही अनीति है,
कुटेव है, कुरीति है,
उलट दो,
उलट दो उस समाज को,
उलट दो!

जहाँ मनुष्य खून पी रहा
हाँ,
जहाँ मनुष्य खून पी रहा;
जहाँ मनुष्य मर के जी रहा,
न जी रहा, न मर रहा,
बिलख रहा, बहर रहा,
मगर न कोई देखने वाला,
उजाला कहाँ काला ही काला,
उलट दो,
उलट दो तख्तो ताज को,
उलट दो!
यह चीख, यह पुकार
यह दानवी [illegible]

रहमान—हमने अपना सगठन शुरु कर दिया है भैया, जिस दिन आपका हुक्म होगा, कारखाने की चिमनी बुत के रहेगी!

विनय—हमे कारखाने की चिमनी बुतानी नही है, वल्कि उसे और जोरो से जलाना है, चलाना है। लेकिन यह नही हो सकता है कि जो उपजावे, वह मजदूर तो भूखो मरे और मुट्ठीभर पूँजी-पति ससार के सारे सुख-ऐश्वर्य का भोग करे। हमे इस समाज को ही वदल देना है, रहमान!

गरभू—समाज को वदलना है? विनय भैया, हमारे वाप-पुरखे..

विनय—(मुस्कुराते हुए) समझा, समझा, गरभू वावा! किन्तु सोचना यह है कि हमारे वाप-पुरखे भी हमारी ही तरह के आदमी थे। जिस तरह हम गलतियाँ किया करते है, उन्होने भी गलतियाँ की होगी। देखिए, उनकी गलतियो से ही तो विदेशी हमारे देश मे आये थे, और आई थी उनके साथ ही यह जमीन्दारी। यह शोषण और लूट भी तो उन्ही के सूधेपन के चलते जारी हुए। सपूत वह है जो वाप-दादो की गलतियाँ दुरुस्त करे। हमे इस समाज को हटाना है, नया समाज वनाना है।

[भीतर से आवाज——

इन्हे हमे हटाना है,
नया जगत वसाना है,
वसाना है,
वसाना है,
नया समाज लाना है,
वदल दो,
वदल दो इस समाज को
वदल दो।]

रहमान—अहा, कैसा सुन्दर; कैसा जोशीला! (मजदूर) हाँ, हाँ, जरा तुम भी गाओ वूढे वावा, जरा तुम भी सुर मिलाओ। जानते हो, ये गाने तराने नही है, ये हमारे गोले-वारूद है, वावा! इनके सुनते ही दुश्मनो के होश गुम हो जाते है। जरा गोले-वारूद चलाना सीखो वावा!

गरभू—इस वुढापे में?

से अन्न छीना जा रहा है। उद्योगधधे बढाने के नाम पर मजदूरो का खून चूसा जा रहा है—हड्डियाँ पीसी जा रही है।

गरभू—विनय भैया, विनय भैया, यदि जमीन छिन गयी, फिर हम करेगे क्या? जीयेगे कैसे? यह हमारी पुश्तैनी जमीन—जिसमें हमारे पुरखो की हड्डियाँ गली है, जिसे ज़रखेज बनाने के लिए हमने खून को पसीना बना दिया, उसे ही वे हम से छीन रहे है। उफ। हमें बचाओ—भैया। हम तुम्हारे पैर पडते है। (पैर पकडना चाहता है)

विनय—(मना करता हुआ) यह क्या कर रहे है गरभू बाबा। ओह, क्या आज तक आपने नही देखा कि आपकी दुर्गत इसीलिए होती रही कि आप अपने दुश्मनो को बाबू भैया कहते रहे, उनके पैर पडते रहे। झुके हुए सर पर पैर पडते ही है, गरभू बाबा। यदि आप इज्जत से जीना चाहते है, तो सीना तान कर खडा होइये .. और अकड कर कहिए, यह जमीन हमारी है—इसे हम जोतेगे। फिर देखिये, कौन आपके सामने आता है? हां, सीना तानकर, जरा इस तरह (बताता है)

किसान—भैया, हमारी तो कमर तोड दी गई है, भैया। हम कैसे खडे हो—

विनय—जिन्होने आपकी कमर तोडी है, उनकी कमर भी टूट चुकी है गरभू बाबा। उनके दिन भी लद गये है। जिन विदेशियो ने उन्हे बनाया, वे चले गये, फिर ये क्या खाकर बचेगे? हां, अपने को बचाने के लिए ये तरह-तरह के तिकडम कर रहे है। किन्तु कोई ताकत इन्हे बचा नही सकती। आप सब मिलजुलकर, सीना तान कर, खडे तो हो।

रहमान—इनका मायाजाल बडा लम्बा है विनय दादा। देखिए न, ये अब नये रूप धारण कर रहे है—।

विनय—हाँ, रहमान, देख रहा हूँ, ये एक ही छलांग में सामन्तशाही से पूँजीवाद के दौरे में मौज मारना चाह रहे है। लेकिन ये भूल गये है कि गरीब हल्का-फुल्का होता है, उनसे भी लम्बी छलांग ले सकता है। जब तक यह पूँजीवाद तक पहुँच भी न सकेंगे, ये गरीब समाजवाद तक पहुँच चुके होंगे। जमीन किसानों की; कारखाने मजदूरो के—अब इस नारे को कोई रोक नहीं सकता। तुम अपना संगठन तो करो!

आशा—आग ? विनय बाबू ?

कैलाश—हाँ, हाँ आग लगा रहा है ? शैतान की तरह आग लगा रहा है जिसमे मै जलूंगा, तुम जलोगी, सारा समाज जलेगा, वह खुद भी जलेगा, आशा, खुद भी।

आशा—यह आप क्या कह रहे है भैया ?

कैलाश—जो अपनी आँखो से देख रहा हूँ। वह मेरी सारी जमीन्दारी मे किसानो को भडका रहा है, उनसे खुराफाते करवा रहा है। गाँव-गाँव मे उसने किसान सभाये बनवाई है। बेगार, अबवाब की कौन सी बात, मालगुजारी भी नही मिल रही है, मालगुजारी। वह किसानो को ऐसा खूँखार बना रहा है कि मेरे ट्रैक्टर धरे रह जायेगे। और तो और, मैने जो चीनी मिल खोली है, उसे भी सत्यानाश मे मिलाने पर तुला है वह शैतान . . .

आशा—वह तो बहुत ही सीधे-सूधे है भैया। आप उन्हे शैतान

कैलाश—ऐसे लोगो के चेहरे ऐसे ही धोखे देनेवाले होते है आशा! तमाशा तो यह है कि वह सारे देश मे आग लगाता फिर रहा है, फिर भी अपने को देशभक्त . . .

आशा—अगस्त क्रान्ति मे तो उन्होने बहुत कुछ किया था भैया!

कैलाश—तभी तो उसका दिमाग और फिर गया है। लेकिन आशा, थाने को लूटना, डाकघर मे आग लगाना या कचहरी पर झडे उडाना ही देशभक्ति नही है। मै तो कहूँगा, घडी भरके जोश में आकर गोलियो के सामने छाती खोल देना भी देशभक्ति की कसौटी नही है। परिस्थिति के अनुसार देशभक्ति की कल्पना भी बदलती है।

आशा—देशभक्ति ? बदलती है ?

कैलाश—हाँ, बदलती है। आज की बदली हुई परिस्थिति में एकमात्र देशभक्ति है पैदावार बढाना। सुना नही, प० नेहरू ने कहा है—(Produce or perish) पैदावार बढाओ, नही तो नाश में मिल जाओगे। सरदार पटेल भी यही कहते फिर रहे थे। आशा आज देश सकट काल से गुजर रहा है, इसलिए जो कोई भी पैदावार बढाने में अडचन डालता है, वह देशद्रोही है।

आशा—देशद्रोही ?

विनय—कौन कहता है आप बूढ़े हैं? आप ही तो कहते थे; साठा, तो पाठा!

गरभू—अच्छा, तो एकबार हमारा करतब देख लेना विनय भैया! (तनकर खड़ा होता, मूँछ पर ताव देता)

विनय—क्यों रहमान!

रहमान—रहमान से कुछ मत पूछिये विनय दादा! उसने तो तय कर लिया है, इस समाज को वह बदलकर रहेगा, या इस कोशिश में अपनी जान दे देगा।

विनय—तो तुम दोनों मिलकर उस सुर में सुर मिलाओ। पुराना समाज तभी हटेगा. नया समाज तभी बनेगा, जब मजदूर और किसान एक हो जायेंगे, एक साथ लड़ेंगे, एक साथ गायेंगे।

मजदूर—और, जब आपके ऐसा नेता उन्हें मिलें, जिसने अपने सारे भविष्य पर लात मारकर गरीबों के उद्धार का ही बीड़ा उठाया हो! उफ़. जब आपके साथी धन जोड़ने में, मौज उड़ाने में लगे हैं; आप दिन-रात भूखे-प्यासे गाँव-गाँव, गली-गली चक्कर काटा करते हैं!

गरभू—विनय भैया! भगवान तुम्हें मेरी आयु दें। (आँखों में आँसू)

विनय—गरभू दादा, मजा लम्बी जिन्दगी पाने में नहीं है, मजा है जिन्दगी को किसी अच्छे काम में मशाल की तरह जलाने में—वह जलती रहे, बलती रहे, रोशनी देती रहे, प्रकाश फैलाती रहे . . . .

पाँचवाँ दृश्य

कैलाश का बँगला। कैलाश अपनी बहन आशा से बातें कर रहा है—

कैलाश—आशा, आशा, सुना है तुमने आशा? उस विनय ने

आशा—विनय बाबू ने? कहाँ हैं विनय बाबू, भैया?

कैलाश—कहाँ है? वह आग लगाता फिर रहा है, आग!

विनय—हाँ, राक्षस, राक्षस, राक्षस! मै देख रहा हू, कैलाश, आज हर जमीन्दार, हर पूँजीपति, हर मालदार देशभक्त वन गया है—किन्तु तुम्हारी देशभक्ति की परीक्षा—बार बार हो चुकी है। तुम अब लोगो को धोखा नही दे सकते। कैलाश, कैलाश, शुतुरमुर्ग की तरह बालू के नीचे सिर मत छुपाओ। परिस्थिति का सामना करो—देखो, वह सर्वनाश!

कैलाश—ओह, आशा, तुम भीतर जाओ। जाओ।

(आशा जाती है)

विनय—तुम फिर उन्हे भीतर भेज रहे हो। किन्तु हवा को क्या भीतर जाने से रोक सकोगे? ये दीवारे ढहेगी, ढहेगी, कैलाश—

कैलाश—विनय, मेरे प्यारे विनय, उत्तेजित मत हो। आशा को हटाया, क्योकि तुमसे कुछ निवेदन करना है। (आजिजी मे) मेरे भाई, मै पूछता हू, तुम मुझ पर ही क्यो फट पडे हो? वहुत सी जमीन्दारियाँ है, वहुत-सी मिले है। तुम मुझे छोड दो, भाई! मै तुम्हे हाथ जोडता हूँ . . .

विनय—तो, तुम मुझे भी धोखा देना सिखा रहे हो? मै उन किसानो और मजदूरो को धोखा दूँ, जिन्होने मुझ पर विश्वास किया, जिन्होने मेरे हाथो मे अपना भविष्य सौंप रखा है—कैलाश, यह नीचता है!

कैलाश—ओह! तुम फिर नही सुनते! अच्छा दूसरी बात! तुम चाहते हो न कि पैदावार बढे?

विनय—हाँ!

कैलाश—तुम चाहते हो न कि किसानो और मजदूरो का हित हो? उनकी उन्नति हो?

विनय—हाँ, हाँ!

कैलाश—तब लो, यह सारी जमीन्दारी और कारखाना तुम्हे सुपुर्द करता हूँ। तुम्ही इसका इन्तजाम करो—तुम मैनेजर बनो .

विनय—जबान सम्हालो कैलाश, जबान! ओहो, अब तुम मुझे घूस देने चले हो? क्या तुमने मुझे इतना नीच समझ लिया है? ओहो! अब तुमसे कोई बात करना भी नीचता होगी, मै चला कैलाश .

(विनय चल देता है)

कैलाश—हाँ, हाँ, देशद्रोही और मैं यह डंके की चोट कह सकता हूँ कि तुम्हारा वह विनय भी देशद्रोही है, देशद्रोही है, देशद्रोही है!

लाला—विनय बाबू और देशद्रोही.....उफ्, उफ्.....

(विनय का अचानक प्रवेश)

विनय—और यह देशद्रोही तुम्हारे सामने खड़ा है कैलाश! क्या सजा देते हो इसे?

कैलाश—तुम यहाँ? कैसे?

विनय—तुमसे मिलने आया था। बाहर खड़ा तुम्हारे नौकर की इन्तजार में था कि इजाजत लेकर भीतर जाऊँ। किन्तु जब अपने ऊपर फतवा काट देते सुना, तो सोचा, अपराधी हूँ ही—चलूँ, सजा ले लूँ।

कैलाश—विनय, तो यह बात तुम्हारे मुँह पर भी कहूँगा कि तुम देशद्रोही का काम कर रहे हो। देश जब इस संकट में है तब पैदावार......

विनय—पैदावार, पैदावार मत चिल्लाया करो कैलाश! पैदावार बढ़े, यह कौन नहीं चाहता है—किसान नहीं चाहेगा? मजदूर नहीं चाहेगा? उनसे बढ़कर पैदावार करनेवाला है कौन, उसका महत्त्व समझनेवाला है कौन? किन्तु, कैलाश, पैदावार के साथ कुछ सवाल लगे हुए हैं सवाल! पैदावार क्यों? पैदावार कैसे? और पैदावार किसके लिए?

कैलाश—तुम हर बात में सवाल ही ढूँढ़ते हो।

विनय—इसीलिए हम उसके तथ्य पर भी पहुँच पाते हैं—जिन ढूँढा तिन पाइयाँ! तुमलोग हर चीज पर पर्दा डालते रहे हो, आज भी पर्दा डाल रहे हो। किन्तु, अब यह नहीं चलने का। जिस पैदावार के पहले किसानों के मुँह का अन्न छिन जाय, जिस पैदावार के पहले मजदूरों की हड्डियाँ तोड़ दी जायँ—वह पैदावार नहीं है कैलाश! पैदावार का मानी है जनता के लिए सुख-ऐश्वर्य के सामान मुहय्या करना। जो पैदावार शुरू होने के पहले ही मेहनत करनेवालों को कब्रिस्तान में मिला दे, वह पैदावार नहीं, कोई राक्षस है राक्षस! उस राक्षस को मार भगाना होगा!

कैलाश—फिर वही राक्षस।

स्नान कर नया समाज आयेगा! वह नया समाज—जहाँ सब आदमी बराबर होंगे, सब आदमी सुख-चैन से रहेंगे! जहाँ गरीबी नही होगी, मूर्खता नही होगी, अन्याय नही होगा, अत्याचार नही होगा। जहाँ सब हिलमिल कर रहेंगे, सब हिलमिल कर नाचेंगे, गायेंगे। ओह, वह ऐश्वर्य का समाज, आनन्द का समाज, सौंदर्य का समाज, संगीत का समाज! वह समाज! पृथ्वी पर स्वर्ग! आशा, आशा, देखो, वह स्वर्ग पृथ्वी पर उतर रहा है। देखो, देखो वह पृथ्वी पर बस रहा है, देखो, देखो .. (उठने की चेष्टा)

आशा—आह! आह!

विनय—तुम देख नही रही आशा—वह नया समाज! वह पृथ्वी पर स्वर्ग बस रहा है, आशा! पृथ्वी पर स्वर्ग—जहाँ ऐश्वर्य, आनन्द, सौन्दर्य, संगीत .

(आँखे मुँद जाती है)

मजदूर—ओह ओह! क्या हमे छोड कर

विनय—रहमान! प्यारे रहमान! आदमी के खान्दान की तरह विचारो का भी खान्दान होता है, रहमान! एक आदमी जाता है, हजारो का कुनबा छोड कर। विचार का सुनहला धागा भी कभी नही टूटता—उसे जोडनेवाले, उसे लम्बा करनेवाले आते ही रहते है, आते ही रहते है। उस धागे को—विचारो के धागे को, सिद्धान्तो के धागे को—उस सुनहले धागे को—देखो, उसे जोडो, उसे लम्बा करो—वह ससार को छाने जा रहा है—वह ससार पर छाते जा रहा है—वह सुनहला धागा—जिसके सामने आदमी तिनका है, तुच्छ तिनका! तिनके का मोह और इन्कलाबी करे? रहमान कहो—इन्कलाब—

रहमान—जिन्दाबाद!

(गरभू का प्रवेश)

गरभू—विनय भैया, विनय भैया! यह क्या हुआ विनय भैया!

विनय—गरभू दादा, गरभू दादा—कुछ नही गरभू दादा—कहिये, इन्कलाब! .. बोलिये, इन्कलाब——

किसान—(धीमे) जिन्दाबाद!

विनय—जोर से .जरा जोर से दादा!

आशा—आह! ओह! (रोती है)

आशा—पानी है विनय वावू, पानी!

(विनय के मुँह मे पानी देती है—वह पीता है—उसके चेहरे पर पानी का छींटा)

आशा—ओह, यह क्या हुआ विनय वावू!

रहमान—यह क्या हुआ, विनय दादा!

विनय—हुआ वही, जो होना था। सघर्ष के साथ यह सब लगा हुआ है, रहमान! कोई घायल होता है, कोई गिरता है, कोई जेल मे मरता है, कोई खेत पर मरता है! सघर्ष के साथ यह सब लगा हुआ है——

आशा—दुष्ट मैनेजर! भैया-भैया! ओह!

विनय—आशा, वात व्यक्ति की नही है आशा! सवाल है प्रणाली का, प्रणाली का। आज के समाज मे ही यह सब निहित है आशा—शोषण, उत्पीडन, अन्याय, अत्याचार, खून, हत्या! सिर्फ लाठी और हाथ नही देखो, देखो उस राक्षस को, जो उसके पीछे छिपा है! आह!

रहमान—(गुस्से मे) हम इसका वदला लेगे!

विनय—वदला लोगे? जरूर वदला लेना, रहमान, जरूर! जो वदला नही ले, वह आदमी नही है, रहमान! लेकिन आदमी का वदला आदमी की तरह का होना चाहिये शैतान या हैवान की तरह का नही! आह!

रहमान—आह! आप यह क्या कह रहे है मेरे सरदार!

विनय—वदला लो आदमी से नही, उस प्रणाली से, उस समाज से जिसके चलते आदमी इन्सान से हैवान, मनुष्य से पशु बन जाता है! उस प्रणाली को, उस समाज को वदलो, मेरे भाई! आह! जरा पानी!

(आशा पानी पिलाती है—देखती है, खून वद नहीं हो रहा है)

आशा—ओह, यह खून वहा ही जा रहा है! (रहमान से) जाइये, किसी डाक्टर को बुलाइये—डाक्टर को

विनय—खून! उसे वद मत करो आशा! उसे वद करने की जरूरत नही है रहमान! उसे वहने दो, वहने दो! इसी खून से

विजेता

[नाटक]

विनय—आगा, इन्क़लाबी जब विदा ले रहा हो, रोना नहीं चाहिये आगा! क्रान्ति अमर है तो क्रान्तिकारी भी अमर है। बोलो तुम सब मिलकर बोलो—इन्क़लाब—

सब—जिन्दाबाद !

विनय—इन्क़लाब—

सब—जिन्दाबाद !

[पर्दा गिरता है—स्वर धीरे-धीरे धीमा होता जाता है]

भूमिका ?

(वि)

हाँ, इस नाटक के लिए एक भूमिका चाहिए, लम्बी भूमिका। किन्तु, इस प्रलोभन से मै अपने को बचाऊँगा।

बारह वर्षो तक मेरे मस्तिष्क मे चक्कर काटते रहने के बाद कही यह सूर्य का प्रकाश देख पाया है। अब भी मेरे सामने वह कापी है, जिसमे मैंने इसकी रूप-रेखा तैयार की। उसपर हजारीबाग-सेन्ट्रल-जेल की सरकारी मुहर है और मैंने उसपर तारीख लिखी है, विजयादशमी १९४३।

'अम्बपाली' लिखने के बाद मैंने इसका शुभारम्भ जेल मे ही किया था और जब दिल्ली के 'राष्ट्रीय नाटक महोत्सव' के लिए 'अम्बपाली' का रिहर्सल किया जा रहा था, मैंने इसे फिर से हाथ मे लिया और पूरा किया।

किन्तु उस पुरानी रूपरेखा और इसके वर्त्तमान रूप मे आकाश-पाताल का अन्तर है।

समूचा नाटक चार ही दृश्यो मे समाप्त होता है, एक-एक अक मे सिर्फ एक-एक दृश्य। इसमे पात्र भी सिर्फ पाँच है। और बिना किसी प्रकार की काँट-छाँट किये इसे दो-ढाई घटे मे खेल लिया जा सकता है।

(जे)

चन्द्रगुप्त मौर्य पर कितने ही नाटक लिखे गये है। किन्तु मैंने आश्चर्य से पाया है, 'चन्द्रगुप्त' नाम देकर भी लोगो ने दरअसल 'चाणक्य' लिखा है। उनका मुख्यपात्र चाणक्य है, चन्द्रगुप्त तो उसके इशारे पर नाचता है।

विशाखदत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' मे जो परम्परा चलाई, वह अब तक ढोई जा रही है, यद्यपि इतिहास के आधुनिक अनुसधानो ने उसकी कितनी ही बातो का खडन कर दिया है।

कितने आश्चर्य की बात है कि इतिहास जहाँ चाणक्य के बारे मे थोडा-सा उल्लेख करके चुप है, वहाँ साहित्य उसकी कूटनीतिज्ञता की प्रशसा करते हुए नही अघाता।

यह प्रशसा यहाँ तक बढा दी गई कि चाणक्य एक धूर्त्त और नृशस व्यक्ति-मात्र बन जाता है और चन्द्रगुप्त उसके हाथ की कठपुतली-मात्र!

भूमिका ?

(वि)

हाँ, इस नाटक के लिए एक भूमिका चाहिए, लम्बी भूमिका। किन्तु, इस प्रलोभन से मै अपने को बचाऊँगा।

बारह वर्षों तक मेरे मस्तिष्क मे चक्कर काटते रहने के बाद कही यह सूर्य का प्रकाश देख पाया है। अब भी मेरे सामने वह कापी है, जिसमे मैने इसकी रूप-रेखा तैयार की। उसपर हजारीबाग-सेन्ट्रल-जेल की सरकारी मुहर है और मैने उसपर तारीख लिखी है, विजयादशमी १९४३।

'अम्बपाली' लिखने के बाद मैने इसका शुभारम्भ जेल मे ही किया था और जब दिल्ली के 'राष्ट्रीय नाटक महोत्सव' के लिए 'अम्बपाली' का रिहर्सल किया जा रहा था, मैने इसे फिर से हाथ मे लिया और पूरा किया।

किन्तु उस पुरानी रूपरेखा और इसके वर्त्तमान रूप मे आकाश-पाताल का अन्तर है।

समूचा नाटक चार ही दृश्यो मे समाप्त होता है, एक-एक अक मे सिर्फ एक-एक दृश्य। इसमे पात्र भी सिर्फ पाँच है। और बिना किसी प्रकार की कॉट-छॉट किये इसे दो-ढाई घटे मे खेल लिया जा सकता है।

(जे)

चन्द्रगुप्त मौर्य पर कितने ही नाटक लिखे गये है। किन्तु मैने आश्चर्य से पाया है, 'चन्द्रगुप्त' नाम देकर भी लोगो ने दरअसल 'चाणक्य' लिखा है। उनका मुख्यपात्र चाणक्य है, चन्द्रगुप्त तो उसके इशारे पर नाचता है।

विशाखदत्त ने अपने 'मुद्राराक्षस' मे जो परम्परा चलाई, वह अब तक ढोई जा रही है, यद्यपि इतिहास के आधुनिक अनुसधानो ने उसकी कितनी ही बातो का खडन कर दिया है।

कितने आश्चर्य की बात है कि इतिहास जहाँ चाणक्य के बारे मे थोडा-सा उल्लेख करके चुप है, वहाँ साहित्य उसकी कूटनीतिज्ञता की प्रशसा करते हुए नही अघाता।

यह प्रशसा यहाँ तक बढा दी गई कि चाणक्य एक धूर्त्त और नृशस व्यक्ति-मात्र बन जाता है और चन्द्रगुप्त उनके हाथ की कठपुतली-मात्र !

कठपुतली भी कैसी ? शूद्र, वृषल आदि कह कर भारत के उस प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् को नीचे-से-नीचे गिराने की कोशिशे हुई है।

इस महान पुरुष को उस गड्ढे से निकालना चाहिये, ऐतिहासिक तथ्य और महत्व के अनुरूप ही उसे साहित्यिक रूप देना चाहिये, वारह वर्षो से मेरे मस्तिष्क मे यह विचार चक्कर काट रहा था। उसी का फल यह नाटक है।

मैने जो कुछ लिखा है, उसके आधार के लिए ऐतिहासिक प्रमाण देने लगूं, तो वह इस नाटक से भी विशाल रूप धारण कर ले सकता है।

किन्तु, मै इस प्रपच से अपने को रोकूंगा। इतना ही कहूँगा, चन्द्रगुप्त का यह साहित्यिक रूप आधुनिकतम ऐतिहासिक तथ्यो पर आधारित है। हाँ, उनके प्रकटीकरण और विश्लेषण में मैंने थोडी स्वाधीनता ली है, जो हम साहित्यिको का अधिकार है।

(ग)

अव हिन्दी के रगमच की ओर लोगो का ध्यान गया है। चारो ओर नाटक खेलने के लिए एक नया उत्साह पैदा हुआ है।

दो-दो तीन-तीन दर्जन दृश्यो का नाटक लिखने और खेलने का समय वीत चुका। आधुनिक रगमच पर अव इसके लिए गुंजायश कहाँ ? यो ही पाँच-पाँच घटो तक नाट्गृह में वैठने की फुर्सत भी लोगो मे नही रही।

पात्र-पात्रियो की वहुलता भी नाटक के खेलने में वाधक वन जाती है।

नाटक छोटे हो, जो दो-ढाई घटे मे खेल लिये जा सकें। उतने ही दृश्य हो, कि इन्टरवल के समय फिट कर लिये जायँ। पात्र-पत्रियो की सख्या ऐसी हो कि कुछेक प्रतिभाशील व्यक्तियो को ही लेकर अभिनय करा लिया जा सके।

युग की माँग यह है !

इस नाटक की जो रूपरेखा मैंने पहले तैयार की थी, युग की इस माँग को ध्यान में रख कर उसमें मुझे आमूल परिवर्तन करना पडा है। किन्तु युग की इस माँग की पूर्ति करना कितना कठिन है, पग-पग पर अनुभव करता रहा हूँ।

चाहे जैसा भी वन पडा हो, अपने ऐतिहासिक नाटको की माला में यह अन्तिम मनका जोड कर अव सामाजिक नाटको की ओर प्रवृत्त होने जा रहा हूँ।

युग की एक माँग यह भी है, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती !

पटना, ६ वसन्तपंचमी, १९५५

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

पात्र

चन्द्रगुप्त

चाणक्य

श्वेतकेतु

पात्रियाँ

माँ

चन्द्रा
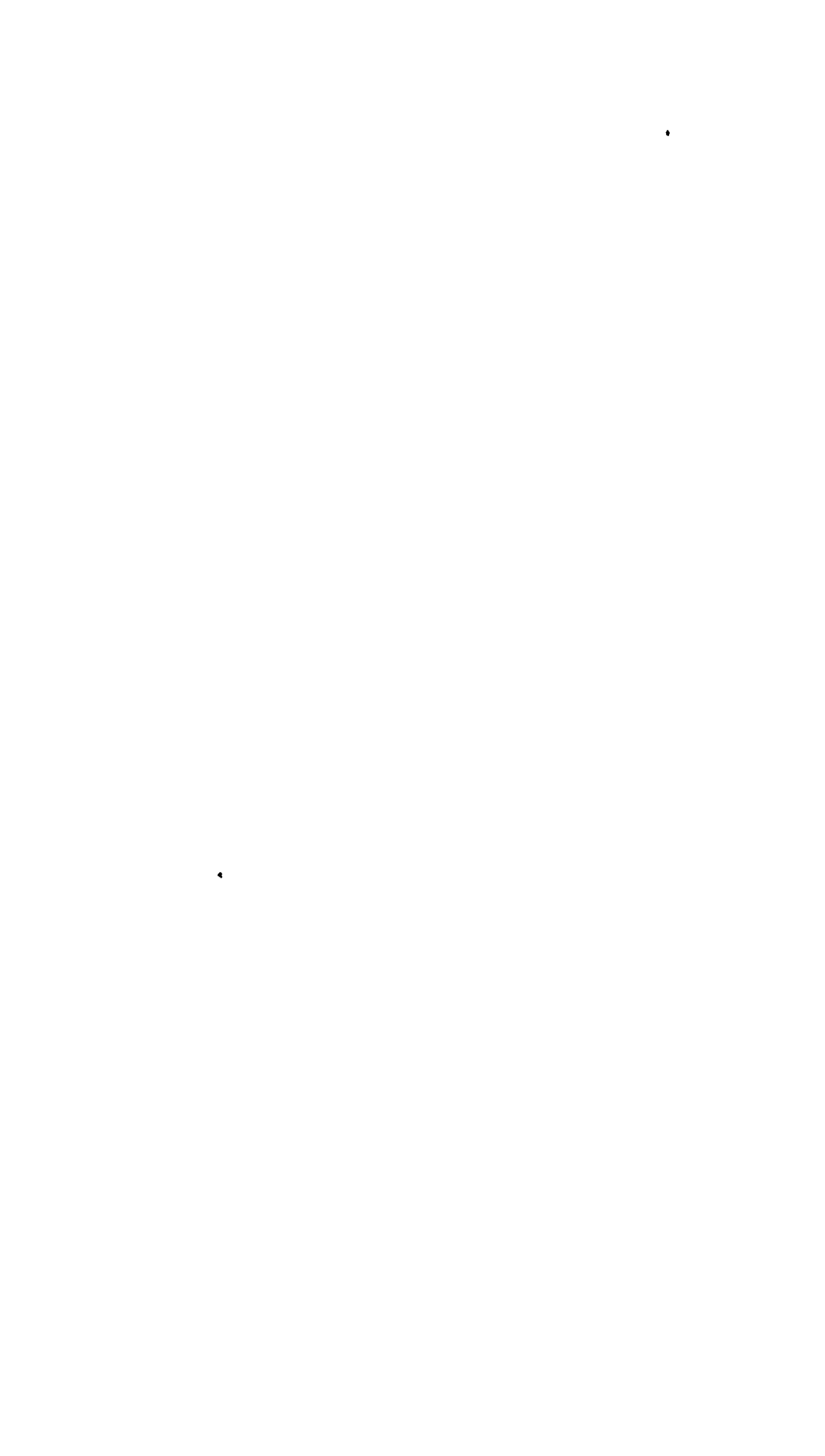
विजेता

पहला अंक

स्थान : तक्षशिला के निकट का एक पहाड़ी प्रदेश

समय : प्रात.काल

छोटी-सी पहाडी . नीचे घनघोर जगल। इस घनघोर जगल मे एक छोटा-सा खुला स्थान।

उस खुले स्थान मे एक युवक खडा है। सामने की पहाडी के पार्श्वभाग पर एक गोल चिह्न बना हुआ है जिसके इधर-उधर कितने भाले लटकते दीख पडते है। उसके दाहिनी ओर, पहाड़ी के सहारे, कई भाले खडे किये गये है। वही एक धनुष और तीरो से भरा हुआ एक तरकस लटक रहे है।

युवक के हाथ मे एक भाला है। वह उस भाले को लक्ष्य की ओर फेकने जा रहा है।

कितना सुपुष्ट है उसका शरीर। कमर से घुटनो तक का कटि-पट। इस सक्षिप्त परिधान मे उसका शरीर-वैभव कैसा निखरा पडता है!

गौर मुखमडल। उन्नत ललाट। दोनो सघन भवें जैसे एक-दूसरी से मिलने को आतुर। होठो पर दृढता। वृषभस्कंद. प्रशस्त वक्षस्थल। बाहो की, जाँघो की मासपेशियाँ उभडी पडती है। सुदृढ अडिग चरण।

उसके ललाट पर स्वेद-बिन्दु चमक रहे है। सारा बदन पसीना-पसीना हो रहा है।

लगता है, वह बहुत देर से लक्ष्य साध रहा है। पहाडी पर उस गोल-चिह्न के इर्द-गिर्द अटके-लटके कई भाले इसके प्रमाण है।

हाथ के भाले को वह फेंकता है। खट-सा शब्द होता है। फिर बगल में पहाड़ी से उठँगाये दो भालों को क्रमश फेंकता है। तीसरा भाला लक्ष्य-वध कर लेता है। वह अट्टहास कर उठता है।

उसी समय पहाड़ी की दूसरी ओर से शब्द सुनाई पड़ता है— "धन्य बेटे धन्य ... "

इस शब्द के साथ एक वृद्ध पुरुष सामने आता दिखाई पड़ता है।

काला है उसका वर्ण। लम्बी है उसकी शिखा। आँखें लाल-लाल—जो उसके काले चेहरे पर दो जलते कोयले के अंगारों के समान दीखती हैं।

कटि में एक लटपटा वस्त्र और कंधे पर एक धूसर उत्तरीय। मोटी उजली जनेऊ काले शरीर पर स्पष्ट दीख रही है।

यह वृद्ध है चाणक्य और वह युवक है चन्द्रगुप्त। यह घटना तब की है, जब यवन-अधिपति संसार-विजेता सिकन्दर—अलक्षेन्द्र—भारत के एक भाग पर विजय प्राप्त कर लौट चुका है।

अनुश्रुति है, जब सिकन्दर—अलक्षेन्द्र—भारत आया था, उसका युद्ध-कौशल देखने को चन्द्रगुप्त उसके शिविर में जाया करता था और एक बार वह वहाँ गिरफ्तार भी किया जा चुका था।

भाला यवनों का सबसे प्रमुख अस्त्र था। घोड़ों पर चढ़कर, उन्हें दौड़ाते हुए, शत्रुओं पर जब वे क्षिप्र वेग से चढ़ दौड़ते, तो उन भालों के प्रहार को शत्रु सम्हाल नहीं पाते।

चन्द्रगुप्त उन्हीं के इस अस्त्र का कुछ दिनों से अभ्यास कर रहा है। चाणक्य को सामने देख चन्द्रगुप्त सिर नवाता है, चाणक्य धीरे धीरे उनके निकट आता है और प्रसन्न मुद्रा में कहता है—

चाणक्य—धन्य बेटे धन्य! यवनों के इस अस्त्र पर भी तुमने निपुणता प्राप्त ही कर ली!

चन्द्रगुप्त—यवनों के नहीं, विजेताओं के अस्त्र पर कहिये गुरुदेव! अह, वे किस तरह झंझा के वेग से आये, जीर्णशीर्ण वृक्षों की तरह हमें धराशायी किया और फिर किस प्रकार हमें रौंदते, कुचलते झंझा की गति से ही वापस गये!

चाणक्य—तुम उन्हें भूल नहीं सके, बेटे!

चन्द्रगुप्त—न भूल सका और न भूल सकूँगा गुरुदेव! अब भी उनके मांसल पुट्ठे, उनके पैने भाले, उनका क्षिप्र वेग और उनकी भीषण जयनाद मस्तिष्क में तांडव मचाये रहते हैं। शक्ति, साहस और गति के अवतार से दीखते थे वे। और, सबसे बढ़कर उनका

वह नेता—अलक्षेन्द्र! गुरुदेव, उसकी आँखो मे वह क्या था? जो उसके सामने गया, क्या विना झुके रह सकता था?

चाणक्य—किन्तु, एक ऐसा भी था जो झुक नहीं सका!

चन्द्रगुप्त—आप राजा पुरु की बात कहते है?

चाणक्य—नहीं, एक ऐसे पुरुष को जो अपने को वार-वार भूल जाया करता है। जो दूसरो के पुट्ठे देखता है, किन्तु जो न अपनी विशाल भुजाओ को देखता है, न प्रशस्त वक्षस्थल को, जिन्हे देख कर अलक्षेन्द्र भी मोहित हो गया था।

(चन्द्रगुप्त समझ लेता है उसी की ओर लक्ष्य किया गया है, अत व्यग्य मे बोलता है—)

चन्द्रगुप्त—कदाचित इसलिए उसे वदी वना कर वह अपने देश ले जाना चाहता था—यह दिखाने को कि देखो, एक देश ऐसा भी है, जहाँ के लोग ऐसे हृष्ट-पुष्ट होते हुए भी पराजय स्वीकार करते हुए नही लजाते।

चाणक्य—किन्तु, क्या वह उसे वदी रख सका?

चन्द्रगुप्त—एक व्यक्ति वदीघर से निकल आया तो क्या हुआ गुरु-देव! सारे देश के हाथो मे तो वह हथकडियाँ डाल ही गया है।

चाणक्य—तुम्हे अपमान वोध हो रहा है, चन्द्र!

चन्द्रगुप्त—जो अनुभव करता हूँ, वह केवल अपमान ही नही है गुरुदेव!

चाणक्य—आह! यदि सारे देश के युवक भी तुम्हारी ही तरह सोच पाते!

चन्द्रगुप्त—जो नही सोच सकते, उन्हे सोचने को वाध्य करना पडेगा गुरुदेव। मुझी मे यह भावना कहाँ से आई? किसी ने दी ही तो है!

चाणक्य—मुझ पर यह यश मत थोपो, चन्द्र! मुझे उस दिन का स्मरण है, जब एक दीन ब्राह्मण अपने सपनो मे पागल बना आर्यावर्त के कोने-कोने मे घूम रहा था—गाँवो मे ढूँढता था, नगरो मे ढूँढता था, पगडडियो पर ढूँढता था, राजपथो पर ढूँढता था—ढूँढता था एक ऐसा नायक—लोकनायक—जो उसके सपनो को सत्य का आधार दे सके, उन्हे रूप दे सके, उनमें प्राण-प्रतिष्ठा कर सके! कि, अचानक उसे एक दिन एक बच्चा दिखाई पडा। हाँ, वह बच्चा ही था! वह एक बच्चा, अनेक बच्चो के बीच। अनेक चरवाहे बच्चो के बीच एक ऊँचे टीले पर खडा वह उन्हे आदेश

दे रहा था—देखो, वहाँ वह शत्रु का दुर्ग है, हमे उसपर चढाई करनी है, उसपर अधिकार करना है। तुमलोग चार टुकडियो मे बँटो—

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव, गुरुदेव! वे तो वचपने की वाते थी। उनकी याद दिला कर ..

चाणक्य—हाँ, वे वचपने की वाते थी! किन्तु वेटे, चन्द्र, वचपने की उन वातो मे ही उस स्वप्नदर्शी ब्राह्मण ने जैसे उसी दिन अपने सपनो के लिए सत्य का आधार पा लिया। उसने देखा, उसका नायक, उसका भावी विजेता, उसके सामने खडा है। वह वडी देर तक एकटक उसे निहारता रहा—उसकी आँखे देखी, जिनसे निर्भीकता झाँक रही थी; उसकी भुजाये देखी, जिनसे वीरता उवली पडती थी, उसकी छाती देखी, जिसमे धडकन की जगह साहस स्फुरित हो रहा था। वह ब्राह्मण भाव-विभोर हुआ! (भाव-विभोर होकर आँखें मूँद लेता है)

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव! गुरुदेव!

चाणक्य—हाँ, उस दिन भी उस ब्राह्मण ने इसी तरह भाव-विह्वल होकर आँखे मूँद ली थी, और वह वच्चा आदेश दिये जा रहा था—एक टुकडी सामने से चढाई करेगी, जव युद्ध घमासान हो जाय, दो टुकडियाँ एक ही साथ दाये-वाये से चढ दौडेगी और चौथी टुकडी ! अव भी क्या वह ब्राह्मण वहाँ खडा रह सकता था? वह आगे वढा, उस वच्चे के समक्ष उपस्थित हुआ—राजन्, एक दीन ब्राह्मण आपकी सेवा मे उपस्थित है!

चन्द्रगुप्त—छोडिये उन भूली-विसरी वातो को गुरुदेव!

चाणक्य—नही, मुझे कहने दो वेटे! आज आवश्यकता है कि फिर उन वातो का स्मरण किया जाय। उस ब्राह्मण ने कहा—राजन्, एक दीन ब्राह्मण आपकी सेवा मे उपस्थित है। वच्चे ने कहा—ब्राह्मण हो, तो तुम्हे गाये चाहिये न? सामने गाये चर रही है, उनमे से जितनी चाहो, हँकालो! ब्राह्मण मुस्कुराया—यदि कोई मना करे, तो? वच्चा तमक उठा—चन्द्रगुप्त के राज्य में कौन ऐसा है, जो उसकी आज्ञा की ओर उँगली उठा सके!

(चन्द्रगुप्त लज्जावश दोनो हाथो से मुँह ढँक लेता है। चाणक्य उसके हाथ हटाता हुआ)

चाणक्य—चन्द्र! वही वच्चा तुम हो न? और, वही ब्राह्मण मैं हूँ। कितने दिन बीत गये, कितना जल समुद्र में जा गिरा। किन्तु आह! वच्चा अव भी मिट्टी के उस ढोंके पर ही है

चन्द्रगुप्त—और, उस ब्राह्मण की शिखा आज तक नही बँध सकी, गुरुदेव। (उसांसे लेता है)

चाणक्य—शिखा। शिखा। (अपनी लम्बी शिखा पर हाथ फेरता हुआ) यह अब शिखा ही नही है, चन्द्र। अब यह प्रतिहिसा की ज्योतिशिखा है। देख नही रहे हो, यह वढती जा रही है, वढती जा रही है। अब यह इतनी वढ चुकी है कि यदि इसे शत्रु-शिविर मे नही छुलाई गई, तो यह मुझे ही भस्मसात् कर देगी। वेटे, अव मगध चलो। अब तुम्हारी शिक्षा पूरी हो चुकी है और जो कमी थी, उसे यवनो की इस विजय के अनुभव ने पूरा कर दिया है।

चन्द्रगुप्त—मगध चले। और, यहाँ यवनो का साम्राज्य वना रहे? गुरुदेव, मै तो पहले इनका ही उच्छेद करना चाहता हूँ। अपने देश के शीर्ष भाग पर लगा यह काला धव्वा मुझे असह्य लगता है गुरुदेव। और इनकी विजय का रहस्य भी मुझे मालूम हो चुका है। मै इन्ही के अस्त्र से इनको पराजित करूँगा। पहले हम वाहरी शत्रु को हटाये, फिर भीतरी शत्रु को देख लेगे।

चाणक्य—नही वेटे, नही। जव तक भीतर शत्रु है, तव तक तुम वाहर के शत्रु को हरा नही सकते, हटा नही सकते। उस दिन उस झोपडी मे वह वुढिया जो कह रही थी, उस वात की यथार्थता अव समझ में आ रही है।

चन्द्रगुप्त—किस वुढिया की वात, गुरुदेव?

चाणक्य—हो सकता है, तुमने ध्यान नही दिया हो। हमलोग वहुत रात वीते लौट रहे थे। एक झोपडी के निकट पहुँचे, तो सुना, एक वुढिया कह रही थी—वेटा, तुम भी क्या चाणक्य-चन्द्रगुप्त हो कि रोटी के चारो ओर तोड-तोड कर खा रहे हो, किन्तु वीच मे हाथ नही डालते। वीच मे हाथ नही डालते। चलो चन्द्र, वीच मे हाथ डालो। हमारे दूतो ने जो समाचार दिया है, पाटलिपुत्र पर चढाई करने का सुनहला अवसर आ गया है।

चन्द्रगुप्त—आह, पाटलिपुत्र। वह किन राक्षसो के पजे मे फँसा है। (उसके चेहरे पर विषाद की रेखाये खिच आती है)

चाणक्य—पाटलिपुत्र का स्मरण ही तुम्हे अधीर वना डालता है चन्द्र।

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव, जिनकी गलियो में वचपन वीता, जिनकी धूल मे घुटनो के वल चल कर खडा होना सीखा, जिनकी छाया में आतप और शीत से समान रूप से रक्षा पाई, जिनके साथ कितनी

ही वाल-सुलभ कल्पनाये वँधी थी, आज भी वँधी है; यदि उस नगरी की याद विह्वल वना दे, तो आश्चर्य की क्या वात है गुरुदेव?

चाणक्य—तो उसका उद्धार करो वेटे! और, सचमुच उसके लिए स्वर्ण-अवसर आ गया है। नन्द-वंश के अत्याचारो से प्रजा मे हाहाकार मचा है। न किसी की सम्पत्ति सुरक्षित है, न किसी की प्रतिष्ठा। वहूवेटियो का सतीत्व तक सुरक्षित नही! राजभवन केलि-भवन वना है। जहाँ वीरो और विद्वानो का जमावडा था, वहाँ भाँटो और भाँडो का अखाडा है। वस, एक धक्के की आवश्यकता है चन्द्र, नन्दकुल का राज्य कटे वृक्ष की तरह आप ही अररा कर गिर पडेगा।

(इसी समय नेपथ्य से स्त्री-कंठ मे पुकार सुनाई पडती है)

नेपथ्य से—चन्द्र, ओ चन्द्र!

चाणक्य—अरे, वह तुम्हारी माताजी आ गई। मै चलता हूँ, देखना, अभी इसकी चर्चा उनसे मत करना! हम फिर मिल कर एक पूरी योजना वना लेगे। विश्वास रखो, हम अवश्य विजयी वनेगे!

(चाणक्य जाता है)

चन्द्रगुप्त—हाँ, माँ! क्या है माँ! (कह कर टहलने लगता है और आप ही आप कहता है) कितना सन्देह! किसी पर विश्वास नही! माँ पर भी नही! उँह!

(माँ आती है उसके मुख पर क्रोध की छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है)

माँ—गुरुदेव क्या तेरे पास आये थे? अभी जाते हुए दीख पडे, यद्यपि उन्होने अपने को मुझसे छिपाना चाहा था।

चन्द्रगुप्त—हाँ, वही थे, यही आये थे माँ!

माँ—क्यो आये थे? फिर कोई नया मंत्र देने क्या? वेटे, मै इस ब्राह्मण को देखते ही काँप उठती हूँ। यदि यह जानती, तो उस दिन उनके हाथ तुझे नही सौंपती। यह जादूगर है, जादूगर!

चन्द्रगुप्त—जादूगर! हाँ, लोग कहते है, सुनता हूँ, वह जादूगर है! किन्तु वह किसी के लिए जादूगर हो सकते है माँ, जो स्वयं किसी वडे जादू से अभिभूत हो, उसपर उनका जादू क्या असर करेगा?

माँ—तू यह क्या वोल रहा है, रे!

चन्द्रगुप्त—हाँ, हाँ, माँ! आज मै तुमसे पूछ कर रहूँगा कि वह कौन-सा जादू है जिससे मै अभिभूत हूँ? तुम उस जादू के वारे मे जानती हो माँ, और मुझसे छिपाती आई हो, छिपा रही हो।

माँ—जादू! मै छिपा रही?

चन्द्रगुप्त—हाँ जादू, और मुझ से छिपा रही हो! यह जादू नही तो क्या है माँ, जो न मुझे सोने देता है न बैठने देता है। सोता हूँ, तो कानो मे कोई कहता होता है—उठ, तुझे वहुत कुछ करना है। जब बैठा रहता हूँ, वह झटका-सा देकर खडा कर देता है——वढ, तुझे वडी यात्रा पूरी करनी है। और, जब खडा होता हूँ, तो जैसे पैरो मे वह पख बाँध देता है! पैरो मे पख—माँ, तुम नही मानोगी, किंतु, प्राय ही मै अपने को आकाश मे उडता हुआ पाता हूँ और उडते-उडते इतना ऊँचा चला जाता हूँ, जब पृथ्वी गेद-सी लगती है और उसके जीव-जन्तु कीडे-मकोडे की तरह। इच्छा होती है, इन सारे तुच्छ जीवो को पैरो तले मसल दूँ और इस गेद को ऐसी ठोकर लगाऊँ कि यह नभमडल, खमडल से परे जाकर गिरे—गिरे और चूर-चूर हो जाय। माँ, यह क्या है? क्या यह जादू नही है? (उसकी मुखमुद्रा अद्‌भुत हो जाती है, वह व्याकुल होकर टहलने लगता है)

माँ—बेटे, बेटे! यो नही बेटे, यो नही ...

चन्द्रगुप्त—यो नही बेटे, यो नही। किन्तु यो कब तक जीया जा सकता है, माँ! तुम समझती हो, क्या मेरी शिराओ मे यह रक्त दौड रहा है। नही माँ, नही। (हाथ बढाता है) इसमे रक्त नही है, नही है। यह ऊष्णता, यह उत्तेजना, यह प्रवाह, यह गति—क्या ये रक्त के हो सकते है? देखो, अच्छी तरह देखो माँ, या कहो, तो मै चीर कर दिखला दूँ (इधर-उधर देखता, तरकस से एक तीर उतारता और उसे नस मे घुसेडने की चेष्टा करता हुआ) देख ले, देख ले, यह रक्त नही है।

माँ—(व्याकुल होती हुई) चन्द्र, चन्द्र!—यह तू क्या कर रहा हो बेटा? (तीर उसके हाथ से खीच कर फेंक देती है) आह!

चन्द्रगुप्त—आह! यह कैसा इन्द्रजाल है!—लगता है, इसमे लिपटा हुआ हूँ, घिरा हुआ हूँ। न इसे तोड पाता हूँ, न इससे निकल पाता हूँ! तुम मुझे इससे निकाल सकती थी, माँ, किन्तु जब-जब पूछता हूँ, तुम ..

माँ—पूछने की कोई वात नही है, बेटे!

चन्द्रगुप्त—पूछने की कोई वात नही है? क्या गुरुदेव की तरह तुम भी समझती हो कि मै अभी बच्चा ही हूँ, कुछ समझता नही? मै क्या यह नही अनुभव कर पाता कि कोई कारण है, जिसने तुम्हारा मुँह वद कर रखा है? यो तुम नही बोलती, किन्तु कभी-कभी जब सोती रहती हो, अचानक बडबडा उठती हो, चौक पडती हो, थर-

ही बाल-सुलभ कल्पनायें बँधी थी, आज भी बँधी है, यदि उस नगरी की याद विह्वल बना दे, तो आश्चर्य की क्या बात है गुरुदेव?

चाणक्य—तो उसका उद्धार करो बेटे! और, सचमुच उसके लिए स्वर्ण-अवसर आ गया है। नन्द-वंश के अत्याचारो से प्रजा मे हाहाकार मचा है। न किसी की सम्पत्ति सुरक्षित है, न किसी की प्रतिष्ठा। बहूबेटियो का सतीत्व तक सुरक्षित नही! राजभवन केलि-भवन बना है। जहाँ वीरो और विद्वानो का जमावडा था, वहाँ भाँटो और भाँडो का अखाडा है। बस, एक धक्के की आवश्यकता है चन्द्र, नन्दकुल का राज्य कटे वृक्ष की तरह आप ही अररा कर गिर पडेगा।

(इसी समय नेपथ्य से स्त्री-कंठ मे पुकार सुनाई पडती है)

नेपथ्य से—चन्द्र, ओ चन्द्र!

चाणक्य—अरे, वह तुम्हारी माताजी आ गई। मै चलता हूँ, देखना, अभी इसकी चर्चा उनसे मत करना! हम फिर मिल कर एक पूरी योजना बना लेंगे। विश्वास रखो, हम अवश्य विजयी बनेंगे!

(चाणक्य जाता है)

चन्द्रगुप्त—हाँ, माँ! क्या है माँ! (कह कर टहलने लगता है और आप ही आप कहता है) कितना सन्देह! किसी पर विश्वास नही! माँ पर भी नही! उँह!

(माँ आती है : उसके मुख पर क्रोध की छाया स्पष्ट परिलक्षित होती है)

माँ—गुरुदेव क्या तेरे पास आये थे? अभी जाते हुए दीख पडे, यद्यपि उन्होने अपने को मुझसे छिपाना चाहा था।

चन्द्रगुप्त—हाँ, वही थे, यही आये थे माँ!

माँ—क्यो आये थे? फिर कोई नया मंत्र देने क्या? बेटे, मै इस ब्राह्मण को देखते ही काँप उठती हूँ। यदि यह जानती, तो उस दिन इसके हाथ तुझे नही सौंपती। यह जादूगर है, जादूगर!

चन्द्रगुप्त—जादूगर! हाँ, लोग कहते है, सुनता हूँ, वह जादूगर है! किन्तु वह किसी के लिए जादूगर हो सकते है माँ, जो स्वयं किसी बडे जादू से अभिभूत हो, उस पर उनका जादू क्या [illegible] चलेगा?

माँ—तू यह क्या बोल रहा है, रे!

चन्द्रगुप्त—हाँ, हाँ, माँ! आज मै तुमसे पूछ कर रहूँगा कि वह कौन-सा जादू है जिससे मै अभिभूत हूँ? तुम उस जादू से [illegible] जानती हो माँ, और मुझसे छिपाती आई हो, [illegible]।

माँ—जादू! मै छिपा रही?

चन्द्रा—मै किस-किस को देखूँ माँ? इन्हे देखूँ, तुम्हे देखूँ या अपने को देखूँ। सबको देखती हूँ, पहले कुछ समझती नही थी, दुर्भाग्यवश, वह सुखद अज्ञान भी दूर हो चुका है! अब देखती हूँ और समझती भी हूँ। क्षमा करो माँ, तुम सदा भूत से अभिभूत हो, यह भविष्य मे लीन है, किन्तु, मेरा तो सिर्फ वर्तमान है—चचल, क्षणिक, नश्वरमान, वर्तमान। मेरी रसोई ठढी हो रही है और इधर भाले चल रहे है—(लटकते हुए भालो की ओर देखती है)

माँ—हाँ, रे, बहुत देर हो गई! चन्द्र, तू जा, भोजन कर। मै नदी से स्नान करके आ रही हूँ, आज मेरा व्रत है न?

चन्द्रगुप्त—माँ, तुम इससे व्रत क्यो नही कराती माँ?

माँ—सुनती है चन्द्रे! सदा तुझी पर यह धौस जमाता रहता है। तू इसपर शासन क्यो नही रखती है प्यारी बेटी?

चन्द्रा—इनपर और शासन? माँ, गरुड को कभी पालतू बनाया जा सका!

माँ—गरुड! बहुत ही सही कहा मेरी बेटी ने। आ, आ, ओ मेरे गरुड, मै तेरे डैने चूमूँ, तेरी चोच चूमूँ। (उसके ललाट और भुजाओ पर चुम्बन देती है) जाने कब मेरा गरुड घोसला बनाता है?

चन्द्रा—(मुँह बनाती हुई) गरुड घोसला नही बनाता, माँ!

चन्द्र—वह क्यो घोसला बनाये? क्या घोसलो की ससार मे कमी है?

चन्द्रा—हाँ, किसी दीन पछी के झोपडे पर अगत्या अधिकार जमाता है!

चन्द्रगुप्त—दीन नही, अशक्त कहो। शक्तिहीन के लिए यह पृथ्वी नही है, चन्द्रे!

चन्द्रा—देख रही हूँ, उसीसे शक्तिशाली रन-वन की धूल फाँकते फिर रहे है!

चन्द्रगुप्त—रण, वन! चन्द्रे, शक्तिशाली के लिए, बलवान के लिए, वीर के लिए दो ही प्रिय स्थान होते है, रण या वन। रण—जहाँ भुजाये फडकती है, तलवारे चमकती है। जहाँ पौरुष रक्त की होली खेलता है, सहार की विजया मनाता है, बलिदान की दीपावली सजाता है! भालो की उछाल, ढालो की सम्हाल। वीरो का जयनाद—कायरो की आर्तपुकार! रण ही बनाता है, दो पैर और दो हाथ पाने से ही कोई मानव मानव नही बन जाता। और वन!—जहाँ हिंस्र पशुओ से पजा लडाया जाता है मणिधर नागो के

थर काँपने लगती हो; जैसे कोई अघट घटना घट गई हो, या घटने ही वाली हो। यो ही प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान कर जब तुम सूर्य भगवान की ओर मुँह किये खड़ी होती हो, उनका ध्यान करते-करते, तुम्हारे होठ क्या केवल मंत्र ही बुदबुदाते है—वे अचानक फड़कने क्यो लगते है माँ?

माँ—बेटे, बेटे! ये सब कुछ नही है बेटे! ये बुढ़ापे के चिन्ह है। नींद ठीक से नही आती, इन्द्रियाँ दुर्बल हो रही है, उनपर अधिकार नही रख पाती!

चन्द्रगुप्त—आह रे इन्द्रजाल! लोग समझते है, यह ब्राह्मण मुझे नचा रहा है। ऊपर से देखने पर ऐसा लगता भी है, किन्तु भीतर कौन-सी शक्ति मुझे नचा रही है, मै कैसे बताऊँ? तुम बता सकती थी माँ, किन्तु जब-जब चर्चा चलाई, तुम कुछ ऐसी विह्वल हो उठती हो...... .

माँ—जानेगा बेटे, जानेगा। समय आयगा, सब जान जायगा तू। माँ की जिह्वा बंद भी रहे, एक दिन तेरी शिराओ का यह रक्त बोल उठेगा और जब वह बोलेगा, तू अपने पर गद्‌गद हो उठेगा। चन्द्र, घटनाओ का एक चक्र होता है जिसे पूरा करना ही पड़ता है। यही देख न, हम कहाँ थे, कहाँ आ गये है? लगता है, हम एक अधकार में भटक रहे है! वह ब्राह्मण कहता है, यह अंधकार कटेगा—किन्तु, वह तो न जाने कब से कह रहा है? और, इसी भूलभुलैया में वह हमें कहाँ-से-कहाँ ले आया? अब तो मै उससे डरने लगी हूँ, बेटे! (उदास हो उठती है)

चन्द्रगुप्त—डरने की बात नही है माँ। अब क्यो उस ब्राह्मण की ओर देखती हो, देखो, अपने इस चन्द्र की ओर—अंधकार कटेगा कट कर रहेगा, माँ। मेरी माँ, मेरी पूजनीया माँ!

(सहसा माँ को अँकवार में भर लेता है। माँ उसके कंधे पर सर रख कर आँसू गिराने लगती है। इसी समय चन्द्रा पहुँचती है, माँ-बेटे को इस स्थिति में देख कर सहम जाती है। चन्द्रगुप्त की दृष्टि उसपर पड़ती है, वह अँकवार ढीला कर बोल उठता है)

चन्द्रगुप्त—अरे, चन्द्रा!

(चन्द्रा लपकती हुई आती है और माँ से लिपट जाती है)

चन्द्रा—माँ, माँ, यह क्या माँ!?

माँ—(सम्हलती हुई) कुछ नही बेटी, कुछ नही। देख न इस चन्द्र को, इस निर्जन में, यहाँ, इस धूप में.

चन्द्र—क्या कहा? तू लक्ष्य-वेध करेगी?

चन्द्रा—करूँगी नही, करती हूँ। जिस दिन से तुमने यह अभ्यास प्रारम्भ किया, माताजी ने मुझे भी इसका अभ्यास प्रारम्भ कराया है। कहती है, बेटी, चन्द्र के आधे भाग का तू अधिकारिणी है, तू वह सब जान ले, जो चन्द्र जानता है। निर्बल को भाग नही मिला करता!

चन्द्रगुप्त—ओहो, तो आप मेरे आधे भाग की अधिकारिणी है!

चन्द्रा—जी! हाँ! (मुस्कुराती है)

(श्वेतकेतु का प्रवेश)

श्वेतकेतु—अरे, आप दोनो ने कैसा आधा-आधा बाँट लिया, जैसे मेरे भाग्य मे कोई भाग ही नही है!

चन्द्रगुप्त—श्वेतकेतु! अच्छे आये तुम!

श्वेतकेतु—अच्छे आये और, बुरे भी आये! अच्छे आये, क्योकि आप दोनो की जोडी देख कर प्रसन्नता हुई और बुरे आये, क्योकि अस्त्र-शस्त्र देखते ही मुझे ज्वर लग जाता है!

चन्द्रगुप्त—देखो, देखो चन्द्रे! कविजी को पकडो, बेचारे ज्वारावेग से कही गिर न पडे! (निकट जाकर) अरे, तुम्हारा शरीर सचमुच काँप रहा है, श्वेत!

श्वेतकेतु—तुम व्यग्य-विद्रूप कर लो, किन्तु बार-बार कहता आया हूँ, फिर कहता हूँ, चन्द्र, कि ससार मे केवल युद्ध, मारकाट, रक्तपात, विजय, आदि ही नही है। यहाँ ऐसे पदार्थ भी है, जो दर्शनीय है, स्पर्शनीय है, उपभोगनीय है! वह सामने पहाड है न? तनिक ध्यान से देखो, मेरे मित्र! क्या उसमे सिर्फ पत्थर ही पत्थर है? नही! ऊपर देखो, उसके शिखर पर वह सुहावना बादल उमड रहा है, नीचे देखो, वहाँ उसके पद-तल पर झरना झरझर झर रहा है। ऊपर बादल, नीचे जल और पत्थर पर भी कैसी हरियाली उग आई है। पत्तियाँ सर हिला रही है, फूल मुस्कुरा रहे है! जीवन यह है!! किन्तु, तुम क्या समझो? तुम तो दो चट्टानो के बीच में पडे हो।

चन्द्रा—दो चट्टानो?

श्वेतकेतु—हाँ, एक ओर वह ब्राह्मण और दूसरी ओर ... (रुक जाता है)

चन्द्रा—और दूसरी ओर?

श्वेतकेतु—घबराइये मत, आप नही, माताजी!

चन्द्रा—(आश्चर्य से) माताजी?

फणो से खिलवाड किया जाता है; जहाँ पर्वत के उत्तुग श्रृंगो को पैरो से रौदा जाता है, प्रकृति के उल्लग वक्षस्थल से जीवन-रस चूसा जाता है! हाँ, हाँ—रण या वन ? (आवेश मे उसकी भुजाये फड-कने लगती है)

चन्द्रा—देखो, देखो माँ, तुम्हारा गरुड पख फडफडाने लगा, अरे यह कही उड न जाय! (मुस्कुराती है)

माँ—देख, यो आपस मे नही लडा जाता बेटी। आई थी कहने, रसोई ठढी हो रही है और लगी लडने। जा, इसे ले जा, मै आई, अभी आई।

(वह जाती है चन्द्रगुप्त कुछ देर तक चन्द्रा की ओर आँखे गुरेडता है, चन्द्रा भी उसकी आँखो मे आँखे डाल निस्पन्द खडी रहती है फिर वह हँस देती है· चन्द्रगुप्त झुँझला कर अस्त्र-शस्त्र सम्हालने लगता है)

चन्द्रा—लाइये, मै भी आपकी सहायता कर दूँ। (वह भी अस्त्र-शस्त्र सम्हालने लगती है)

चन्द्र—चन्द्रे, अलग रहो, मत छूना इन अस्त्रो को।

चन्द्रा—क्यो? क्या मेरे छूने से तुम्हारे अस्त्र अपवित्र हो जायँगे? मै छूऊँगी, सम्हालूँगी। एक लक्ष्य का वेध नही कर लिया कि अपने को अलक्षेन्द्र ही मान लिया है!

चन्द्र—ऐसा लगता है, तूने अलक्षेन्द्र को देखा ही था!

चन्द्रा—क्या उसे देखने के लिए बदी बनना ही आवश्यक था? मुझे तो वह ढोगी और कायर जँचा!

चन्द्रगुप्त—ढोगी! कायर!

चन्द्रा—जो मूँछे मुडा कर अपने को सदा किशोर सिद्ध करना चाहे, सर पर मेढे के सीग बाँध कर अपनी युद्ध-प्रियता की घोषणा करता फिरे— वह ढोगी नही, कायर नही, तो क्या हो सकता है?

चन्द्रगुप्त—ओहो! इतनी तह तक जाती हो!

चन्द्रा—ये पुरुष होते है, जो ऊपर-ऊपर तैरते फिरते है! (हँसती है)

चन्द्रगुप्त—क्या बोली? माताजी ने तुझे सर-चढी बना रखा है।

चन्द्रा—सर-चढी नही, सर-मढी। मै उनकी दुलारी बेटी हूँ। गुरुदेव ने जो आपके लिए किया है, माँ ने मेरे लिए किया है। आप समझते है, आप सीख रहे है, मै कुछ नही सीख रही। हाँ, गुरुदेव ने आपके लिए ढोल पीटे है, माँ ने मुझे गुप्तरूप मे सिखलाया है। (खूँटी से लटके हुए भाले की ओर दिखलाती हुई) कहो, ऐसा लक्ष्य मै भी बेध दूँ! (वह दौड कर एक भाला उठाती है)

कि लोग जिस वर्ण को खो रहे है, उसीसे अधिकाधिक चिपटते दिखाई पडते है! (व्यग्यपूर्वक मुस्कराता है)

चन्द्रगुप्त—(आवेश मे) श्वेत, अव तुम सीमा का उल्लघन कर रहे हो! कह दिया, गुरुदेव की निन्दा मेरे सामने मत किया करो! समझे?

चन्द्रा—अरे, तो आज आप दोनो लडेगे भी। लेकिन मै जो लडने दूँ। श्वेतजी, मेरी रसोई ठढी हो रही है, चलिये! (चन्द्रगुप्त से) आप भी इस खटराग को जल्दी सम्हालिये, चलिये।

चन्द्र—चलो, चन्द्रे, परोसो, मै अभी आया।

चन्द्रा—मै आपलोगो को साथ लिये विना नही जाती। कही फिर आपको लक्ष्य-वेध की धुन समाये और कविजी ही को कोई कविता सूझ पडे!

चन्द्र—(अस्त्रो को सम्हालते हुए) श्वेत, मै तुम्हे जानता हूँ—भगवान ने तुम्हारी रचना फूलो से की है। तुम्हारे भीतर-वाहर सव जगह फूल-ही-फूल है। लेकिन, ऐसा सौभाग्य कितनो को मिल पाता है मेरे कवि? विधाता के भडार मे भी इतने फूल कहाँ है कि तुम्हारे ऐसे अधिक आदमी रचे जा सके। यहाँ वहाँ सव जगह तो काँटे-ही-काँटे है!

श्वेतकेतु—तभी तो हम सव काँटो के चक्कर मे फँसे है। कहाँ से उस दिन वे कुश-काटे उस काले खुरदरे तलवे मे गड गये!

चन्द्रगुप्त—तुम फिर गुरुदेव की वात ले आये!

श्वेत—लाऊँगा और वार-वार लाऊँगा, चन्द्र। मै ब्राह्मण हूँ। देखो, यह शुद्ध रक्त, देखो, यह विशुद्ध वर्ण। तुमने कहा, मै फूलो से वनाया गया हूँ, मै कहता हूँ, ब्राह्मण वर्ण को ही फूलो मे वना होना चाहिये। कोमलता, दया, क्षमा ये हमारे आभूषण है। काँटे अपना स्वभाव न छोडे, तो क्या हम काँटे वन जायँगे? क्या वन भी सकते है? पैर मे काँटे गडे, तो गडा करे? हम काँटे वन कर उनकी जडे खोदे और उनमे मट्ठा डाले! कहता हूँ चन्द्र, यह ब्राह्मणत्व नही है, नही है।

चन्द्र—गुरुदेव असाधारण पुरुष है, उन्हे साधारण मापदड से मत नापो, श्वेत।

श्वेतकेतु—असाधारण पुरुष! (मुस्कुराता हुआ) समझता हूँ चन्द्र, समझता हूँ। और दो असाधारण पुरुष सयोग से एक केन्द्रविन्दु पर आ मिले है! कुछ होकर रहेगा, कुछ घट कर रहेगा। और वह भी कोई

श्वेतकेतु—हाँ, माताजी! आप को आश्चर्य हो रहा है? देवीजी, मिट्टी और पत्थर एक ही तत्व से है, किन्तु किसी प्रबल भीषण दबाव से सिमट, सिकुड़ कर, मिट्टी का ही तत्व पत्थर बन जाता है। लगता है, माताजी के जीवन मे भी कोई, नही नही, कितने दबाव आये है, जिन्होने उन्हे पत्थर ही नही, चट्टान बना दिया है। नही तो आप ही बताइये, कोई समझबूझ वाली स्त्री, जैसी कि अपनी माताजी है, अपने एकलौते बेटे को ऐसे सनकी ब्राह्मण के हाथ सौप सकती है?

चन्द्रा—(क्रोध से) गुरुदेव को आप जो कुछ कह लीजिये, किन्तु माताजी पर .. ....

श्वेतकेतु—चन्द्रे, तुम पगली मत बनो। मै माताजी को दोष कहाँ देता हूँ, किन्तु, तुम्हे देखना चाहिये, माताजी जो बाहर से दीखती है, वह वह नही है। उनमे करुणा की कमी नही। बल्कि उन्हे देख कर तो मुझे उस चट्टान की याद आती है, जिसपर झरना अनवरत झरा करता हो। कठोरता और आर्द्रता का अद्‌भुत सम्मिश्रण! इसके विपरीत वह ब्राह्मण मुझे वैसी चट्टान लगता है जिसके भीतर अब भी ज्वालामुखी शान्त नही हुई है, वह न-जाने फिर कब आग उगलने लगे। किन्तु चट्टान फिर भी चट्टान है, चाहे उसके भीतर ज्वालामुखी धधक रही हो, या उसके ऊपर झरना झर रहा हो!

चन्द्रगुप्त—अरे, छोडो इन चट्टानो की बात, देखो, यह चन्द्रा मुझसे झगड पडी है, इसे मना दो!

श्वेतकेतु—तुम चन्द्रा को धोखे मे रख लो, चन्द्र! मुझे धोखा नही दे सकते। यह भी समझती है, तुम इसे प्यार कर रहे हो। किन्तु, तुम्हारे ऐसे लोगो के निकट प्यार का क्या मूल्य है—यदि यह बेचारी जान पाती!

चन्द्रा—कविजी, मै न प्यार जानती हूँ, न चाहती हूँ। माताजी का स्नेह ही मेरे लिए बहुत है।

श्वेतकेतु—इस विश्वास में मत रह चन्द्रे कि माताजी तुम्हें वह दिला सकेगी, जो वह चाहती है। नही, नही। वह ब्राह्मण कब क्या रचना कर देगा, कोई कह नही सकता?

चन्द्रगुप्त—क्यो, क्या बात है कि गुरुदेव पर आज बहुत बिगड़ पडे हो, श्वेत।

श्वेतकेतु—तुम गुरुदेव कह लो, मेरे लिए तो वह निकृष्ट ब्राह्मण है और ब्राह्मण भी कैसा, जाति से? वह जाति से ब्राह्मण हो सकता है, वर्ण से नही। और यह भी एक अद्‌भुत बात हो रही है

दूसरा अंक

स्थान : पाटलिपुत्र का राजप्रासाद
समय मध्याह्न

राजप्रासाद के एक कक्ष मे विजेता चन्द्रगुप्त का प्रसाधन उसकी माँ और उसकी प्रेयसी चन्द्रा कर रही है।

अत्याचारी नद पराजित हो चुका है। अब पाटलिपुत्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार है। आज सध्या को उसका विधिवत् राज्याभिषेक होगा।

राजप्रासाद का यह कक्ष सभी राजकीय उपकरणो से सुसज्जित है।

एक रत्न-खचित मच पर चन्द्रगुप्त बैठा है। उसकी कटि मे रेशमी पीली धोती है, जिसकी लाल किनारी पर सोने के काम है। कधे पर रेशमी लाल उत्तरीय है, जो सोने-पन्नो के कामो से जगमग हो रहा है।

कलाइयो पर, भुजाओ पर रत्नजटित आभूषण है। गले मे रत्नजटित तिलडी चमचमा रही है और छाती पर मोतियो और रत्नो की कई मालाये झूल रही है।

उसके मुखमडल को बिन्दियो से चित्रित कर दिया गया है।

माँ उसके सर पर फूल सजा रही है और चन्द्रा उसके पैर मे महावर लगा रही है।

माँ आनन्द-पुलकित है, अन्तत उसके मुख से वाणी फूट पडती है—

माँ—अहा! यह दिन भी देखने को मिला। (उसकी आँखो में आनन्द के आँसू उमड आते है)

कम सौभाग्य की बात नहीं कि जब इतिहास रचा जा रहा हो, तो उसके निकट से देखने का किसी को सुअवसर मिल जाय। किन्तु, सच कहता हूँ, मुझे चन्द्रा के भाग्य पर बार-बार तरस आती है। तुम पाओगे, गुरुदेव पायेंगे, माताजी पायेंगी—सब अपने-अपने मनोरथ पूरे करेंगे, किन्तु यह बेचारी !

चन्द्र—(झपट कर) मेरे लिए मत दुबले होइये कविजी। चलिये, (चन्द्रगुप्त की ओर) चलते हो चन्द्र ! चलो !

(चन्द्रा झपट कर आगे बढती है, दोनों उसका अनुगमन करते हैं)

(श्वेतकेतु का प्रवेश)

श्वेतकेतु—माँ, कौन ब्राह्मण है ? ब्राह्मण तो तुम्हारे सामने खडा है। वर्ण देखले, रूप देख ले, आचरण देख ले। ब्राह्मण कही काला होता है ? और भीतर तो और भी कालाघुप्प !

(चन्द्रगुप्त की भवो पर तेवर चढ जाते है)

चन्द्रा—बहुत सही कह रहे हो श्वेत ! भीतर तो और भी काला-घुप्प ! (चन्द्रगुप्त की ओर देख कर मुँह बनाती है)

चन्द्रगुप्त—लेकिन चन्द्रे ! तू इस तरह मत बोल। अभी तेरी चोटी उसी काले ब्राह्मण के हाथ मे है।

चन्द्रा—हट, वह अपनी चुटिया की कुशल मनावे !

श्वेतकेतु—उसकी वह चुटिया नही है, नागिन है नागिन ! नन्द-वश को वह सूँघ गई और न जाने किस-किस को वह सूँघ कर रहेगी, वह काली नागिन ! बाप रे !

चन्द्रगुप्त—श्वेत, तुम फिर सीमा का उल्लघन कर रहे हो !

माँ—ओहो ! तुम सब फिर उलझ गये । इस मगल-वेला मे यह सब नही कहते-सुनते। चन्द्रे ! बातो मे मत फँस, तू शीघ्र प्रसा-धन पूरा कर दे, बेटी !

श्वेतकेतु—यह भी क्यो नही कह देती माँ कि चन्द्र का प्रसाधन पूरा कर तू भी शीघ्र प्रसाधन कर ले। चन्द्र के आधे भाग की अधि-कारिणी न इसे बना रखा है तुमने ?

चन्द्रा—माँ ने बना रखा है, तो मै हूँ भी ! आप समझते क्या है ?

श्वेतकेतु—तो आज आधे सिहासन को भी तू सुशोभित करेगी ! क्यो ?

माँ—श्वेत, चन्द्रा भी उस सिहासन पर बैठेगी, बैठेगी। जो भग-वान चन्द्र को उस सिहासन पर बिठलाने जा रहे है, वह एक दिन चन्द्रा को भी उसपर बिठला कर रहेगे, बेटे।

श्वेतकेतु—तो मै कहूँ, शुभस्य शीघ्रम् क्यो नही किया जाता है माताजी ?

माँ—अरे, लग्न तो आने दो। मै अपनी बेटी का व्याह रचाऊँगी, अग्निदेव को साक्षी रख कर चन्द्र की अर्द्धांगिनी बनाऊँगी, फिर आधा सिहासन तो इसे आप ही मिल जायगा। क्यो बेटी ? (चन्द्रा की ठुड्डी पकड कर स्नेह से दुलराती है)

चन्द्रगुप्त—यह सब तुम्हारा आशीर्वाद है, माँ। कहाँ मैं पाटलिपुत्र की धूल मे पडा था, कहाँ देश के कोने-कोने मे भटकता-फिरता था, और कहाँ आज पाटलिपुत्र का यह राजभवन . .

माँ—और, कुछ देर में उसका स्वर्ण-सिंहासन भी तुझसे सुशोभित होगा बेटे। बेटे, बेटे, आज मैं फूली नही समा रही हूँ (आनन्दाश्रु को आँचल से पोछती है)

चन्द्रगुप्त—फिर कहता हूँ माँ, यह सब तुम्हारा आशीर्वाद है।

चन्द्रा—तुम्हारा, तुम्हारा, तुम्हारा! जैसे मेरा इसमें कुछ है ही नही।

माँ—है क्यो नही बेटी? यह तेरा सौभाग्य ही तो है। तू भी तो पाटलिपुत्र की धूल पर ही मुझे मिली थी। और जिस दिन तुझे वहाँ से उठा कर अपने घर लाई, उस दिन से मेरी कुटिया आनन्द-निकेतन बन गई। और, अब तो तेरे लिए यह राजभवन

चन्द्रगुप्त—माँ, तुमने चन्द्रा का सर फिरा दिया है!

चन्द्रा—अरे, इस सर पर मुकुट तो पडने दो, तब पाओगे, किसका सर अधिक फिरा हुआ है?

माँ—चन्द्रे! आज झगडने का अवसर नही है बेटी! तू चन्द्र का प्रसाधन तो पूरा कर दे। पाटलिपुत्र के सिंहासन के अनुरूप ही तो प्रसाधन भी चाहिये न? गुरुदेव आते ही होंगे। कहेंगे—मैंने उतना कर लिया, तुमलोगो ने इतना भी पार नही लगा।

चन्द्रा—गुरुदेव ने क्या कर लिया है, माँ! तिगड़म, तिगड़म, तिगड़म! क्या यही सबकुछ है?

चन्द्रगुप्त—उहूँ, सबकुछ तो है बात, बात, बात! तुम्हारी जीभ कतरनी नही बनी होती, तो कुछ हो पाता भला?

चन्द्रा—आप भी यह न समझिये कि आपकी भुजाओं ने [illegible] ने ही सारा किया-कराया है। बड़े-बड़े बलवानों और बुद्धिमानों की वीरता और चतुरता धरी रह जाती है! जिसके पुण्य-प्रताप से यह सब हुआ है, वह बेचारी तो उसे जीभ पर भी नहीं लाती। (माँ की ओर देखती है)

माँ—लेकिन उसे तू तो चुप रहने दे! बेटी, इस शुभ-वेला में उन पुरानी बातों को याद मत किया। जो कुछ हुआ, सब भगवान की कृपा से हुआ, यह ब्राह्मण है .

केतु—रचे है गुरुदेव। किस कवि की वाणी ऐसे अवसरो
र हुए विना रह सकती है। आज तो पाटलिपुत्र की गली-
ोत वाद्य से मुखरित हो रही है। जिनकी जिह्वाये सदा वद
उनके कठ से भी अनायास गान फूट रहे है। फिर कवि-
ऐसे मौन रह सकती है, गुरुदेव। आज गीत सावन की घटा
रह उमड-घुमड रहे है, उन्हे अक्षर बाँध कहाँ पाते है?
कुछ को तो बाँध ही सका हूँ।

ाणक्य—(एक वक्र मुस्कान के साथ) क्या कोई आपत्ति हो,
म आपके एकाध गीत पहले सुन ले।

तकेतु—किन्तु, मेरे पास जो नही गुरुदेव। और कोई वाद्ययत्र
यहाँ नही है।

चाणक्य—(चन्द्रा से) तो बेटी, तू भी श्वेत के साथ जा और
ो वीणा ला। और देखना श्वेत, तुम दोनो स्वर-साधन उसी ओर
आना, जिसमे यहाँ विलम्ब नही हो। समझे न?

श्वेतकेतु—जी।

चन्द्रा—जैसी आज्ञा।

(दोनो जाते है जाते समय श्वेतकेतु मर्म-भरी दृष्टि से चाणक्य
देखता है)

चाणक्य—(माँ से) और, माताजी, क्या मगल के सारे काम
पने सहेज लिये? यदि कोई कमी रह गई हो, तो उसे शीघ्र पूरा
र लेना चाहिये न, क्यो?

माँ—हाँ, हाँ, कई काम रह गये है, गुरुदेव। मै उन्हे सम्हाल
र अभी आई।

(माँ भी जाती है. चन्द्रगुप्त कुछ उद्विग्न हो उठता है)

चाणक्य—वे, तुम उद्विग्न मत हो। कुछ बाते है, जो हमलोग
एकान्त मे ही कर ले, तो अच्छा हो। हाँ, कोई उतनी बडी बात
भी नही।

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव की जो इच्छा, जो आज्ञा।

चाणक्य—देखो, चन्द्र, आज मेरे मनोरथ पूरे हुए। नन्दकुल का
ाश हुआ। किन्तु जिस नाश के पीछे निर्माण नही होता, वह नाश
क नाशकारी सिद्ध होता है, बेटे। अब तुम्हे पाटलिपुत्र के स्वर्ण-
न पर बैठना है और एक ऐसे राज्य की, नही, साम्राज्य की
चना है, जो हमारे पूज्य ऋषियो की चक्रवर्तित्व की कल्पना
करे।

श्वेतकेतु—माताजी, लगता है आपको भी उस ब्राह्मण ने चक्कर में डाल दिया है। मैं कहता हूँ, वह ब्राह्मण जब जिसको चाहेगा, सिंहासन पर बिठला देगा, लग्न की बात भी नहीं सोचेगा!

चन्द्रा—कविजी, चन्द्रा को सिंहासन की भूख नहीं है! और जो उसे मिलना है, कोई भी उससे वंचित नहीं कर सकता?

माँ—बहुत सही कह रही है मेरी बेटी। वाह री, मेरी दुलारी बिटिया! जो जिसे मिलना होता है कोई भी उससे उसे वंचित नहीं कर सकता। यदि किसी में ऐसी सामर्थ्य होती, तो क्या मुझी को यह दिन देखने को मिलता? आह! वे दिन! कैसे थे वे दिन! कैसे कटे वे दिन!

(सहसा उसकी आँखों में आँसू उमड़ जाते हैं, फिर वे झर-झर कर गिरते हैं। तीनों चकित हो रहते हैं। श्वेत घबरा उठता है)

श्वेत—माताजी! माताजी! मुझसे कोई धृष्टता हो गई क्या?

चन्द्रगुप्त—क्यों माँ? यह क्या माँ? ये आनन्दाश्रु तो नहीं हैं! तुम विह्वल क्यों हो गई माँ?

माँ—बेटे बेटे! (लिपट जाती है चूमने लगती है) लगता है आज हृदय को हल्का कर लूँ बेटे! तू भी बार-बार पूछा करता था न? आह! वह इन्द्रजाल! वह कुहेलिका!......

(सहसा दासी का प्रवेश)

दासी—गुरुदेव पधार रहे हैं।

(गुरुदेव का नाम सुनते ही चारों सजग हो उठते हैं। माँ और चन्द्रा चन्द्रगुप्त के प्रसाधन में लग जाती हैं। श्वेत शान्त भाव से बैठ जाता है। चाणक्य आता है। चारों उनका सादर अभिवादन करते हैं। चन्द्रगुप्त की ओर देख कर वह बोल उठता है)

चाणक्य—अहा! कैसा सुन्दर, कैसा दिव्य! हाँ लगता है मेरे बेटे पर आज देवत्व उतर आया है। क्या देवराज भी इतना सुन्दर होगा? (माँ की ओर लक्ष्य करके) माताजी, देखिये तो, यह [illegible] मुखमंडल! यह प्रशस्त ललाट! यह [illegible]! लगता है, यह [illegible] राजमुकुट पहनने के लिए ही बनाया गया था, यह ललाट जैसे [illegible] की ही प्रतीक्षा में था! (चन्द्रा से) बेटी चन्द्रे! कितना सुन्दर प्रसाधन कर दिया है तूने। माताजी ने तुझे कितना [illegible] दिया है? (श्वेतकेतु की ओर) और कविजी [illegible] के लिए कोई [illegible] रखा है आपने!

श्वेतकेतु—रचे है गुरुदेव। किस कवि की वाणी ऐसे अवसरो पर मुखर हुए बिना रह सकती है। आज तो पाटलिपुत्र की गली-गली गीत वाद्य से मुखरित हो रही है। जिनकी जिह्वाये सदा बद रही, उनके कठ से भी अनायास गान फूट रहे है। फिर कवि-वाणी कैसे मौन रह सकती है, गुरुदेव! आज गीत सावन की घटा की तरह उमड-घुमड रहे है, उन्हे अक्षर बाँध कहाँ पाते है? तोभी कुछ को तो बाँध ही सका हूँ।

चाणक्य—(एक वक्र मुस्कान के साथ) क्या कोई आपत्ति हो, यदि हम आपके एकाध गीत पहले सुन ले।

श्वेतकेतु—किन्तु, मेरे पास जो नही गुरुदेव। और कोई वाद्ययत्र भी तो यहाँ नही है।

चाणक्य—(चन्द्रा से) तो बेटी, तू भी श्वेत के साथ जा और अपनी वीणा ला। और देखना श्वेत, तुम दोनो स्वर-साधन उसी ओर करके आना, जिसमे यहाँ विलम्ब नही हो। समझे न?

श्वेतकेतु—जी।

चन्द्रा—जैसी आज्ञा।

(दोनो जाते है· जाते समय श्वेतकेतु मर्म-भरी दृष्टि से चाणक्य को देखता है)

चाणक्य—(माँ से) और, माताजी, क्या मगल के सारे काम आपने सहेज लिये? यदि कोई कमी रह गई हो, तो उसे शीघ्र पूरा कर लेना चाहिये न, क्यो?

माँ—हाँ, हाँ, कई काम रह गये है, गुरुदेव। मै उन्हे सम्हाल कर अभी आई।

(माँ भी जाती है: चन्द्रगुप्त कुछ उद्विग्न हो उठता है)

चाणक्य—वे, तुम उद्विग्न मत हो। कुछ बाते है, जो हमलोग एकान्त मे ही कर ले, तो अच्छा हो। हाँ, कोई उतनी बडी बात भी नही।

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव की जो इच्छा, जो आज्ञा।

चाणक्य—देखो, चन्द्र, आज मेरे मनोरथ पूरे हुए। नन्दकुल का नाश हुआ। किन्तु जिस नाश के पीछे निर्माण नही होता, वह नाश अधिक नाशकारी सिद्ध होता है, बेटे। अब तुम्हे पाटलिपुत्र के स्वर्ण-सिंहासन पर बैठना है और एक ऐसे राज्य की, नहीं, साम्राज्य की नीव रखनी है, जो हमारे पूज्य ऋषियो की चक्रवर्त्तित्व की कल्पना को सार्थक करे।

चन्द्रगुप्त—चक्रवर्त्तित्व की कल्पना ?

चाणक्य—हाँ, हाँ चक्रवर्त्तित्व की कल्पना। तुम्हे उसे साकार करना है, जिसकी स्थापना के लिए राम ने वनवास का दुख उठाया, लंकाकांड रचाया, जिसके लिए कृष्ण ने महाभारत का वह लोम-हर्षक युद्ध कराया अपने सम्पूर्ण गोत्र को बलि चढ़ाया! किन्तु, तो भी, जो कल्पना अधूरी ही रही। आसेतु हिमाचल के एकछत्र राज्य की वह कल्पना—जब देश की सम्पूर्ण इकाई एक तरह से सोचे, काम करे! ऋषियों की वह कल्पना आज भी कल्पना ही बनी पड़ी है बेटे।

चन्द्रगुप्त—यह असाध्य साधन और मुझ से? गुरुदेव! (झुक कर चाणक्य का चरण छूता है)

चाणक्य—हाँ, हाँ, तुमसे। यह साध्य है, इसे प्राप्त करना है तुम करके रहोगे। किन्तु, एक बात है बेटे। कहते हुए सकोच होता है किन्तु कहना ही है और उसपर आवश्यकता होने पर सोचना भी है।

चन्द्रगुप्त—वैसी कौन-सी बात है गुरुदेव, जिसपर आपको भी सोचना पड़े !

चाणक्य—सुनो बेटे। मेरी दृष्टि एक बार सदा एक ही लक्ष्य की ओर जाती है। जब उस दिन सहसा तुम्हे वह खेल रचाता हुआ पाया, मैंने निश्चय कर लिया तुम्हीं को लेकर अपने स्वप्न को साकार करूँगा। तुम्हारे शरीर मे वैसे लक्षण थे कि मैंने आवश्यकता भी नही समझी कि तुम्हारा कुल-गोत्र पूछूं। पीछे जब माताजी ने बताया, तुम अनाथ हो, मैंने इसे सौभाग्य ही समझा, क्योंकि तुम्हारे ऊपर कोई बोझ नहीं, अतः तुम्हारा विकास मनमाने ढंग से किया जा सकता था। किन्तु, चन्द्र आज जब तुम सिंहासन पर बैठने जा रहे हो, यह आवश्यक है कि तुम्हारे कुल-गोत्र की घोषणा की जाय।

चन्द्रगुप्त—कुल-गोत्र की? क्या सिंहासन पर बैठने के लिए किसी विशेष कुल-गोत्र का होना आवश्यक है, गुरुदेव?

चाणक्य—यदि हो, तो और अच्छा।

चन्द्रगुप्त—और यदि नहीं हो! (गर्व से) गुरुदेव, [illegible] विजेता को खोजता और [illegible] है!

चाणक्य—(मुस्कुराता हुआ) हाँ बेटे, सिंहासन विजेता को खोजता और वरण करता है। किन्तु [illegible]

चाहता है कि वह, जो उस पर बैठने जा रहा है, घोषणा करे, वह किसी उच्चकुल से है। जो स्वय ऊँचा है, वह ऊँचाई की ओर ध्यान रखे, तो आश्चर्य क्या ?

चन्द्रगुप्त—किन्तु ऐसी घोषणा . . .

चाणक्य—ऐसी घोषणाये की गई है और राजसिहासन की महिमा देखो, उन घोषणाओ को लोगो ने सर-आँखो पर लिया है। सूर्य और चन्द्र तो आकाश के देवता है न ? कही उनका वश पृथ्वी पर हो सकता है ? किन्तु घोषणाये की गई, हम सूर्यवशी है, हम चन्द्र-वशी है, और लोगो ने सर झुका कर उन्हे स्वीकार किया ?

चन्द्रगुप्त—जैसे पृथ्वी-पुत्र मे शासन की क्षमता नही !

चाणक्य—शासन पृथ्वी-पुत्र ही करता है, किन्तु यदि वह ऊँचे से, ऊपर से, प्रेरणा ले, तो कोई बुराई होगी ?

चन्द्रगुप्त—यह झूठी महत्ता

चाणक्य—(फिर मुस्कुराता) तो लगता है, तुमने सत्य को ही ससार मान लिया है। ससार मिथ्या है और महत्ता तो मिथ्या-ही-मिथ्या है। किन्तु यदि ससार मे रहना है तो मिथ्याओ की सृष्टि करनी पडती है, करनी पडी है, चन्द्र !

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव, यह क्या कह रहे है आप ?

चाणक्य—(गम्भीरता से) हाँ, हाँ चन्द्र ! तुम वीर हो, पुरुष-पुगव हो, नर-केसरी हो। तुम्हे अपनी भुजाओ पर भरोसा है और उन भुजाओ पर विजय की देवी ने अपने हाथो विजय-ककण बाँध दिया है। तुम्हे गर्वित होने, घमड करने का अधिकार भी प्राप्त हो चुका है, चन्द्र ! किन्तु, तुम जान पाते, विजय की इस देवी को प्रसन्न करने के लिए इस काले ब्राह्मण को क्या-क्या काले कृत्य .

(आवेश में उसका कठ अवरुद्ध हो जाता है, उसकी आँखो से चिनगारियाँ फूटने लगती है)

चन्द्रगुप्त—(आश्चर्य मिश्रित विनम्रता से हाथ जोडता हुआ) गुरुदेव !

चाणक्य—हाँ, काले कृत्य ! काले, काले कृत्य ! दूसरा कोई चारा भी तो नही था और जब तक उनमे लगा था, उनके रूपरग देखने का अवकाश भी कहाँ था ? उन्हे देखा है तब, जब यह शिखा बँध चुकी है, जब लक्ष्य-प्राप्ति हो चुकी है। और जब देखा है, तब काँप उठा हूँ। किन्तु मै काँप कर, डर कर रह जाने वाला, रुक जाने-वाला मनुष्य नही हूँ, चन्द्र। जिसे प्रारम्भ किया जाय उसे उसके तार्किक

हैं। बेटे, आदमी क्या वही होता है, जैसा हम बाहर से देखते हैं ? यदि आदमी उतना सरल होता, तो जगत मे इतना कोलाहल नही दिखाई पडता श्वेत। मुझे लगता है, गुरुदेव के जीवन मे कुछ अद्भुत ग्रथियाँ उलझी पडी हैं। तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक कोई यो ही नही आ सकता; किसी कोरे आदर्शवाद से प्रेरित होकर भी नही। निश्चय जानो, उस दिन नन्द की राजसभा मे जो शिखा खुली, वह मन के भीतर कब से न खुली-खुली रही होगी। और क्या कुश-कटको ने कुछ इतना बडा अपराध किया था कि उन्हे जड से खोदा जाय, और मट्ठा पटाया जाय। ये सब सूचित करते हैं, गुरुदेव वही नही हैं, जैसा हम ऊपर से देखते हैं—एक क्रोधी, दृढनिश्चयी, आत्मनिष्ठ, सतत चौकस, और सदेहशील चतुर ब्रह्मण-मात्र। न जाने इन सब बाहरी लक्षणो का मूल-स्रोत कहाँ है ? ऊपर से जो यो भयानक लगता है, उसके भीतर क्या है—उसे अन्तर्यामी ही जानता है, बेटे।

(माँ गम्भीर बन जाती हैं। सब के मुखमडल पर गम्भीरता छा जाती है—उस गम्भीरता को कम करती है चन्द्रा—)

चन्द्रा—किन्तु सच पूछो तो, माँ, मै उन्हे देख कर ही डर जाती हूँ। उनके आँसुओ ने तो मुझे और डरा दिया है।

माँ—डरती तो मै भी हूँ बेटी। नारियो को वह कभी स्नेह या वत्सलता की दृष्टि से नही देख पाते, यह तो स्पष्ट है। और मुझसे तो न जाने क्यो एक विचित्र तनाव रखते हैं, मेरी समझ मे नही आती, बात क्या है ?

श्वेतकेतु—मै कहूँ, क्या बात है ? वह आपसे ईर्षा करते हैं कि यह चन्द्र आपकी कोख से क्यो पैदा हुआ—वह नारी क्यो न हुए कि चन्द्र को उत्पन्न करने का सौभाग्य भी उन्हे ही मिल जाता ! और चन्द्रे, तुम्हे देख कर तो उनके मन में आवे सिहासन का ही लोभ उदय हो जाता है।

(सब हँस पडते हैं)

चन्द्रगुप्त—क्या अच्छा कहा तुमने श्वेत। फिर तुम्हारी कविता झकृत हुई। श्वेत, तुम्हारे मुँह से ऐसे ही फूल झडने चाहिये। और हाँ, हाँ, वह तुम्हारा गीत। गुरुदेव ने कहा है, मै उनकी ओर से क्षमा माँग लूँ ..

श्वेतकेतु—क्षमा की आवश्यकता नही है चन्द्र। मै गुरुदेव को जानता हूँ, उन्हे पहचानता हूँ—वह मुझे हटा कर तुमसे बाते करना चाहते थे, जिसके लिए उन्होने वह बहाना किया था। नहीं तो कहाँ गीत-

सगीत और कहाँ गुरुदेव? किन्तु, गुरुदेव ऐसे लोगो के होते हुए भी गीत-संगीत के चाहक रहे है और रहेंगे चन्द्र! गीत-संगीत! अहा! हमारे ही हृदय में निहित, उदात्त, अस्पष्ट भावनायें जब सहसा स्वर के रूप में साकार हो उठती हैं और इस जगत में गुमसुम पडी वैसी ही अनेक भावनाओ को झकृत कर उन्हें सपक्ष होकर उडने को वाध्य कर देती है! गीत-संगीत—ससार की सबसे मधुर, कोमल अभिव्यक्ति! किन्तु उसी तरह सुकुमार तुनुक। जहाँ वातावरण में थोडी-सी खटक पड़ी, वह लुप्त हुआ। गुरुदेव ने यहाँ के वातावरण को सगीत के योग्य नही रहने दिया—चलो, माताजी के कक्ष में। हम वही गायेंगे, वजायेंगे और यदि चन्द्रा चाहे, तो नाचेगे भी। हाँ, हाँ, चन्द्रे चलो, हम नाचे। आज हमारे ही जीवन का नही, देश के, राष्ट्र के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ हो रहा है। आज हमारी कला किस प्रकार मौन-अचल रह सकती है? चलो चन्द्रे, चलिये माताजी, चलो चन्द्र, हम चले। आज माताजी के कक्ष को हम गीत-नृत्य-वाद्य से भर दें, भर दें!

(भावावेश में चन्द्रा का हाथ पकड़ कर वह खीचता हुआ जाता है। चन्द्रा हँस रही है। चन्द्रगुप्त मुस्कुरा रहा है। माँ के मुखमडल पर भी उल्लास की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। चारो आनन्द-उल्लास के बीच जाते है)

तीसरा अंक

स्थान : सिन्धु-तट के निकट का युद्ध-शिविर

समय : निशीथ

सम्राट चन्द्रगुप्त की सेना ने यवनो के सेनापति सेल्यूकस की सेना को आज पराजित कर दिया है।

सेल्युकस ने अपनी कन्या चन्द्रगुप्त को अर्पित कर दी है। और यौतुक मे भारत के अधिकृत अचलो के अतिरिक्त यवन-सेनापति ने सीमाप्रदेश के कई अंचल भी अर्पित कर दिये हैं।

भारतीय शिविर मे आनन्द और उत्साह का समुद्र आज सध्या से ही हिलोरे ले रहा था। किन्तु अब चारो ओर शाति है।

आज पूर्णिमा है। चमचमाता चन्द्रमा आकाश के आधे भाग को पार कर चुका है। चारो ओर शीतल चन्द्रिका छिटक रही है।

सामने चन्द्रगुप्त का राजकीय शिविर है।

नील वर्ण का वह सोने-चाँदी के तारो से मढ़ा शिविर चाँदनी पड़ने से तारा-मडित आकाश की तरह चमचम कर रहा है।

शिविर के आगे एक युवक टहल रहा है।

गम्भीर है मुख-मडल उसका। टहलता-टहलता रह-रह कर वह ठहर जाता है, उसाँसे लेता है, अचानक उसके होठ हिलने लगते हैं।

वह युवक कौन है ?

वह है भारत का सम्राट्, महान विजेता, चन्द्रगुप्त! क्या बात है कि इस विजय की रात्रि मे, जब यवन-राज की कन्या उसे अर्पित की जा चुकी है, वह यवन-कन्या उनके शिविर में है, वह इस प्रकार व्याकुल बना बाहर टहल रहा है ?

देखिये, फिर वह रुका, उसाँसें ली और उसके होंठ फिर हिल उठे। वह आप ही आप क्या बोले जा रहा है—

चन्द्रगुप्त—विजय! विजय! विजय! यहाँ लड़ो, वहाँ लड़ो—ऐसे लड़ो, वैसे लड़ो,—इसे जीतो, उसे जीतो। किन्तु सारे किये-कराये का, लड़ाई-झगड़े का जो निष्कर्ष आता है, उसका नमूना आज सामने है। सिन्धु के उस पार हाय-हाय मची रही, इस पार रंगरलियाँ मनती रही! हम विजेता हैं—आमोद-प्रमोद हमारा अधिकार है। आनन्द मनाओ, आनन्द मनाओ—खाओ, पीओ, नाचो, गाओ। फिर, ... फिर थकथका कर सो जाओ! सभी सो गये हैं, कैसा सन्नाटा! सिन्धु के दोनों ओर सन्नाटा है इस समय। जो रोये, वे भी सो गये, जो हँसते-हँसते लोटपोट हो रहे थे, वे भी सो गये। किन्तु, चन्द्र, चन्द्र! तुम्हारे भाग्य में सोना भी नहीं बदा है। क्योंकि तुम विजेताओं के विजेता हो। विजेता! विजेता! (आकाश की ओर देखता हुआ) तारों की पलकों पर भी नींद छा रही है, किन्तु तुम्हारी पलकों पर! अरे, कोई कैसे सो सकता है, जब ....

(मां का प्रवेश)

मां—अरे! बेटे! तू, यहाँ? अब तक जगा है?

चन्द्रगुप्त—ओहो, मां! तुम भी नहीं सो सकी मां! आज उत्सव का दिन है, सब सो गये हैं—

मां—जब बेटा जगा हो, क्या मां को नींद आ सकती है? जा बेटे, सो जा, सो जा! वह बेचारी क्या सोचती होगी?

चन्द्रगुप्त—हां, बेचारी? बेचारी ही तो! कितना बड़ा सत्य निकल गया तुम्हारे मुख से मां!

मां—तू यह क्या बोल रहा है बेटे? वह बेचारी है?—यवनराज की कन्या आज आर्यावर्त्त की राजरानी है! उससे बढ़कर कौन-सी लड़की इस धराधाम पर सौभाग्यशालिनी होगी रे?

चन्द्रगुप्त—और वह भी सौभाग्यशाली ही है, जिसकी बगल में उस सौभाग्यशालिनी को सुला दिया गया है। क्यों मां? क्या राजाओं का विवाह ऐसा ही होना है? कभी किसी की बगल में कोई दासी-कन्या सुला दी गई, कभी किसी की बगल में किसी राजकन्या को लिटा दिया गया!

मां—लिटा दिया गया है! (आश्चर्य से उसे नीचे से ऊपर तक देखती है)

चन्द्रगुप्त—तो क्या वह स्वय आई है माँ?

माँ—उसके पिता ने उसे अर्पित किया है, बेटे।

चन्द्रगुप्त—क्योकि वह पराजित हो चुका था! और उसमे इतनी समझ थी कि वह जाने, इस स्थिति मे उसे क्या करना चाहिये? अर्थात अपनी पराजय को जय मे बदल देने की बुद्धिमानी उसमे थी।

माँ—ये सब क्या सोच रहा है तू बेटे! जा, सो जा। वह बेचारी .. हाँ, फिर कहती हूँ, वह बेचारी क्या सोचती होगी?

चन्द्रगुप्त—कुछ नही सोच रही होगी माँ, वह तो खुर्राटे लेकर सो रही है, जैसे कोई विजेता सोता हो!

माँ—विजेता? यह क्या-क्या सूझ रहा है तुझे?

चन्द्रगुप्त—माँ! बडा तमाशा रहा! वह आई, मुस्कुराई, कुछ बोलने की चेष्टा की! किन्तु क्या बोलती? थोडी देर आश्चर्य-चकित इधर-उधर देखती रही। फिर शय्या पर इस तरह लुढक गई, जैसे कोई रुई का गट्ठर लुढक जाय! और कुछ क्षणो मे ही वह खुर्राटे लेने लगी। उसकी वह लापरवाही की नीद ही मेरी इस रत-जगी मे परिणत हो गई है, माँ। बार-बार सोचता हूँ, यह क्या हो गया? एक ऐसी लडकी, जिससे न जान, न पहचान, जो न हमारी भाषा जानती है और न हम जिसकी भाषा जानते है, एक दिन अचानक जीवन-भर के लिए गले मे बाँध दी गई और ससार मे घोषणा यह की गई कि यह विजय की भेट है—आह री विजय, वाह री भेंट!

माँ—गुरुदेव ने जो कुछ किया है, सोच-समझ कर ही किया होगा, बेटे!

चन्द्रगुप्त—माँ, इधर पा रहा हूँ, तुम्हारा भाव गुरुदेव के प्रति बदल रहा है। याद है, तुम्हीने कहा था—वह जादूगर है, मै उनसे डरती हूँ, वह हमे भटका रहे है। और, वही तुम हो, जो अब गुरुदेव की प्रशसा करती हुई नही अघाती। यह अद्भुत परिवर्तन है, माँ।

माँ—हाँ, परिवर्तन है, किन्तु तू इसे अद्भुत क्यो कहता है? यह स्वाभाविक है। गुरुदेव की नीति सफल हुई है!

चन्द्रगुप्त—सफल! मानो जीवन के लिए सफलता ही सबसे बडी वस्तु हो।

माँ—ओहो, बहस छोड। जा, सो।

चन्द्रगुप्त—मै सो नही सकता माँ, सो नही सकता!

(सहसा चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य—सोना तो सोना है! आदमी जितना जगता है, उतना ही अधिक पाता है। कोई बात नहीं चन्द्र, यदि तुम सो नहीं पाते! ज्यों-ज्यों उत्तरदायित्व बढ़ता है, निद्रा दूर भागती जाती है। सुख चैन, भोग विलास—ये सब छोटे लोगों के लिए हैं। ये पाशविक वृत्तियाँ है, जो मानव में अभी तक वर्तमान है!

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव, (व्यंग्य से) आप भी अबतक नहीं सोये गुरुदेव!

चाणक्य—मेरे लिए यह पहली रात नहीं है चन्द्र, जब सारी-सारी रात अनिद्रा में ही बीत गई हो! थोड़े दिनों के बाद तुम्हे भी इसका अभ्यास हो जायगा, बेटे!

माँ—गुरुदेव, यह क्या कह रहे हैं, गुरुदेव! ऐसा अभिशाप मेरे बेटे को.....

चाणक्य—माताजी, अब यह चन्द्र तुम्हारा ही बेटा नहीं है। देखो, क्या यह वही चन्द्र है, जिसे तुमने मुझे सौंपा था? वह चन्द्र तो अब भी पाटलिपुत्र के निकट गायें चरा रहा होगा! यह तो सारे देश का चन्द्र है, जो सिन्धु-तट पर संसार के विजेताओं के विजेता के रूप में खड़ा है। जो मातृभूमि का त्राता है, जिसने माता के सर के कलंक के टीका को दूर किया है! एक ही देश, टुकड़ों-टुकड़ों में बँटा! कहीं स्वतंत्रता, कहीं परतंत्रता! और सब जगह छिन्नभिन्नता! ऋषियों की कल्पना साकार की है इसने! यह ऋषिपुत्र है, देवपुत्र है। तुम्हारे सामने भारत का प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् खड़ा है माताजी! देखो, अच्छी तरह देखो क्या यह तुम्हारा चन्द्र है?

माँ—गुरुदेव, मुझसे मेरा बेटा मत छीनिये, गुरुदेव!

चाणक्य—(मुस्कुराता हुआ) कौन किससे छीनता है? हाँ, जो जिसके लिए होता है, वह उसे प्राप्त हो जाता है। कहाँ जन्म लिया होगा उस यवन-कन्या ने? आज वह आपकी पुतोहू के रूप में आपके घर में सोई है।

माँ—गुरुदेव, उसी के कारण तो मेरे बेटे को नींद नहीं आ रही है!

चाणक्य—(मुस्कुराते हुए) सच बेटे?

चन्द्रगुप्त—नहीं, [illegible] हीं नहीं, गुरुदेव! मुझे लगता है, [illegible] सेनापति ने आपको पराजित कर दिया! सिन्धु-तट पर [illegible] सेना ने अनार्य [illegible], आपकी बुद्धि ने मुझे [illegible] लिये!

आज वह पराजित होकर विजयी बना है! जो कभी इस देश के एक छोटे से अश का अधिपति था, वह अपनी कन्या भेज कर आपके चक्रवर्तित्व के स्वर्णसिहासन के आधे भाग पर अधिकार पा गया है। उसकी वह कन्या विजय की नीद ले रही है, मै आपकी पराजय पर छटपटाता फिर रहा हूँ!

चाणक्य—ओहो, बडी दूर की बात सोची है तुमने चन्द्र। लेकिन दूरी कुछ इतनी बडी है कि इस बात से भी अधिक दूर की बात सोची जा सकती है बेटे।

चन्द्रगुप्त—दूसरी कौन-सी बात हो सकती है, गुरुदेव?

चाणक्य—बेटे, बात तो सचमुच इतनी दूर की है कि कदाचित वहाँ तक किसी की कल्पना तक नही जाय। हो सकता है, समय के पहले ही उसका शुभारम्भ हमने किया हो। प्रत्येक देश मे चक्रवर्ती शासन—किन्तु उसके बाद? जगन्नाथ का रथ क्या वही रुक जायगा? मुझे लग रहा है, आज सिन्धुतट पर हमने जिस सम्बन्ध की नीव डाली है यदि वह सफल हुआ तो फिर पूरब-पश्चिम, श्याम-श्वेत—वर्ण-भाषा, सीमा-दिशा आदि के सारे भेदभाव नष्ट हो जायँगे! यवन सेनापति ने चाहे जिस उद्देश्य से अपनी कन्या को उपहार रूप मे भेजा हो, मैंने स्वीकार करने के पहले भलीभाँति सोच लिया है, चन्द्र!

चन्द्रगुप्त—तो आप अपने चक्रवर्तित्व की सीमा को स्वयं तोड़ रहे है।

चाणक्य—सीमाये टूटती ही है। पखेरू अडे मे पलते है, किन्तु एक दिन अडा टूटता है, तभी पखेरू के पखो की सार्थकता सिद्ध होती है। पिंड, अड, ब्रह्माड—हमारे ऋषियो ने सभी कल्पनायें कर रखी है बेटे।

चन्द्रगुप्त—किन्तु इसकी नीव मे पराजय है, इससे मुझे डर है, आपका प्रयत्न सफल नही हो सकेगा, गुरुदेव!

माँ—(व्याकुलता और कातरता से) ऐसा मत कहो बेटे!

चाणक्य—चन्द्र, दो डाले कभी अचानक आ मिली हो, किन्तु सदा यह देखा गया है, कलम बाँधी जाती है—दो ओर से दो डाले लेकर उन्हे मिलाया जाता है! और जहाँ दो मिलाये जाते है, वहाँ थोडा बल का प्रयोग करना ही पडता है।

चन्द्रगुप्त—मानव को स्वय मिलना चाहिये गुरुदेव, जहाँ मिलाने की चेष्टा हुई, मानवत्व समाप्त होकर रहेगा! और एक सकोच की बात है, किन्तु आज मै उसे छिपा कर नही रख सकता गुरुदेव!

आप ही कहिये, क्या मिली हुई दो डालो को हटा कर तीसरी को मिलाने की चेष्टा एक महान अन्याय नही है गुरुदेव ?

चाणक्य—तुम चन्द्रा की बात सोच रहे हो ?

माँ—हाँ, गुरुदेव, उस बेचारी पर यह महान अन्याय हुआ है! हाय! उसके जीवन भर की साधना और साध की जैसे हत्या हो गई! आज इस सिंधु-तट पर सैनिक ही नही मरे है, एक भोली बालिका की क्रूर हत्या हुई है, मुझे ऐसा लग रहा है! मैं चेष्टा करके भी सो नही पाई हूँ, गुरुदेव! गुरुदेव, यह आपने क्या कर दिया? (करुणा से विह्वल आँखे पोछने लगती है)

चाणक्य—(दृढता भरे शब्दो मे) हत्या हुई है! हाँ, हुई है! मानता हूँ, स्वीकार करता हूँ! किन्तु याद रखिये माताजी, किसी की हत्या होती है, तभी कोई जीवन पाता है। जहाँ राष्ट्र का प्रश्न है, वहाँ व्यक्तियो के प्रश्न को नही घुसेडा जा सकता। और सुन लो चन्द्र, महान उद्देश्य और कोमल भावना साथ नही चल सकते। कही कठोर होना पडता है, और वही यह स्थल है।

चन्द्रगुप्त—किन्तु गुरुदेव, यह कोमल भावना है, जो मानव को मानव बनाता है, बनाये रखता है, क्या कोमल भावना ऐसी तुच्छ वस्तु है कि उसे सदा यो ठुकराया जाय ?

चाणक्य—(पूरी गम्भीरता से) चन्द्र, बेटे, जिसे मैं भुला पाया हूँ, उसे खोद कर मत जगाओ। मुझे बहुत कुछ कहना है—और उनमें से कुछ का साक्षी यह सिन्धु है! (व्याकुल होकर टहलने लगता है! फिर रुक कर कहता है)—चन्द्र, कही तुमने देखा है, ब्राह्मण काला हो। मेरे माता-पिता ने यह रंग मुझे नही दिया था बेटे! मैं भी कभी सुन्दर था, मेरा वर्ण भी तपाये सोने-सा दमक करता था! किन्तु जिसके भीतर दिनरात धुआँ-धुआँ हो, वह स्वर्ण-कलश कब तक अपने रंग को सुरक्षित रख सकता है? आह रे वह धुआँ, धुआँ! जिसकी घुटन ने इस शरीर को, इस मन को इतना विरूप कर दिया! ओहो! ओहो!! (चेहरे पर उन्माद की-सी भावना)

चन्द्रगुप्त—(आश्चर्यमय भय के साथ) गुरुदेव, गुरुदेव!

माँ—(झुक कर चरण छूती है) गुरुदेव!

चाणक्य—(विह्वलता की वाणी में) हाँ, यह सिंधु ही साक्षी है! इसी सिंधु के किनारे यह घटना घटी थी। मेरा घर सिंधु-तट पर ही था। इसी तरह उन दिनो भी यूनान का चोर आया था और

चाँदनी ऐसी ही खिलती थी। दो हृदय दो झोपडो से निकलते थे, सिंधु-तट पर आते थे, मिलते थे, हँसते थे, गाते थे, नाचते थे। किन्तु इस सिंधु से यह सब नही देखा गया। ये नदियाँ क्या है? जानते हो? सदा निम्नगामिनी होती है ये। पतन ही इनकी दिशा है। ये गिराती है, उठाती नही। और जो गिरा, उसे वहा ले जाती है। एक को यह सिन्धु वहा ले गई और दूसरे ने निश्चय किया, वह सारे सिन्धुओ को सुखा देगा—पृथ्वी मे कही तरलता का, सरसता का, फिसलन का, पतन का नाम नही रहने देगा! किन्तु, कैसा चक्र। यह सिन्धु आज भी वह रहा है, और उस ब्राह्मण ने अपनी ही ज्वाला से अपने को काला कर लिया। और, उस काले-पन पर पर्दा डालने को आदर्श का एक आवरण तो उसने ओढ लिया, किन्तु, जब वह आदर्श पूरा होने जा रहा है, अपनी नग्नता से वह घबरा रहा है। (व्याकुल हो टहलने लगता है)

चन्द्रगुप्त—नग्नता। यह क्या कह रहे है गुरुदेव?

चाणक्य—जो कह रहा हूँ, वही सत्य है। आज तक तुमने जो देखा, समझा, सब असत्य। आदर्शवाद। हाँ, यह एक आवरण है। किन्तु यह आवरण उतना ही आवश्यक है, जितना मनुष्य के लिए वस्त्रो की, परिधानो की आवश्यकता है। कोई वस्त्र के साथ जन्म नही लेता, किन्तु नगा रहना कौन पसद करेगा? मनुष्य मे इतने छिद्र है कि उन्हे ढाँकना ही पडता है। मानव-मन भी उसके तन के ही अनुरूप होते है। वहाँ भी छिद्र-ही-छिद्र है। आदर्श से ही उन्हे ढँकना होता है। वस्त्र जितने ही शुभ्र हो, सुन्दर हो, उतने ही अच्छे—आदर्श भी जितना ही उज्वल हो, प्रोज्वल हो, दिव्य हो, दिप्त हो, उद्दीप्त हो, उतना ही शुभकर। (अचानक रुक जाता है· ऊपर की ओर टकटकी लगा कर देखता रहता है: माँ और चन्द्रगुप्त भय-कातर दृष्टि से उसकी ओर देखते रहते है. फिर वह आप ही बोल उठता है) अपने छोटे-से ससार को अपने हाथो जलाकर उस युवक ब्राह्मण ने एक नये ससार की सृष्टि करनी चाही और उसे वह नया ससार ऋषियो की उस चक्रवर्तित्व की कल्पना में मिली। किन्तु, उसने आज इस सिंधु-तट पर उससे भी बडी एक कल्पना पाई है चन्द्र। "वसुधैव कुटुम्बकम्"—सारा ससार एक कुटुम्ब में परिणत हो, ऋषियो ने कहा तो, किन्तु उनका आरम्भ कैसे होगा, वह भी नही सोच सके थे। जब यवन-सेनापति ने यह सदेश भेजा मुझे उसमें उस कल्पना की झलक मिली, मैंने झट स्वीकार कर लिया। और अब इस कल्पना में मैं ऐसा

विभोर हूँ कि इच्छा होती है, एक बार फिर इस सिन्धु-तट पर गाऊँ, नाचूँ। (भावना-मग्न हो उठता है)

(श्वेतकेतु का प्रवेश)

श्वेतकेतु—हाँ, हाँ, चलिये गुरुदेव, चलिये, हम-आप दोनों ही नाचें। यह विमल धवल चन्द्रिका, यह शुभ्र सलिला सिन्धु, उसकी रजतमयी बालुका-राशि। चलिये हम नाचें, नाचें गुरुदेव!

चन्द्रगुप्त—श्वेत, यह क्या बोल रहे हो श्वेत! सोचो, कहाँ हो? किसके सामने हो?

श्वेतकेतु—गुरुदेव आधुनिक दुर्वासा हैं, मुझे शाप दे दें; तुम अब सम्राट् हो, मुझे फाँसी दे दो! किन्तु आज मेरे आनन्द की सीमा नहीं है चन्द्र, जब गुरुदेव के मुँह से मैंने गाने और नाचने की बात सुनी है! गुरुदेव, गुरुदेव!—चलिये गुरुदेव! अपनी-अपनी कल्पनाओं में विभोर दो ब्राह्मण आज सिन्धु-तट पर नाचें और आसमान के देवता,—यह चन्द्र, ये तारे, यह ध्रुव—इस विस्मयकारी दृश्य को देखें और वे भी नाच उठें, नाच उठें! (नाचने लगता है)

चन्द्रगुप्त—(उसे पकड़ता हुआ) श्वेत, श्वेत! तुम होश में नहीं हो श्वेत! यह तुम्हें क्या हो गया है? गुरुदेव गुरुदेव, क्षमा कीजिये!

चाणक्य—आज सबको क्षमा है चन्द्र! तुम सब का मंगल हो, कल्याण हो, मैं चला।

(चाणक्य जाता है: श्वेत की मुद्रा बदल जाती है: घृणा के स्वर में वह कहने लगता है)

श्वेतकेतु—ढोंगी ब्राह्मण! एक अबला की हत्या कर यहाँ नाच पसारने आया था। इस सिन्धु-तट पर उसे क्या मिला? इतने लोगों को लड़ा मारा और पाया क्या? एक लड़की! और एक लड़की की हत्या कर उसके शव पर इस दूसरी लड़की को अभिषिक्त किया! बेचारी चन्द्रा! (उसकी आँखें सजल हो उठती हैं)

माँ—हाँ, बेचारी चन्द्रा! आह, जीवन-भर जिसकी आस लगाये रही, वह उससे अचानक छीन लिया गया! ओह!

श्वेतकेतु—अचानक नहीं छीन लिया गया माँ। यह सब उस बूढ़े ब्राह्मण का जानबूझ कर रचा गया षड्यंत्र है। जब पाटलिपुत्र में चन्द्र के राज्याभिषेक दिन उसने शुभ-मुहूर्त की बात कह कर उसको बहला दिया और उस बेचारी को स्वर्ण-सिंहासन पर नहीं बैठने दिया

उसी दिन मैंने समझ लिया, उसकी टेढी खोपडी मे अवश्य कोई खुराफात है! और बात साफ है, वह नही चाहता होगा कि जब चन्द्र भारत का सम्राट् बनने जा रहा है, तो किसी साधारण कन्या से उसका विवाह हो। मुझे तो सन्देह है कि यदि उसे अन्त मे यह पता नही चल जाता कि आपलोग किसी राजकुल से है, तो, इस बारे मे भी वह सोचता कि चन्द्र को सिंहासन पर बैठने दे या नही।

चन्द्रगुप्त—तो तुम समझते हो, मै गुरुदेव की कृपा से सिंहासन पर बैठा हूँ?

श्वेतकेतु—प्रश्न यह नही है, चन्द्र कि तुम क्या समझते हो? मूल बात यह है कि वह काला ब्राह्मण क्या समझता है? वह अपने को ऋषियो का प्रतिनिधि मानता है। जो कुछ करता है, सोचता है, वह उनके आदर्शो को ही मूर्त रूप दे रहा है। और इन आदर्शो को मूर्त रूप देने के लिए वह चाहे जो कुछ भी कर सकता है। तुम्हे शायद पता नही हो, एक नया शास्त्र ही बना रहा है वह। कहता है, ऋषियों ने धर्मशास्त्र बनाये, मोक्ष-शास्त्र बनाये। किन्तु वह भूल गये, मानव जीवन की चतुर्विध प्राप्ति का प्रथम चरण है अर्थ। पहले अर्थ पर शास्त्र बनना चाहिये। कुशल यह हुई कि वह गृहस्थ नही रहा, नही तो एक कामशास्त्र भी बना डालता!

चन्द्रगुप्त—तुम कैसे समझते हो, गुरुदेव कभी गृहस्थ नही रहे?

श्वेतकेतु—तो मान लो, वह कामशास्त्र पर भी लिख कर रहेगे। हाँ, यहाँ भी चालाकी से काम लेगे। तुम्हे मालूम है, उनके कितने नाम है? और किस नाम से क्या काम करते है?

(चन्द्रा का प्रवेश)

चन्द्रा—इस उतरती रात में किसके नामो और कामो की गिनती हो रही है? अरे, यहाँ आज तो जैसे मेला लगा है! माँ, आप अब तक जगी है—चन्द्र, तुम यहाँ? इसे अकेली .

(माँ चन्द्रा की उपस्थिति से ही उद्विग्न हो उठती है; चन्द्रगुप्त की सारी सुप्त स्नेह-भावना जैसे जग जाती है; वह अपनी अश्रुसिक्त आँखो को पोछने लगता है। श्वेत कहता है)

श्वेतकेतु—चन्द्रे! सब का अपना भाग्य होता है।

चन्द्रा—उनका भाग्य? भारत की सम्राज्ञी! विजेता की अर्द्धांगिनी! आज उनसे बढ़कर कौन ललना सौभाग्यशालिनी होगी इस धराधाम में कविजी?

परिणय-सूत्र मे बाँधती हूँ। बेटे श्वेत, मँगल-मत्र पढो बेटे। इस निर्मल, विशुद्ध, पवित्र मगल-पर्व के लिए तुम्हारे ऐसे निर्मल हृदय, विशुद्ध हृदय, पवित्र हृदय पुरोहित भी दूसरा कौन मिलेगा? पढो, मगल-मत्र पढो बेटे।

(श्वेतकेतु मत्र पढने लगता है माँ चन्द्रा और चन्द्रगुप्त के हाथो को लेकर एक साथ जोडती है. चारो की आँखो से आनन्दाश्रु प्रवाहित हो रहे है चन्द्रा कुछ देर आत्मविभोर रहती है फिर चन्द्रगुप्त से कहती है)

चन्द्रा—चन्द्र, तुम अब उस शिविर मे जाओ। वह अकेली .

चन्द्रगुप्त—मैं वहाँ जा नही सकता चन्द्रे। नही, नही..

चन्द्रा—भावना मे मत बहो चन्द्र। जो जिसे प्राप्य है, उसे प्राप्त होना चाहिये। तुम उस यवन-कन्या को वह सबकुछ दो, जो सिहासन दे सकता है। उसे सिहासन चाहिये, वह इसी के लिए भेजी गई है। वह उसी से सन्तुष्ट होगी। मुझे जो मिलना था, माँ ने मुझे दे दिया है। मुझे उसीसे सन्तोष है। वह विदेशिनी बालिका है, ऐसा न समझे कि हमारे देश के लोग कोई अशिष्टता भी कर सकते हैं। यह हमारी परम्परा भी नही है। तुम अब हमारे देश के सारे धर्मो और कर्तव्यो के प्रतीक हो। प्रणय या परिणय उसमे स्खलन क्यो आने दे? जाओ, शिविर मे जाओ . .

माँ—धन्य बेटी धन्य। आर्य-ललना के अनुकूल ही तुम्हारी वाणी है।

श्वेतकेतु—भूल पर फूल खिले, फूल मे फल लगे। जय हो। जय हो।

(चन्द्रा मुस्कुरा पडती है माँ पुलकित हो उठती है. चन्द्र भी मुस्कुरा पडता है)

चौथा अंक

स्थान : नीलगिरि की तलहटी में एक कुटिया
समय : संध्या

भारत माता के पद-भाग में स्थित नीलगिरि-पर्वत की तलहटी में बनी घास-फूस की इस कुटिया में, कुश की सायरी बिछा कर, उस पर अर्द्ध ध्यान-मग्न मुद्रा में वह कौन बैठा है?

शरीर पर केवल श्वेत वस्त्र! श्वेत वस्त्र से ही आच्छादित घास-फूस की एक तकिया उसके पृष्ठ भाग में है।

भारत-सम्राट्, महान विजेता चन्द्रगुप्त—यहाँ इस वेश मे इस मुद्रा मे? कोई पहचाने तो कैसे?

बात क्या है?

सम्राट् की विजय की आकांक्षा परितृप्त हो चुकी है। भारत में एक चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की उनकी गुरु की कल्पना भी साकार हो चुकी है।

विजेता की आत्मा व्याकुलता में एक नये सन्देश की पुकार सुन पाती है। वह सन्देश, पाटलिपुत्र के पड़ोस में ही स्थित, वैशाली से निसृत हुआ है और सारे भारत को छा रहा है!

वह सन्देश है अहिंसा का। ज्ञाति-पुत्र भगवान महावीर ने पहले-पहल यह सन्देश संसार को दिया था।

जीवन भर हिंसा में ही जो लीन रही, वह आत्मा ऊब कर, इस सन्देश की ओर आकृष्ट हो, तो आश्चर्य क्या?

कि इसी समय भारत के कई भागो मे घोर अकाल पडता है। सम्राट् चन्द्रगुप्त सोचते है, इस अकाल का उत्तरदायित्व किसपर ? और उसका क्या प्रायश्चित्त ?

एक निर्णय . गम्भीर निर्णय। जैन-धर्म के विधान के अनुसार साठ दिनो तक निर्जल निराहार व्रत रख कर वह प्राण त्याग देगे।

यह शुभ यज्ञ कहाँ हो ? उत्तर भारत मे उत्पन्न यह सम्राट् अपनी अन्तिम समाधि के लिए दक्षिण भारत को चुनता है।

यहाँ, इस नीलिगिरि की तलहटी मे, इस कुटिया मे, वह अपने से ही रचाई मृत्यु-शैया पर आ बैठे है।

चन्द्रा आती है। उनके चरणो मे झुक कर बोलती है—

चन्द्रा—सम्राट्, सम्राट्। यह क्या निर्णय कर लिया आपने ? इस निर्णय को छोडिये, सम्राट्। छोडिये इस निर्णय को और चलिये, चलिये, पाटलिपुत्र। मै पैरो पडती हूँ सम्राट्। (वह पैरो से लिपट जाती है)

चन्द्रगुप्त—मै भी किसी के पैरो पर ही पडा हूँ, सम्राज्ञी। गुरुदेव ने उस दिन देश-माता की एक कल्पना-मूर्ति मेरे सामने रखी थी। जीवन-भर उसकी आराधना करता हुआ अब अन्त मे उसके चरणो पर आ गिरा हूँ। यह नीलगिरि, इसके बाद ही तो माता का वह पद-नख—कन्याकुमारी है। हहर-हहर कर महासागर की उत्ताल तरगे उस पद-नख को धो रही है। मै उन लहरो की ध्वनि यहाँ से ही सुन रहा हूँ। आप क्या नही सुन रही है, सम्राज्ञी ?

चन्द्रा—मै कुछ नही सुनती सम्राट् और न सुनना चाहती हूँ। मै आपके श्रीमुख से केवल एक ही वाणी सुनना चाहती हूँ—इस निर्णय के छोडने की घोषणा कीजिये।

चन्द्रगुप्त—सम्राज्ञी, आप क्या बोल रही है ? चन्द्रा यह बोल सकती थी, किन्तु भारत की सम्राज्ञी की यह वाणी। जिस सम्राट् के निर्णय बदलने लगे, वह भी कोई सम्राट् होगा, सम्राज्ञी ?

चन्द्रा—सम्राज्ञी कह कर मुझ पर व्यग्य मत कीजिये, सम्राट्। मै सदा आपकी दासी रही और हूँ। मैने सिहासन की कामना कभी नही की। गुरुदेव ने तो यह सिहासन उस यवन-कन्या को अर्पित किया था . . .

चन्द्रगुप्त—वह यवन-कन्या। सोचता हूँ, यदि आज वह यवन-कन्या यहाँ होती, तो देखती, सिहासन का क्या मूल्य है इस विचित्र देश मे।

चन्द्रा—आह! मैंने उस दिन व्यंग में कहा था, उनसे बढ़ कर सौभाग्यशालिनी नारी इस वसुधाम पर कौन होगी? सचमुच वह परम सौभाग्यशालिनी सिद्ध हुई और परम अभागिनी सिद्ध होने जा रही है यह दीना-हीना चन्द्रा! यदि आपको यही करना था, तो मुझे वहीं छोड़ दिये होते, सम्राट्, जहाँ मैं खड़ी थी! (ऊपर ओर देखती हुई) माताजी, माताजी, आप भी चल बसी माताजी! देखिये, माताजी, आपकी चन्द्रा आज फिर वहीं खड़ी होने जा रही है जहाँ से आपकी कृपा की बाहों ने उसे उठाया और सिंहासन पर बिठाया था। आज तुम कहाँ हो माँ! माँ! माँ! (हाथों से चेहरा ढँक कर फूट-फूट कर रोने लगती है)

चन्द्रगुप्त—सम्राज्ञी! यह कातरता की वाणी नहीं! इस शय्या के निकट कातरता की कोई वाणी नहीं निकलनी चाहिये! इस शय्या की एक पवित्रता है! आपको इस पवित्रता की रक्षा करनी चाहिये! भगवान अर्हत के विधान में कोई व्यवधान क्या उचित है?

चन्द्रा—आह रे यह विधान! भारत का सम्राट् आज इस कुटिया में पड़ा ....

चन्द्रगुप्त—हाँ, इस कुटिया में पड़ा भारत का सम्राट् मृत्यु का आह्वान कर रहा है! कैसा दिव्य विधान है यह। जो कल तक पृथ्वी की विजय के लिए व्याकुल था, उसी व्याकुलता से, आतुरता से वह मृत्यु पर विजय करने को आगे बढ़ा है! सम्राज्ञी, आप नहीं देख रही है, कि यह कितनी बड़ी बात होने जा रही है? आप शायद देख नहीं पाती, हाँ, हममें केवल श्वेत ही यह देख सकता है—उसी की दृष्टि उतनी निर्मल है! श्वेत कहाँ है सम्राज्ञी?

चन्द्रा—सम्राट्! आपके इस निर्णय ने क्या किसी की बुद्धि को, चेतना को ठिकाने रहने दिया है! जिन्हें सूचना मिली है, सब पूछते हैं, क्या हुआ? सम्राट् ने ऐसा निर्णय क्यों किया? कहाँ, किससे, क्या त्रुटि हुई? सभी कारण ढूंढ रहे हैं, पूछ रहे हैं!

(श्वेतकेतु का प्रवेश)

श्वेतकेतु—मैं न ढूंढ रहा था पूछ रहा, सम्राज्ञी! मैं तो जानता था, यही होकर रहेगा! गुरुदेव ने जो पथ पकड़ा और हमने [illegible], उसकी परिणति यही होनी थी। उन्हें एक नेता चाहिये था, जिसे [illegible] चाहिये था। सम्राट् उन्हें मिल गये। उन्होंने उनसे [illegible] कराये जो वह चाहते थे। सम्राट् क्षमा करें, यह तो क्या एक [illegible]

से अभिभूत नही थे ? उन्होने भी सब मानन्द किया ! माताजी रोक सकती थी, तो वह खोये वैभव को पुन सस्थापित देखने के लिए अधी बन गई थी। जीवन एकाकी बनकर बहता रहा, बहता रहा। कबतक वह इस तरह बहता रह सकता था सम्राज्ञी ?

चन्द्रा—श्वेतजी, श्वेतजी, आप क्या बोल रहे है यह ? सम्राट् को समझाइये श्वेतजी !

श्वेतकेतु—कौन किसको समझा सकता है ! जो जीवन-भर नही कर सका, क्या अन्त मे वह मै कर लूँगा ? मेरी वाणी तो सदा विद्रोह मे उठती रही है, सम्राज्ञी, किन्तु किसी ने उस पर ध्यान दिया ? मुझे तो कवि मान लिया गया है न ? यह विचित्र प्राणी है सम्राज्ञी ! इसे सब लोग चाहते है, सब लोग प्यार देते है, इसकी वाणी सुनने को भी लोग उत्कठित रहते है। किन्तु न इसे, न इसकी वाणी को कोई गम्भीरता से लेता है। कभी कहा गया हो, कविर्म-नीषी परिभू स्वयभू—किन्तु जिस आस्पद से पहले भगवान को भी सम्बोधित किया जाता था, वह पुण्य-पवित्र आस्पद, आह, अपनी सारी गरिमा खो चुका ! (उसाँसे लेता है)

चन्द्रगुप्त—श्वेत ! श्वेत ! तुम ऐसे उदास मत हो मेरे कवि-मित्र ! तनिक ,इधर आओ ! (उसकी पीठ पर हाथ सहलाते हुए) हाँ, तुम्हारी वाणी पर किसी ने ध्यान नही दिया। किन्तु तुम्हे आन-न्दित होना चाहिये कि आज तुम्हारी ही वाणी चरितार्थ होने जा रही है, श्वेत !

श्वेतकेतु—आनन्दित होना चाहिये ! पाटलिपुत्र के सम्राट् आज इस नीलगिरि की तलहटी मे, घास-फूस से बनी इस कुटिया मे, कुश की सायरी बिछा कर, यह प्रतिज्ञा करके उसपर आ बैठे है कि साठ दिनो का निराहार-निर्जल व्रत रख कर प्राण त्याग कर दूँगा और उनका यह कवि-मित्र इसी पर आनन्द मनाये कि अन्तत उसकी वाणी सफल तो हुई ! कवि ! कवि ! तुम्हे क्या समझ रखा है लोगो ने ! न तुम्हे आदि मे समझते है, न अन्त मे .. आह !

चन्द्रगुप्त—ओह ! तुम भी मेरा पक्ष नही ले रहे हो, श्वेत ! तुम भी नही देख रहे हो ! तुम्हारी दृष्टि ता ...

श्वेतकेतु—मेरी दृष्टि भी आज कुठित हो रही है, यह स्वीकार करते हुए मै लज्जा का बोध कर रहा हूँ, किन्तु सत्य बात यही है सम्राट् ! आह ! आज माताजी होती ! (विह्वल हो जाता है, आँसू पोछने लगता है)

चन्द्रगुप्त—कैसा आश्चर्य! आज कवि भी मोहित हो रहा है! यह क्या कर रहे हो, श्वेत? शरीर से यह मोह! और आदर्श से?

श्वेतकेतु—आदर्श या तो आपके गुरुदेव जानें, या आप जानें! मैं इसकी भूल-भुलैया में कभी नहीं पड़ा सम्राट् और न अब आज उसका कोई पाठ सुनना चाहता हूँ! मैं आज एक क्रूर सत्य देख रहा हूँ और जीवन-भर जिस सत्य की उपासना करता रहा, वही जब अपनी सारी विभीषिका के साथ सामने खड़ा है, मेरा रोम-रोम काँप रहा है! देखिये, यह देखिये! (अपने रोमांचित हाथ बढ़ाता है)

चन्द्रगुप्त—श्वेत! श्वेत!

चन्द्रा—सम्राट्, सम्राट्! अपना निर्णय बदलिये सम्राट्! (फिर चरणों से लिपट जाती है)

चन्द्रगुप्त—सम्राज्ञी! सम्राज्ञी!

चन्द्रा—क्या सम्राज्ञी बना कर आप मुझसे दंड भुगतवाना चाहते हैं? मुझसे कौन-सा अपराध हुआ है, सम्राट्!

चन्द्रगुप्त—ओह! तुम लोग नहीं मानोगे! तो सुनो, अपराध तुम से या किसी से नहीं हुआ है, अपराध सम्राट् ने किया है। और यह क्या अन्याय नहीं होगा कि अपराध प्रजा करे तो उसे दंड भुगतना पड़े किन्तु सम्राट् बेलाग छूट जाय! और हत्याकारी के लिए प्राण-दंड की ही व्यवस्था है सम्राज्ञी!

चन्द्रा—हत्याकारी! प्राणदंड!

चन्द्रगुप्त—हाँ, सम्राट् ने हत्या की है—हत्या ही क्यों, हत्यायें की हैं!

श्वेतकेतु—तो क्या युद्ध बिना हत्या के किया जा सकता है? और विजय के साथ ही क्या हत्यायें संलग्न नहीं हैं? यदि यही बात हो, तो सभी सम्राटों और सामन्तों को सूली पर लटकना पड़ेगा! तब मुझे भी दुःख नहीं होगा, यदि सभी सम्राटों और सामंतों के साथ एक हमारा सम्राट् भी सूली पर चढ़ाया जाय या चांडाल के हाथ से [illegible] की धार उतारा जाय! सम्राट्, सम्राट्—यह नियम आज ही घोषित किया जाय, सम्राट्! तब यह आपका कवि-मित्र सचमुच आनन्द से नाच उठेगा!

चन्द्रगुप्त—मैं युद्ध में की गई हत्याओं के सम्बन्ध में नहीं कह रहा हूँ, श्वेत, वे क्षम्य भी मान ली जावें किन्तु जो शासन अपनी निरीह प्रजा को तड़पा-तड़पा कर मारे, उसके लिए दंड का क्या कोई विधान नहीं होना चाहिये?

चन्द्रा—(साश्चर्य) प्रजा को तडपा-तडपा कर!

चन्द्रगुप्त—हाँ, प्रजा को तडपा-तडपा कर! सम्राज्ञी, क्या आपको यह भी ज्ञात नही कि आपके राज्य में कई वर्षों से अकाल पडा है, अन्न के अभाव से प्रजा में हाहाकार मचा है, प्रतिदिन कितने ही बच्चे, बूढे, जवान तडप-तडप कर प्राण दे रहे है। चारो ओर रुदन-रुदन है, क्रदन-क्रदन है! सम्राज्ञी प्रजा की माँ होती है। वह कैसी माँ समझी जायगी जो अपने तडपते-मरते बच्चो का रुदन-क्रदन तक सुन नही पाये!

चन्द्रा—सम्राट्, सम्राट्! जले पर नमक मत छिडकिये सम्राट्!

चन्द्रगुप्त—यह जले पर नमक नही छिडकना है, यह तो कर्तव्य की याद दिलाना है, सम्राज्ञी! आप माँ है, तनिक कल्पना तो कीजिये, यदि आपके बच्चे को इसी तरह तडप-तडप कर मरना पडे, तब आपको कैसा लगे? नही, अपराधी को दड मिलना ही चाहिये, चाहे वह साधारणजन हो या सम्राट्! और साधारणजन की अपेक्षा सम्राट् को कठिनतर दड चाहिये, कठिनतम, कठोरतम हो, तो और अच्छा!

चन्द्रा—क्या इससे भी कोई कठोरतम दंड हो सकता है? साठ दिनो तक निर्जल-निराहार .....आह!

चन्द्रगुप्त—(दृढतापूर्वक) निर्जल-निराहार! हाँ हाँ, निर्जल-निराहार! जब प्यास से गला सूखने लगेगा, भूख से अतडियाँ ऐठने लगेगी। जब शिरा-शिरा मे आग की लपटें दौडेगी। जब मस्तिष्क में साँय-साँय मचता रहेगा। कभी चेतना लुप्त होगी, कभी वह स्फुलिंग-सी वल उठेगी! कवि, क्या सोच रहे हो, कवि? क्यो उदास मुख खडे हो कवि? कल्पना करो कवि, जब विजेता मृत्यु से पग-पग पर क्षण-क्षण लडेगा। लडेगा, लडेगा और अन्त मे——

चन्द्रा—सम्राट्, सम्राट्! ओ हो. हो (व्याकुल होकर चरणों से लिपट जाती है) श्वेतजी, श्वेतजी, सम्राट् क्या कहे जा रहे है श्वेतजी! हायरे अभागी चन्द्रा, इनसे तो अच्छा था कि तू धूल पर ही खडी होती!

श्वेतकेतु—धूल! धूल! धन्य हो तुम धूल! फूलो की सेज पर सोने वाली सम्राज्ञी भी तुम्हे सर्वथा भूल नही पाती! भूले भी कैसे, जब सबको एक दिन तुम्ही में जा मिलना है! किन्तु कैसी छलना! जिस तरह हवा का एक हल्का झोका धूल को उडा देता है, सुख की झलक पाते ही दुखकी याद भी क्षण में विलीन हो जाती है! फिर याद मे रह जाती है, अट्टालिका ... .

चन्द्रा—शृंखलिका! शृंखलिका! चन्द्रा शृंखलिका पर कभी नहीं झूली कविवर! उसने तो किसी के चरणों पर आरम्भ में ही अपने को न्योछावर कर दिया था: वे चरण जहाँ रहें, वहीं चन्द्रा रहे—चाहे फूल पर या शूल पर! आह रे आदमी! पैरों के नीचे के शूल तो वह देख पाता है, किन्तु हृदय में चुभे शूल कौन देखे और परखे! इसलिए कि कवि की दृष्टि भी उसे नहीं देख पाती!

श्वेत—फूल! शूल! शूल! सचमुच हर नारी कवि होती है!

चन्द्रा—यह आपको क्या हुआ है कविवर! आप स्थिति की गंभीरता भी नहीं समझ पाते! यहाँ मेरे जीवन का, सम्राट् के जीवन का, राष्ट्र के जीवन का फैसला होने जा रहा है—और आप ऐसे बोले जा रहे हैं जैसे कोई दार्शनिक श्मशान में प्रवचन करने जा रहा हो! ओह! (व्याकुल होती है)

श्वेत—श्मशान में प्रवचन...नहीं चन्द्रे, नहीं! वहाँ प्रवचन मेरा नहीं, गुरुदेव का होगा सम्राज्ञी! वह शायद उस प्रवचन की ही तैयारी में हैं! वह आते ही होंगे—प्रवचन उनसे सुन लीजियेगा, मैं चला। सम्राट् मुझे आज्ञा दीजिये—मैं यह सब देख-सुन नहीं सकता' (चलने का उपक्रम करता है)

चन्द्रगुप्त—ठहरो श्वेत। तुम्हें साक्षी रहना है। प्रारम्भ से ही मेरे कर्मों के साक्षी रहे हो, अन्त में क्या मुझे दूसरा साक्षी ढूँढना पड़ेगा? और किसी दूसरे की छाती में यह दम है कि इस निष्ठुर बलिदान का साक्ष्य कर सके!

(चाणक्य का प्रवेश: चन्द्रा दौड़ कर उनके चरणों में गिर जाती है: श्वेतकेतु श्रद्धाभाव से खड़े-खड़े सिर नवाता है: चन्द्रगुप्त अपने आसन पर खड़े हो जाते हैं—)

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव क्षमा करें, इस आसन से...

चाणक्य—सम्राट् को नहीं हटना है! यह उनका निश्चय है! सम्राट् का निश्चय या निर्णय कैसे टले? यदि सम्राट् का निर्णय अटल नहीं हो तो फिर इस चंचल जगत में अटलता की टेक कैसे टिके! कविवर, आप भी तो इससे सहमत होंगे'

श्वेतकेतु—मुझसे नहीं सम्राट् से सहमति लीजिये गुरुदेव! अब अन्त समय में मेरी सहमति?

चाणक्य—अन्त समय! समय की कोई आदि है जो अन्त होगा (चन्द्रगुप्त से) सम्राट् बैठिये बैठिये' सब ज्ञात हुआ है, धन्य हैं सम्राट्। एक नया धर्म चला है जिसमें निर्वाण-निर्वेद

है। यह निषेध, वह निषेध! जिसमे युद्ध निषेध है, विजय निषेध है! जिसमे हिसा निषेध है, हत्या निषेध है। सब निषेध है, विधेय है केवल आत्महत्या! वैशाली! तू क्या-क्या देती रही है?—जहाँ का हर नागरिक अपने को राजा समझता रहा है, वहाँ से जब जो न पैदा हो जाय!

चन्द्रगुप्त—(किंचित आवेश मे) गुरुदेव! आत्महत्या नही, आत्मबलिदान! अब तक लोग मारना सिखाते रहे या सीखते रहे, वैशाली ने मरना सिखाया है। मरना भी कैसा—पलपल, क्षणक्षण घुलघुल कर, गलगल कर! और गुरुदेव क्या वह भूभाग धन्य नही, जहाँ प्रजा और राजा का भेदभाव नही। जहाँ का हर नागरिक अपने को राजा और हर बच्चा अपने को राजकुमार समझता है! जहाँ राजसिंहासन योग्यता खोजता है, कुलगोत्र नही!

चाणक्य—सम्राट्! इस आसन पर बैठने के बाद क्रोध की झलक भी नही आनी चाहिये! किन्तु एक निवेदन सम्राट्, इसी पथ पर बढना था, तो वैशाली से क्यो, अपनी कपिलवस्तु से ही आपको प्रेरणा मिल सकती थी!

चन्द्रगुप्त—यदि हम वैशाली या कपिलवस्तु के—भगवान् महावीर या तथागत के—सन्देश सुने होते, उनपर ध्यान दिये होते, तो आज ससार कुछ दूसरा ही होता, गुरुदेव! हमने, ससार ने, उनके अहिसा धर्म का, शान्ति धर्म का सन्देश नही सुना, फल हमारी आँखो के सामने है। हमने शास्त्रो के आधार पर, शस्त्रो के बल पर चक्रवर्ती साम्राज्य की तो स्थापना कर ली, किन्तु उस चक्रवर्ती राज्य की प्रजा को भूखो मरने से नही बचा सके! आपकी चक्रवर्तित्व की कल्पना पर यह कैसा क्रूर व्यग देवता ने किया है गुरुदेव!

चाणक्य—क्या कोई किसी को मरने से बचा सकता है सम्राट्! मानव अपना कर्तव्यमात्र कर सकता है। क्या हमने कर्तव्य-पालन मे कोई त्रुटि की है? हमने सारे देश को एक सुशासन मे सम्बद्ध किया है, उसकी श्रीवृद्धि के लिए वे प्रयत्न किये है, जो सोचे भी नही जा सकते थे। आज सारा देश एक है। एक छोर से दूसरे छोर को जोडने वाले राजपथो का हमने निर्माण किया है। उन पथो को निरापद बनाया है—उनपर निरस्त्र यात्राये की जा रही है। लूट-पाट, छीना-झपटी का कही नाम नही है। कौन ऐसा राज्य है, जिसके नागरिक अपने घरो मे बिना ताला लगाये, निश्चिन्त, उन्हे छोड सकते है, बाहर जा सकते है तोभी एक तिनका इधर-उधर न हो! हमने

विजय, स्वर्ग पर विजय! हाँ, विजेता सदा विजेता है! (शून्य की ओर एकटक देखने लगता है)

चन्द्रगुप्त—गुरुदेव! गुरुदेव! (झुक कर चरण छूता है)

चाणक्य—किन्तु, बेटे, एक निवेदन है! तुम्हारे इस निर्णय की सूचना बाहर नही जानी चाहिये, नही तो देश मे तुरत ही अराजकता फैल जा सकती है। और आज्ञा दो, हम पाटलिपुत्र जाकर शीघ्र कुमार का अभिषेक करे।

चन्द्रगुप्त—जो इच्छा हो गुरुदेव!

चाणक्य—सम्राज्ञी, चलिये, कुमार को हम पाटलिपुत्र ले चले।

चन्द्रा—गुरुदेव, गुरुदेव! मै इन चरणो को छोड कर जा नही सकती, जा नही सकती, गुरुदेव! (चरणो से चिपक जाती है)

चाणक्य—चन्द्रे! विह्वल मत बनो! इसमे सबसे बडी असफलता मेरी है! आज मुझसे दुखी इस ससार मे कोई नही है। यह निर्मम, क्रूर ब्राह्मण एक ही व्यक्ति को प्रेम दे सका था, एक ही व्यक्ति के लिए इसने अपने हृदय मे कोमल स्थान बनाया था। वह स्थान रिक्त हो रहा है। वहाँ हाहाकार ही हाहाकार है! छाती मे दरारे पड रही है, वह फटना चाहती है! आह! जिसे टीले पर पाया, जिसे स्वर्ण-सिहासन पर बिठलाया, उसे आज अपनी ही आँखो धूल मे मिलने को छोडे जा रहा हूँ! यह क्या होने जा रहा है? (भाव-विह्वल होकर) चाणक्य! चाणक्य! तुम्हारी नीति की यही परिणति थी! तुम्हारी सारी दौडधूप, सारे सघर्ष-विमर्श का यही फल होना था! ओह! (आँसू पोछता है) किन्तु, नही, नही। सम्राज्ञी, भावना एक अलग वस्तु है और राजधर्म दूसरी वस्तु। दोनो पृथक है, दोनो एक दूसरे के विपरीत है! हम राजधर्म छोड देगे, तो सारा किया-कराया समाप्त हो जायगा—ऋषियो की कल्पना धूल मे मिल जायगी! राजा आता है, राजा जाता है! राज्य को स्थायी होना चाहिये! सिहासन को कभी सूना नही रहना है। हमें तुरत ही कुमार का अभिषेक कर देना है! मै चलता हूँ, शिविर में पाटलिपुत्र चलने के लिए कूच की घोषणा कराता हूँ! शीघ्र आइये! (द्रुतगति से जाता है)

चन्द्रा—श्वेतजी, श्वेतजी, अब आप ही बचाइये श्वेतजी!

श्वेतकेतु—सम्राज्ञी, व्याकुल मत बनिये! गुरुदेव कह गये है न, कोई किसी को बचा नही सकता!

चन्द्रा—गुरुदेव की बात मत कीजिये, उन्ही के चलते यह सब हुआ है! हाय!

श्वेतकेतु—क्या उन्होने यह स्वयं स्वीकार नही किया है! सत्य एक दिन ऊपर आता है और वह उसी के मुँह से बोलता है, जो सदा उसका शत्रु रहा! सत्य का यही जादू है! गुरुदेव को स्वीकार करना पडा, उनकी नीति असफल रही। किन्तु यह उन्ही का मस्तिष्क है, जो आज भी अपने कर्तव्य को नही भूल सका! गुरुदेव, सचमुच अलौकिक पुरुष है! सम्राज्ञी, उनकी आज्ञा का अनुगमन होना चाहिये, आप विह्वल न हो! इस कवि की वाणी एक ही जगह पूर्णत. सार्थक हुई है—आपसे वह फूल खिला, जो आज पाटलिपुत्र के राज्यसिंहासन को सुशोभित करने जा रहा है। अभी वह अर्द्धस्फुटित ही है, जाइये उसे पूर्ण स्फुटित कराइये!

चन्द्रा—कवि, कवि! तुम भी आज इतने निष्ठुर बन रहे हो कवि!

श्वेतकेतु—निष्ठुर! कवि निष्ठुर नही हो सकता! किन्तु प्रकृति की पुकार की अवहेलना कौन कर सकता है? जो वाटिका वसंत में फूल-भरी, रंग-भरी, सुगंध भरी होती है, वही शिशिर में कैसी उजाड बन जाती है, झखाड बन जाती है। फूल झड गये, पत्ते झड गये, रंग उड गये, सुगंध उड गई। किन्तु ये ही फूल, यही पत्ते वहाँ गिर कर खाद बनाते है, जिसे पाकर पौधो मे फिर प्राण आते है—फिर कोपले फूटती है, पत्तियाँ निकलती है, कलियाँ लगती है, फूल खिल हे। फिर वाटिका हरी-भरी—फूल भरी, रंगभरी, सुगंधभरी बन जाती है! जो झड रहे है, झड़ने दीजिये, सम्राज्ञी! जाइये, नई पौध को, नये फूल को देखिये! सबका अपना-अपना कर्तव्य है। सम्राट् अपना कर्तव्य कर रहे है, आप अपना कर्तव्य कीजिये . . . .

चन्द्रगुप्त—हाँ, चन्द्रे! कवि सत्य कह रहा है और इस आसन से जैसे एक और सत्य का मूर्त आभास मुझे मिल रहा है—मुझे लग रहा है, तुमने जो इस वंश को फूल दिया है, उसी से कभी एक फूल और निकलेगा, जो सब फूलो से विलक्षण होगा, अपूर्व होगा! उसका रंग पृथक् होगा, सुगंध पृथक् होगी! पाटलिपुत्र के सिंहासन को सुशोभित करनेवाला वह फूल राज्य का, शासन का, विजय का—सबका एक नया आदर्श देगा, एक नई व्याख्या देगा! जाओ, चन्द्रे,

जाओ—तुम उस फूल का सिंचन-परिवर्द्धन करो, मैं धूल मे मिल कर भी उसकी शुभकामना करता रहूँगा।

चन्द्रा—मैं तुम्हे छोड नही सकती चन्द्र! (लिपट जाती है)

चन्द्रगुप्त—(उसकी पीठ सहलाते) जाओ, जाओ, पगली! श्वेत, तुम भी जा सकते हो भाई!

श्वेतकेतु—मैं, जाऊँ! तो इस अलौकिक विजय का साक्ष्य कौन करेगा? अभी कह चुके हो न—भूल गये? नही, नही! जीवन-भर तुम्हारी पृथ्वी-विजय का साक्षी रहा, क्या स्वर्ग-विजय के साक्ष्य से मुझे वचित करना चाहते हो—कर भी सकोगे—मेरे विजेता, मेरे सखा, मेरे चन्द्र! (वह उससे लिपट जाता है)

[पटाक्षेप]

———

हम इनके कृतज्ञ हैं !

इस ग्रंथावली के प्रकाशन की योजना के मूल मे यह आशा रही कि हर भाग के प्रकाशन के पूर्व हमे कम-से-कम सौ ऐसे सज्जन मिल जायेंगे जो सौ-सौ रुपये देकर पूरी ग्रथावली के स्थायी ग्राहक बन जायेंगे। दूसरे भाग के प्रकाशन के पूर्व इन सज्जनो ने स्थायी ग्राहक बनकर हमारे लिए पथ प्रशस्त किया : हम इनके कृतज्ञ है—

बम्बई

१—श्री बाबूलालजी माखडिया,
२—श्री सेठ ताराचन्द्र गुप्ता
३—श्री किशोरी लालजी ढाढनिया
४—मत्री, मारवाडी हिन्दी पुस्तकालय
५—मत्री, सीताराम पोद्दार बालिका विद्यालय
६—श्री विश्वम्भरलालजी माहेश्वरी
७—श्री शिवकुमारजी भुआलका
८—श्री सेठ गगाधरजी माखडिया
९—श्री नाथूराम रामनारायण लिमिटेड
१०—श्री रामकृष्ण जी बजाज
११—श्री सुशील कुमारजी रूइया
१२—श्री पुरुषोत्तम जी रूँगटा
१३— " " "
१४—प्रिन्सपल मारवाडी कर्माशियल हाईस्कूल
१५—श्री भगवती प्रसाद महावीर प्रसाद
१६—श्री पुरुषोत्तमजी रूँगटा।
१७—श्री ब्रजमोहनजी नेमानी
१८—श्री दामोदर लालजी जयपुरिया
१९—श्री " " "
२०—श्री सी० जे० शाह
२१—श्री खेतारामजी चौधुरी
२२—श्री जौहरीमल देवीप्रसाद
२३—मत्री, वृजमोहन लक्ष्मीनारायण रूइया हिन्दी हाई स्कूल
२४—श्रीमती ललिता माखड़िया
२५—श्री कोठारी जी
२६—श्री देवी प्रसाद खडेलवाल
२७—श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी महिला कालेज

२८—श्री श्यामलाल खेमका
२९—श्रीमती तेजनारायन खेतान

गुजरात

१—श्री गोवर्धन भाईजी पटेल, कैरा

पूना

१—मंत्री, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा

पटना

१—श्री अनुग्रह नारायण सिंहजी, वित्त-मंत्री, बिहार सरकार
२—श्री महेश प्रसाद सिंह, उद्योग मंत्री, बिहार सरकार
३—श्री दीप नारायण सिंह, सहयोग मंत्री, बिहार सरकार
४—श्री कृष्णवल्लभ सहाय, राजस्व मंत्री, बिहार सरकार
५—श्री वीरचन्द्र पटेल, उपमंत्री, बिहार सरकार
६—डाइरेक्टर, जन-सम्पर्क-विभाग, बिहार सरकार
७—श्री डी० पी० शर्मा, रिटायर्ड आई० सी० एस०
८—चेयरमैन, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, पटना
९—श्री रामदयाल जोशी, वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन
१०—श्री सीताराम सिंहजी, नेशनल फार्मेसी
११—श्री राम नारायण अरोड़ा पटना सीटी
१२—श्री राम विनोद सिंह, एम० एल० ए०
१३—श्री किशोरी गुप्ता पुस्तक भवन
१४—प्रधानाध्यापक, मिडल स्कूल, अमरपुरा
१५— " " " बेडना
१६— " " " मर्दानीपुर
१७— " " " हेमाडीह
१८— " " " रूपसपुर
१९— " आर० एन० मिडल स्कूल, सम्पतचक
२०—श्री बलदेव सहाय जी, ऐडवोकेट
२१—श्री महावीर प्रसाद ऐडवोकेट जनरल

नई दिल्ली

१—श्री भगत रामजी
२—श्री रामनारायन सिंह एम० पी०
३—श्री के० पी० श्रीवास्तव, एम० पी०

कलकत्ता

१—श्री वेणी शकरजी शर्मा
२—श्री मातादीनजी खेतान
३—श्री प्रभुदयाल शिवचन्द्रराय दावडीवाला
४—श्री शिवभगवान गोयनका
५—श्री रामेश्वर प्रसाद पाटोदिया
६—श्री बी० पी० हिम्मतसिहका
७—श्री कृष्णानन्दजी जालान

आसनसोल

१—श्री नन्दलालजी जालान
२—श्री रमैयाजी

राजस्थान

१—मत्री, पब्लिक लाइब्रेरी, सरदार शहर

मध्यभारत

१—प्रबंधक, बनमौर सीमेन्ट वर्क्स, बनमौर

मानभूम

१—श्री यू० एन० झाजी, धनबाद
२—श्री ठाकुरदयाल सिह, कुडवाडीह

दरभंगा

१—चेयरमैन, म्युनिसिपैल्टिी, दरभगा
२—श्री के० डी० चूडीवाल, हसनपुर रोड
३—प्रिन्सपल, समस्तीपुर कालेज, समस्तीपुर

चम्पारण

१—मत्री, श्री कृष्ण पुस्तकालय, विलासपुर
२—श्री राधा पाण्डे, एम० एल० ए०, रक्सौल

सिहभूम

१—प्रवंधक, एशोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनी लिमिटेड, चाइवासा
२—श्री विश्वनाथजी मूंदडा, चाइवासा
३—मत्री, एम० एल० रूंगटा हाई स्कूल, चाइवासा
४—श्री हरलाल वर्जन राठौर, चाइवासा

शाहाबाद

१--प्रधानाध्यापक, हाई स्कूल, बौलिया
२— " क्वेरिज मिड्ल स्कूल, बौलिया
३—प्रधानाध्यापक, हाई स्कूल, नरहीचडी

भागलपुर

१—श्रीमती श्यामलाल खेमका, कहलगाँव

मुजफ्फरपुर

१—श्री महथ रघुनाथ दास, जानकीस्थान, सीतामढी
२--मत्री, रघुनाथ प्रसाद नोपानी हाई स्कूल, वाजपट्टी
३—मत्री शारदा सदन पुस्तकालय, लालगंज
४—श्रीदेवनन्दन प्रसाद सिंह, धनौर
५—श्रीमती रामज्योति कुअँरि, धनौर
६—श्री जगन्नाथ प्रसाद सिंह, धनौर

सारन

१—श्री विश्वनाथ मिश्र, वकील, छपरा
२—भारत सूगर मिल्स लिमिटेड, सिधवालिया,

नेपाल

१—श्री गुलाब नारायण झा, सलाहकार सभा, काठमाँडू
२—श्री भगवती प्रसाद सिंह, न्यायाधीश, काठमाँडू
३—श्री रामानन्द सिंह, कोइलाढी
४—जनरल कैसर शम्शेर, काठमाँडू
५—श्रीमती कैसर शम्शेर, काठमाँडू